श्रीराधा-सुधा

पूज्यपाद स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती
(श्री करपात्रीजी) महाराज

राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
रमणरेती, वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा) उ०प्र०

श्रीराधा-सुधा

रचयिता

धर्मसम्राट् अनन्तश्रीविभूषितयतिचक्रचूड़ामणि

पूज्यपाद स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती

(श्री करपात्रीजी) महाराज

प्रकाशक :

राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान

रमणरेती, वृन्दावन- २८११२१ (मथुरा) उ.प्र.

षष्ट्म संस्करण
सम्वत् २०६९
जून २०१२
मूल्य ९०/- रुपये

पुस्तक प्राप्तिस्थानम् :

१. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,
C/o मैसूर पैट्रो कैमिकल्स लिमिटेड,
११३, पार्क स्ट्रीट, सात तल्ला,
कोलकत्ता-७०००७१
दूरभाष-०३३-२२९४९११६

२. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,
काशी विश्वनाथ (व्यक्तिगत) मंदिर,
मीरघाट, वाराणसी-२२१००१ (उ० प्र०)
दूरभाष-०५४२-२४०१३४

३. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,
धर्मसंघ विद्यालय, रमण रेती,
वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा) (उ० प्र०)
दूरभाष-०५६५-२५४००२८, २५४०८६९

४. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,
C/o मैसूर पैट्रो कैमिकल्स लिमिटेड,
४०१/४०४, राहेजा सेन्टर,
२१४, नरीमन पोइण्ट,
बम्बई-४०००२१
दूरभाष-०२२-३०२८६१००

५. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,
C/o मैसूर पैट्रो कैमिकल्स लिमिटेड,
५०४, निर्मल टावर,
२६, बाराखम्बा रोड,
नई दिल्ली-११०००१
दूरभाष-०११-२३७२५६२७

मुद्रक :
आकाश प्रेस,
बी-१९/३, ओखला इन्डस्ट्रियल एरिया,
फेज-II, नई दिल्ली-११००२०

※ श्रीहरिः ※

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

अनुक्रमणिका

★

※ भूमिका

श्री जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीजी महाराज

※ दिग्दर्शन

स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वती जी

※ प्रकाशकीय

श्री हनुमान् प्रसाद धानुका जी

प्रथम–पुष्प

१. अनन्त सत्ता और आनन्द रूप राधा-माधव तत्त्व का प्रतिपादक कृष्ण नाम — १

२. रसराज शृङ्गार रस से समुद्भूत श्रीराधा–माधवचन्द्र — १३

द्वितीय–पुष्प

१. 'कृष्ण' अर्थात् अनन्त सत्ता और आनन्द-स्वरूप श्रीराधा-कृष्ण — १७

२. शरण्य का स्वरूप और शरणागति — २०

३. सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व के साथ ही सौलभ्यातिशयत्व के कारण श्रीजी की शरणागति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण — २४

४. श्रीराधाचरणकमलाश्रित रज में योगीन्द्र दुर्गमगति मधुसूदन के वशीकरण की अद्भुत अनन्त शक्ति — २८

५. वृन्दाविपिन, गोपाङ्गनाजन, श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीनिकुञ्ज मन्दिराधीश्वर-राधा–माधुरी का दार्शनिक रीति से अनुपम अवगाहन — २९

५. अवतार–विमर्श २१२
६. भजनीय–विमर्श २१५
७. वरणीय–विमर्श २१६
८. शरण्य–स्वरूप–विमर्श २२३
९. शरणागति–प्रपत्ति–स्वरूप २२५
१०. शरणागति का महत्त्व २३७
११. शरणागति की विविध विधा २४१

एकादश–पुष्प

१. भक्ति–रस–माधुरी २४७
२. प्रणय–प्रकर्ष २५१
३. स्वामिनी के मानापनोदन में असमर्थ मदनमोहन के प्रति करुणार्द्र सखियाँ और उनकी अद्भुत सूक्तियाँ २६०
४. राधा–रस–माधुरी और रसिक शेखर की चातुरी २६८

द्वादश–पुष्प

१. युगल चन्द्र को प्यासी चकोरी सखियाँ २७४
२. युगल छवि-मुक्ता को रसिक हंसी सखियाँ २७५
३. श्यामाश्याम के हित में अवहित सखियाँ २७५
४. रतिरूप श्यामाश्याम की रतिमती नवेली सहेली 'सखियाँ' २७५
५. नित्य निकुञ्ज में प्रवाहित विरह-संयोग तट-स्पर्शिनी प्रेममन्दाकिनी २७७
६. रसामृत मूर्ति माधव के सर्वस्व ह्लादिनीसार सर्वस्व श्यामा २८१
७. भावरस की परिपक्वता से रसात्मकता २८२

परब्रह्मस्वरूप धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज

※ श्रीसर्वेश्वरो विजयते ※

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य अखिल भारतीय श्री निम्बार्काचार्य पीठ श्रीनिम्बार्क तीर्थ (सलेमावाद) राजस्थान का

मंगलाशंसनम्

अनादि वैदिक सनातन धर्म के प्रचार प्रसार द्वारा लोक-कल्याण करने के लिये परात्पर परब्रह्म श्रीसर्वेश्वर प्रभु समय-समय पर अपने दिव्य पार्षदों में से किसी न किसी को भूतल पर अवतरित करते रहते हैं, उन्हीं भगवत् पार्षदों में ब्रह्मलीन स्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज एक थे; यह निश्चित समझना चाहिये। आपने अपने जीवन में जो कुछ सनातन धर्म की सेवा द्वारा जनता को मार्गदर्शन कराकर बहुत से भगवद्विमुखों को श्रीसर्वेश्वर प्रभु के चरणकमलों की ओर अग्रसर किया, यह आपका असाधारण कार्य था।

यद्यपि वे सब प्रकार से निर्भीक होने के कारण कभी-कभी बड़े-बड़े राजनैतिक नेताओं, सुधार वादियों को भी फटकार देते थे, तथापि उनके हृदय में किसी भी प्रकार के ईर्ष्या-विद्वेष का भाव नहीं था। क्योंकि वैराग्य परिपूर्ण होने से उनमें अन्य का अवकाश ही नहीं था।

परम वैराग्य की उसी दशा में श्रीवृन्दावन धाम में पहुँचकर आपने मिरजापुर वाली धर्मशाला में श्रीमद्भागवत रास पंचाध्यायी पर प्रवचन करना आरम्भ कर दिया। यद्यपि उस समय वृन्दावन की जनसंख्या आज की अपेक्षा बहुत थोड़ी थी, मिरजापुर वाली धर्मशाला एकान्तस्थ थी फिर भी श्रोताओं की दिन प्रतिदिन भीड़ उमड़ने लगी। आप की प्रवचन की शैली इतनी सुन्दर थी कि श्रोता सुनकर मुग्ध हो जाते थे। आपकी कीर्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई, कल्याण आदि कई एक धार्मिक पत्रों में आपके लेख भी मुद्रित होने लगे। शास्त्रों का आलोकन तो आपका निरन्तर चलता ही रहा।

अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ में आपका सर्वप्रथम आगमन विक्रम सम्वत् १९९८ में हुआ था। उस समय हमें वैष्णवी दीक्षा प्राप्त हो गई थी, किन्तु

था बारह वर्ष की अवस्था वाला हमारा बाल्यकाल ही। उस समय आप पैदल यात्रा करते थे, लगभग आठ-नौ कोश चलकर सायंकाल आप आचार्यपीठ पहुँचे थे पैरों में छाले पड़ गये थे, कपड़े की पट्टियाँ बाँध रक्खी थी। व्यावर से चलकर आपको किसी समारोह में नवलगढ़ पहुँचना था। एक सलेमाबाद का ही ब्राह्मण चिरंजीलाल सारस्वत जो व्यावर में स्कूल का अध्यापक था, वही आपके साथ था, बाहर कुण्ड पर बने हुए कमरे में आपने रात्रि को विश्राम किया। भगवत्-प्रसादी दुग्ध मन्दिर से भिजवाया गया था उसका पान करके विश्राम किया।

प्रातःकाल होते ही चल दिये। स्वामीजी के दर्शनों का हमारा वह प्रथम अवसर था। उसके पश्चात् तो धर्म संघ, रामराज्य परिषद् आदि कई एक संस्थाओं की स्वामीजी ने स्थापना करदी। कई एक ग्रन्थ भी लिखे। यज्ञ भी करवाये। उनमें दिल्ली में जो यज्ञ सम्पन्न हुआ था वह बहुत विशाल था।

वि० सम्वत् २०२२ से हमारा और स्वामी श्रीकरपात्री जी का १७ वर्ष तक प्रायः लगातार यज्ञ आदि विभिन्न सम्मेलन समारोहों में सम्मिलन होता रहा। आकोला के यज्ञ में तो छः सात दिनों तक, एक मंच पर प्रवचन चलते रहे। फिर व्यावर, हैदराबाद, श्रीगंगानगर, जमसेदपुर (टाटानगर) जोधपुर प्रभृति विभिन्न-विभिन्न स्थलों में धर्मसंघ के सम्मेलनों में वैदिक सनातन धर्म एवं गोरक्षा सम्मेलनों के प्रसंगों पर हमारा और उनका विमर्श होता रहता था।

श्रीगंगानगर राजस्थान के यज्ञ के अवसर पर तो हमारा और उनका एक ही स्थल पर आवास-निवास रहा। आश्विन मास की पूर्णिमा (शरद पूर्णिमा) को पूर्वाह्न में आपने सर्वेश्वर प्रभु के दर्शन किये; रात्रि की क्षीर प्रसाद लेकर और दिन में श्रीसर्वेश्वर (शालिगराम) मूर्ति के दर्शन कर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। अपने उपास्य ठाकुरजी के भोग लगा हुआ नैवेद्य आपने भेजा। यह परस्पर प्रसादी के आदान-प्रदान का अपूर्व सौहार्द्र वहाँ अभिव्यक्त हुआ था। श्रीगंगानगर में आपका जब रासपंचाध्यायी पर प्रवचन होता था तब आप जनताकी ओर से दृष्टि हटाकर प्रायः हमारी तरफ ही विशेष दृष्टि रखते थे, किसी विशेष श्रोता द्वारा एतद्विषयक जिज्ञासा करने पर आपने समाधान रूप में कहा था कि, "जो भी कुछ बोला जाता है, यह तो आपकी रसमर्मज्ञता एवं तद्विषयक अनुभूति का परिणाम है।"

निकुञ्जलीला प्रविष्ट मधुर रसोपासना मर्मज्ञ बाबा श्रीप्रियाशरण जी के स्मृति महोत्सव में जब मिलना हुआ तब आपने हमसे अभिव्यक्त किया था कि —"बाबा श्रीप्रियाशरण जी के मुख से हमने महावाणी की कई एक बार कथा सुनी थी और अपूर्व आनन्द प्राप्त किया था। श्रीव्रजलाल वौहरे की रासमंडली द्वारा सम्पन्न महावाणी का अष्टयाम प्रदर्शन देखकर हमने अभूतपूर्व आनन्द लाभ

किया था। बाबा श्रीमाधुरीदास जी द्वारा होरी लीला के प्रदर्शन से भी अपूर्व रसास्वादन प्राप्त हुआ था।"

आज से लगभग बारह वर्ष पूर्व सन् १९७४ में हरिद्वार कुम्भ महापर्व पर, "श्रीनिम्बार्क पाक्षिक पत्र के विशेषांक श्रीसर्वेश्वरांक के विमोचन समारोह में श्रीस्वामी करपात्रीजी का श्रीसर्वेश्वर (शालिग्राम) महिमा विषयक अनुपम प्रवचन हुआ था, वह श्रीसर्वेश्वर मासिक पत्र में प्रकाशित किया गया है। उस प्रवचन का कैसेट भी सुरक्षित है। सन् १९७५ में श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ सलेमाबाद में सनातन धर्म महा सम्मेलन हुआ हुआ था। आपके द्वारा उस सम्मेलन में जो रासपञ्चाध्यायी पर प्रवचन होता था, वह अत्यन्त विलक्षण था उसके भी कैसेट भरे गये जो आज भी सुरक्षित रक्खे हुए हैं। समय-समय पर जब भी स्वामीजी की स्मृति होती है, कैसेट सुने जाते हैं श्रोताओं को बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। वह सनातनधर्म सम्मेलन की स्मारिका में भी प्रकाशित कर दिया गया है। विभिन्न सम्मेलनों में आपके जो प्रवचन होते थे, वे बड़े महत्त्वपूर्ण होते थे।

जब श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ में वेद विद्यालय की स्थापना हुई तब उस पर भी आपने विशेष संकेत देकर मार्मिक परामर्श दिया था। सनातन धर्म सम्मेलन सम्पन्न हो जाने पर जब आप आचार्य पीठ से प्रस्थान करने लगे अश्रुपूरित नेत्र और उस समय की आप की गद्गद् गिरा एक अनिर्वचनीय सौहार्द्र की भावना व्यक्त कर रही थी। वह आपका अभूतपूर्व सौजन्य कभी विस्मृत नहीं हो सकेगा। सम्मेलन की भी आपने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। वास्तव में श्रीशंकराचार्यजी महाराज गोवर्धन पीठ पुरी और आप (स्वामी श्रीकरपात्री जी) का यह सम्मेलन विशेष आत्मीय था।

अभी जोधपुर में थोड़े दिन बाद ही धर्मसंघ का सम्मेलन हुआ था। उस अवसर पर हमारी सामान्य कृति "श्रीस्तव रत्नाञ्जलि" ग्रन्थ को देखकर आपने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, यद्यपि उनकी कृतियों की अपेक्षा यह हमारा प्रयास एक बाल चापल्य जैसा ही था, किन्तु आत्मीयता के कारण हमारी इस कृति पर आपका चित्त बड़ा प्रसन्न हुआ था।

झाँसी में गोरक्षार्थ अनशन करने वाले श्रीकुञ्जविहारी जी मन्दिर आंतिया ताल के महन्तजी द्वारा आयोजित विष्णु महायज्ञ के अवसर पर एक सप्ताह पर्य्यन्त हमारी और स्वामी श्रीकरपात्री जी की आवासीय सन्निकटता रही, प्रतिदिन देश और धर्म, गोरक्षण आदि परिस्थितियों पर विचार-विमर्श होता था। वही आपके वैदिक धर्म, शिक्षा और पितृभक्ति आदि विषयों पर जो प्रवचन हुए थे बड़े मार्मिक और मननीय थे, केसेटों में भरवा लिये गये थे, आज भी वे आचार्य पीठ में सुरक्षित हैं।

श्रीस्वामी जी ने जो श्रीराधासुधानिधि पर जो प्रवचन किया था उसका 'प्रथम पुष्प' की पाण्डुलिपि हमारे हाथों इस समय विद्यमान हैं। आलोचक व्यक्ति ब्रह्म की साकारता सगुणता पर एवं निराकारता निर्गुणता पर विभिन्न प्रकारों से अहापोह करते रहते हैं। कुछ सज्जन इन दोनों वादों को लेकर व्यर्थ की कटुता भी परस्पर में उत्पन्न कर बैठते हैं। श्रीस्वामी जी ने वैसे तो अनेकों अपनी लिखी हुई पुस्तकों में तथा प्रवचनों में निर्गुण-सगुण सविशेष निर्विशेष वादों का बड़ी मधुरता के साथ समन्वय किया है, हम यहाँ इसी पुष्प का एक सन्दर्भ उद्धृत करके पाठकों को दिग्दर्शन करा देते हैं।

वास्तव में कोई भी वैदिक सनातन धर्मी अनेकेश्वरवादी नहीं हैं। सभी सर्वाधार सर्वनियन्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् एक ही ईश्वर मानने वाले हैं। वही श्रीसर्वेश्वर प्रभु हैं, वही परमब्रह्म परमात्मा हैं। यद्यपि अद्वैतवाद धर्म धर्मी में केवल भेद नहीं स्वीकार करता, जहाँ तक हो सकता है उन दोनों (धर्म-धर्मी) को एक ही मानकर चलना चाहता है। तथापि अद्वैतवाद के परम-प्रचारक भगवान् श्रीशंकराचार्य संकेत करते हैं भेदाभेद का और उनका कथन है कि—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रोनतारंगः ॥

यह उन्हीं आद्य श्रीशंकराचार्यकृत षट्पदी की एक आर्या है। भाव यह यह है कि हे नाथ आप से मेरा भेद कदाचित् अपगम भी हो जाय तब भी हे नाथ मैं ही आपका कहलाऊँगा, आप मेरे नहीं, कारण प्रत्यक्ष देखा जाता है तरंग समुद्र की ही कहलाती है तरंगों का समुद्र कोई नहीं कहता।

इसी को तादात्म्य कहा जाता है और तादात्म्य को कुछ आलोचक अभेद मानते हैं,किन्तु शब्द शास्त्रमें निष्णात महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिके शब्दों में वह भेदसहिष्णु अभेद कहा गया है। वास्तव में कहने एवं प्रतिपादन करने की सरणियाँ विभिन्न-विभिन्न होती हैं, सभी महानुभावों के कथन का तात्पर्य एक ही मिलेगा। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने इसी तादात्म्य को भेदाभेद भिन्नाभिन्न, द्वैताद्वैत आदि शब्दों में व्यक्त किया है यही बात अद्वैत वेदान्त के समर्थक आचार्यों ने कही है भेद है किन्तु उसका अपगम हो सकता है।

श्रीस्वामी करपात्रीजी ने परमार्थसार आदि में तो इस आशय का सुन्दर स्पष्टीकरण किया ही है, श्रीराधासुधानिधि प्रवचन माला के प्रथम पुष्प में आपने तैत्तिरीय उपनिषद् के एक वचन "रसो वै स" को उद्धृत करके कहा है—रस वही है, कौन है वह, यहाँ 'सः' पुल्लिग है, कृष्णः वह है श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण ही रस है, शृङ्गार रस है। वह रस क्या होता है? भाव। भाव क्या है। स्थायी उपहित। इस तरह स्थायी उपहित चैतन्य को रस कहते हैं। स्थायी क्या है? अभीष्ट तत्तद-

र्थाकाराकारित अन्तःकरण की द्रवीभूतवृत्तिः। स्थायी उपहित चैतन्य स्वप्रकाश है। स्थायी उपहित स्वप्रकाश चैतन्य ही रस है। अपरिगणित प्राणी हैं, अपरिगणित अन्तःकरण हैं। अपरिगणित अन्तःकरणों में अपरिगणित भगवदाकाराकारित वृत्तियाँ हैं, उन सब में स्थायी भावरूप चैतन्य श्रीकृष्ण हैं।

कितनी कैसी सुन्दरता के साथ भगवान् श्रीकृष्ण का एकत्व अनेकत्व, परिच्छिन्नत्व, बिभुत्व, सब कुछ श्रीस्वामी जी ने वर्णन कर दिया है। पाठकों की अभिरूचि बढ़ाने के हेतु इस सम्बन्ध का एक श्लोक भी आपने उद्धृत करके भाव को दृढ़ बना दिया है—

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानाम्,
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनाम्,
श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥१॥

गोपाङ्गनाओं का प्रेम पुञ्जीभूत हो गया। वह प्रेम क्या था ? भाव। उपहित चैतन्य रूपभाव। गोपाङ्गनाओं का जो भाव था वही पुञ्जीभूत होकर (एकत्रित होकर) श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के रूप में प्रकट हुआ। इसी तरह मानो यदुओं का भाग्य ही मूर्तिरूप हो गया। वेद-वेदान्तों का जो गुप्त वित्त वही एकीभूत हो गया। श्रीकृष्णचन्द्र के रूप में वेदान्तवेद्य ब्रह्म है। कठोपनिषद् में जिसे अशब्दमस्पंश" बताया था वही श्यामरूप हो गया और वह ऐसा रूप हुआ कि वाह वाह।

जिन नयनन में यह रूप वस्यो
उन नयनन ते अब देखिये का।

वस्तुतः उस चमत्कृति पूर्ण रूप को देख लेने पर फिर संसार में देखने योग्य रहा ही क्या ?

बस। यह तो हमने यहाँ एक संक्षिप्त-सा उदाहरण प्रकट कर दिया है। आपके प्रवचनों में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं जिनका अनुशीलन करने वाला व्यक्ति भगवद्भक्ति में प्रेम विभोर हो जाता है; अतः हमारा तो सभी साधकों से यही अनुरोध है कि श्रीस्वामी जी के प्रवचनों का जितना होसके अधिक-से-अधिक अनुशीलन कर मानव जीवन को सार्थक बनावें। भक्तों का भी कर्त्तव्य है कि श्रीस्वामी जी के लिखे सभी साहित्य को प्रकाशित करवा देने की चेष्टा करें। यही श्रीस्वामी जी के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि एवं भक्तिभावना कही जा सकती है।

हम तो चाहते थे कि इन प्रवचनों की विस्तृत भूमिका लिखें, किन्तु वह नहीं हो सका। श्रीधानुका जी आदि भक्तजन इसी प्रकार श्रीस्वामी जी के साहित्य को प्रकाशित करते रहेंगे तो फिर कभी अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करने का श्रीसर्वेश्वर प्रभु अवसर प्रदान करेंगे।

श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्य

॥ श्रीहरिः ॥

दिग्दर्शन

(सम्पादकीय)

श्रीस्वामी निश्चलानन्दजी सरस्वती

१. उत्थानिका

'श्रीराधासुधानिधि' रासस्वरूप रासेश्वर और रासेश्वरी अनादि दम्पती श्रीराधा-कृष्ण की निभृत-निकुञ्ज-लीला की 'हित सखी के' के माध्यम से रसात्मक अभिव्यञ्जना है। हिततत्त्व के आलोक में इस उज्ज्वल अभिव्यक्ति का सानुराग अवलोकन और अहर्निश अनुशीलन रसिकों का जीवन है। निगम कल्पतरु-गलित-फल श्रीमद्भागवत श्रीराधा-भाव-भावित श्रीमत्परमहंस-मुख-विनिःसृत है। इसमें श्रीकृष्ण का उत्कर्ष परिलक्षित होना स्वाभाविक है। इधर योगीन्द्र दुर्गमगति मधुसूदन की दृष्टि से श्रीराधा-तत्त्व का प्रतिपादन 'श्रीराधासुधानिधि' में है; फलतः श्रीराधा का चरम उत्कर्ष स्थापन उपयुक्त ही है।

वस्तुतः **'तस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधव रूपकम्'** (सम्मोहन तन्त्र, गोपाल सहस्रनाम १९) की दृष्टि से विचार करने पर दोनों ही रसतम स्वप्रकाश वेदान्तवेद्य परम तत्त्व की अनादि स्फूर्ति-अभिव्यक्ति हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर उत्कर्षापकर्ष को लेकर प्राप्त मनस्ताप निरस्त हो जाता है। अद्भुत अगाध आनन्द की अभिव्यक्ति अनवरत होती रहती है।

२. ग्रन्थ परिचय

'श्रीराधा-सुधा' इस (प्रस्तुत) ग्रन्थ के प्रवक्ता हैं सर्वभूत हृदय धर्म-सम्राट् पूज्यपाद श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज ! प्रवचन माला के **'प्रथम-पुष्प'** में उन्होंने यह बतलाया है कि 'कृष्ण' नाम अनन्त सत्ता और अनन्त आनन्द का प्रतिपादक है। रसस्वरूप परब्रह्म तत्त्व का सर्वोत्कृष्ट विलास है 'रस'। उसका परमसार है, श्रीराधा-तत्त्व। पूर्णानुराग-रससार-सरोवर-समुद्भूत सरोजस्थ मकरन्दरूपा हैं श्रीराधा।

प्रवचन माला के **'द्वितीय-पुष्प'** में यह बतलाया गया है कि द्रवता विशिष्ट तत्तद्वस्तु से भावित अन्तःकरण का नाम है 'भाव'। श्रीकृष्ण के आकार से आकारित द्रवीभूत जो अन्तःकरण, उसी को भाव कहते हैं। भाव अर्थात् प्रेम। भावों का समुदाय 'श्रीकृष्ण' हैं—**'भावानां प्रेमानां पुञ्जीभूतं तत्त्वं श्रीकृष्णः'।** सत्ता माने भावों का निर्यास (गोंद) प्रेमों का लब्बोलबाव। श्रीरूप गोस्वामी आदिकों ने ऐसा माना है कि भक्तों के द्रवीभूत अन्तःकरण में ह्लादिनी-शक्ति का जो आविर्भाव होता है; वही भक्ति है, श्री है, राधा है। हम कहा करते हैं कि आनन्द-सुधा-सिन्धु श्रीकृष्ण में तरङ्गरूपा नहीं, माधुर्यसार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी हैं। ह्लादिनी-सार-सर्वस्व श्रीजी 'शरण्य' हैं। सर्वेश्वर श्रीकृष्ण स्वामिनी के स्मारक हरिणियों को भी अनुग्रह भरी दृष्टि से निहार कर निहाल करते हैं। कृष्णसारमृग-पत्नियों के नेत्र-दर्शन से हरिणाक्षी श्रीजी का स्मरण कर, श्रीकृष्ण स्वयं को कृतार्थ मानते हैं।

राधा-विहार-विपिन श्रीमद् वृन्दावनधाम पूर्णानुराग-रससार-समुद्भूत एक सरोज है। उस सरोज में जो पीले-पीले केसर हैं, वे राधारानी की सखी गौराङ्गी गोपाङ्गनाएँ हैं। उन केसरों में जो पराग है, वह श्रीकृष्णचन्द्र हैं। पराग में जो मकरन्द है, वही श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी हैं। श्रीकृष्णचन्द्र के अनन्त माधुर्य का प्राकट्य श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी जो कि उनकी आत्मा हैं, उन्हीं पर होता है।

प्रवचन-माला के **'तृतीय-पुष्प'** में यह सिद्ध किया गया है कि (१) कौतुकवशात् वसनाञ्चलखेलनसे, (२) सखीकृत 'निलयन-लीला' (आँख मिचौनी) के समय छिपी हुई श्रीजी द्वारा उष्मा दूर करने के लिये वसनाञ्चल खेलन से, (३) श्रीजी के दिव्य अङ्ग से निर्गत सौगन्ध्य से आकृष्ट भ्रमर को हटाने के लिये वसनाञ्चल खेलन से, (४) श्रीराधारानी के शृङ्गार के लिये पुष्प-सञ्चय करते समय श्रीश्यामसुन्दर के मुखचन्द्र पर आये हुए पसीना को देखकर करुणार्द्र होकर वसनाञ्चल चालन से—उत्थ पवन से श्रीराधारानी के मङ्गलमय श्रीअङ्ग का दिव्य सौगन्ध्य श्रीमदनमोहन श्यामसुन्दर को प्राप्त होता है, जिससे वे स्वयं को कृतार्थ मानते हैं।

श्रीभगवान् भ्रमर-तुल्य रसिक तो हैं, पर मीन-तुल्य अनन्य नहीं। सर्वेश्वर प्रभु की अन्यत्र यही स्थिति है। अनन्यता जो अन्यत्र सिद्ध नहीं वह भी यहाँ के नित्य-निकुञ्ज-मन्दिर में चरितार्थ हो जाती है। तभी तो कहा है—**'राधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते'** (राधासुधा० २३५), 'श्रीप्रिया जी को एकमात्र जानते हुए मधुपति (श्रीलाल जी) निरन्तर कुञ्ज वीथी की उपासना करते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण वेदान्तियोंके तुरीयतत्त्व तुल्य ईश्वरताकी तिलाञ्जलि देकर विराजते हैं। श्यामसुन्दर प्रेमास्पद के अधीन रहने में सुख मानते हैं।

आसज्य (प्रीतिपात्र) के अधीन रहकर, उसके सुख में तन्मय होकर, अन्तःकरण-अन्तरात्मा का बिलकुल उसमें निवेश कर देने में सुख मानते हैं। अपनी इस भावना की सिद्धि के लिये वे प्रेम देवता का आश्रय लेते हैं। श्रीललिता जी श्री-मदनमोहन का अनुनय सुनकर उन्हें अनुगृहीत करने के लिये श्रीराधारानी के मङ्गलमय चरणारविन्द से रज उठाकर श्रीकृष्ण पर छोड़कर उन्हें ईश्वरता से मुक्ति दिलातीं हैं। तब से श्रीश्यामसुन्दर अहर्निश सर्व विस्मरण पूर्वक श्रीराधा-रानी के ही मङ्गलमय चरणारविन्द के चिन्तन में निमग्न रहते हैं।

प्रवचन-माला के **'चतुर्थ-पुष्प'** में यह प्रतिपादन किया गया है कि श्यामसुन्दर-मदनमोहन-व्रजेन्द्रनन्दन योगीन्द्र दुर्गमगति हैं। मधुसूदन की गति-परमगति-विलास रीति-अनन्य रसिकता दुर्गम-दुर्लभ-दुरूह है। इन्द्रादि योगीन्द्र भोगीन्द्र हैं। उनमें स्वसुखसुखित्व की प्रधानता है। यहाँ स्वसुखसुखित्व का स्पर्श ही नहीं है। यहाँ तो तत्सुखसुखित्व की पराकाष्ठा है; फिर भला योगीन्द्रो के लिये भोगपुरन्दर भगवान् 'दुर्गम गति' क्यों न हों! संयोगात्मक-विप्रयोगात्मक द्विदलात्मक है शृङ्गार रस। उस रस के आचार्य ललितादि यूथेश्वरीवृन्द योगीन्द्र हैं। कभी-कभी तृषित 'प्रिय' प्रियाजी के मान को भङ्गकर मिलने का कोई ऐसा अद्‌भुत उपाय रचते हैं, जिसे जानकर ललितादि भी चकित रह जाती हैं।

सत्ता-आनन्दरूप श्रीवृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण दोनों एक ही हैं। एक ही सदानन्द भगवान् गौरतेज,श्यामतेज रूप राधा-माधव उभय रूप में प्रकट हुए हैं। श्रीराधा-कृष्ण दोनों-दोनों के भाव-स्वरूप और दोनों-दोनों के रसस्वरूप हैं। दोनों की अखण्ड जोड़ी है। प्रातीतिक वियोग होता है दोनों में, वास्तविक नहीं। प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-कृष्ण के विशुद्ध प्रेम में चकवा-चकवी के विप्रलम्भ-जन्य तीव्रताप से अनन्तकोटि-गुणित ताप है और सारस पत्नी लक्ष्मणा को प्राप्त संश्लेषजन्य आनन्द से अनन्तकोटि गुणित आनन्द है। ऐसी स्थिति में द्वैत है, अद्वैत है, स्वाभाविक द्वैताद्वैत है या औपाधिक भेदाभेद है या अचिन्त्य भेदाभेद है क्या है? कुछ कहने में नहीं आता। सजल नीलजलद-तुल्य श्रीकृष्णचन्द्र परमा-नन्दकन्द तो आनन्दरस-अनुरागरसवर्षी है, प्रेमानन्द-परमरसवर्षी हैं, कोई अद्‌भुत सुधामय जलद हैं। मिथिलावाले कितनी सरस उपमा देते हैं—

सरसों की कली सोया ज्योति महान हे।
तीसी के फूल दुलहा रंग सुहान हे॥

'पञ्चम पुष्प' में इस तथ्य का प्रकाश किया गया है कि श्रीराधा-कृष्ण अनादिकाल से परस्पर एक-दूसरे के श्रीअङ्ग के माधुर्यामृत, सौगन्ध्यामृत, लाव-ण्यामृत का आस्वादन करते आ रहे हैं तो भी अतृप्त रहते हैं। नित्य सम्मेलन में परम दुर्लभता का अनुभव करते हैं।

श्रीमधुसूदन जिनकी महिमा, जिनका विलास अपरम्पार है, जिनकी गति

शिव, सनकादिकों के लिये भी दुर्लभ है, दुर्विवेचनीय है, ऐसे अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण श्रीकृष्ण भी जिस पवन के स्पर्शमात्र से अपने आपको पूर्ण कृतार्थ मानते हैं, इससे बढ़कर के वधू के परवश हो जाने का दूसरा उदाहरण ओर क्या हो सकता है ?

जिस प्रकार भक्त को अपने भगवान् की स्मृति आनन्द देती है, उसी प्रकार श्रीहरि को अपनी प्रियतमा श्रीजी की स्मृति आनन्दित करती है, इसी से वे स्वयं को कृतार्थ मानते हैं। उसी को लाभकारी मानते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीराधारानी की जो प्रीति है, वह प्रपञ्च से बिलकुल विलग है। विषय और विषयी का यहाँ प्रवेश ही नहीं। यहाँ के रसिक श्रीजी के पादारविन्द के विन्यास से समलङ्कृत वृन्दाटवी में निवास कर राधा-कृष्ण-भाव रस में निज मति को भावित रखते हैं, स्वयं इसी से विभोर रहते हैं।

'षष्ठ-पुष्प' में यह प्रतिपादित हुआ है कि प्रिया-प्रियतम प्रेमात्मक हैं, प्रकाशात्मक हैं। सारा जगत् उन्हीं का विलास है। इनके स्पर्श से अखण्ड रसात्मकता और प्रकाशात्मकता का आविर्भाव होता है। प्रेम रङ्ग में रंगे हुए प्रेमी के लिये सम्पूर्ण संसार ही प्रेमास्पद प्रियतम हो जाता है। श्याम रंग में रंगा हुआ चित्त आनन्दसिन्धु का अभिव्यञ्जक और भवभीति का विध्वंसक होता है। जैसे अग्नि में स्वर्ण तपाया जाता है तो उसकी कीमत, स्वच्छता, निर्मलता व्यक्त होती है; वैसे ही प्रेमी जितना-जितना अपमानित होता है, उतना-उतना ही उसका प्रेम निखरता जाता है। लोग वृन्दा के सतीत्व अपहरण की कथा को बड़ी वीभत्स कहते हैं। हम कहते हैं कि इस कथा से बढ़कर और कोई कथा है ही नहीं; यहाँ विशुद्ध अनुराग की बात है। यहाँ मान-अपमान की चिन्ता नहीं। यहाँ प्रभु स्वयं प्रेम करने वाले प्रेमाश्रय बनते हैं।

'सप्तम-पुष्प' में यह बताया गया है कि श्रीकृष्णचन्द्र का जो 'नाम' है, परम मङ्गल है, नाम को अभिधान और नामी को अभिधेय कहते हैं। संसार में जितना भी नाम है, वह अभिधानात्मक प्रपञ्चजननाकूल शक्त्यवच्छिन्न संविदानन्द का विवर्त है। जितना भी अर्थ है, वह अभिधेय प्रपञ्च जननाकूल शक्त्यवच्छिन्न सदानन्द का विवर्त है। अविद्यादि मलिन शक्तियों के योग से नाम-रूप-विवर्त में पारमार्थिक तत्त्व आवृत रहता है; परन्तु विद्या या लीला आदि दिव्य-शक्तियों के योग से प्रकट भगवान् के नाम-रूप में निरावरण भगवान् का स्पष्ट रूप से भान होता है। इसलिये भावना का महत्त्व है। भगवान् के उपासक उनकी भावनामयी उपासना करते हैं। श्रीराधा-कृष्ण के दिव्य भूषण-वसन-अलङ्कारों का ध्यान करते हैं। भावयोग से उन्हें भगवत्साक्षात्कार होता है। कहा भी है—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे चैव दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

स्वयं श्यामसुन्दर मनोरथ करते हैं कि श्रीराधारानी की आराधना में कैसे अलङ्कार हो, कैसी चुंदरी हो, कैसा सिन्दूर हो ? क्या ही अद्‌भुत है यह आराधना ? यहाँ के रसिकवृन्द भी स्वयं को विहारस्थली और सम्पूर्ण सामग्री बनाकर प्रिया-प्रियतम के अनुपम विहार का चिन्तन करते हैं, उसी में निमग्न रहते हैं।

प्रेम की स्थिति प्राणिमात्र में अणु परिमाण में, पार्षदादि में मध्यम परिमाण में गोपाङ्गनाओं में महत्परिमाण में है। श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी में वही प्रेम परम महत्परिमाण परिमित है। पूर्णतम माधुर्य का प्रकाश यहीं है। कुब्जा में रहने वाली **'साधारणी रति'** स्यमन्तकमणि के तुल्य दुर्लभ है। द्वारकास्थ पट्टमहिषियों में रहने वाली **'समञ्जसा रति'** चिन्तामणि के तुल्य अति दुर्लभ है। गोपाङ्गनाओं में रहनेवाली **'समर्था रति'** कौस्तुभमणि के तुल्य परम दुर्लभ-अनन्य-लभ्य है। उनकी रति में निष्कामता की पराकाष्ठा है।

'अष्टम-पुष्प' के अनुसार गाय ने हुँकार किया, बछड़े ने बुलाया—हम्भारव किया, चट बोल पड़े। गोपाङ्गण-कर्दम-क्रीड़ा के आगे पार्थ-सारथि लीला फीकी पड़ जाती है। यहाँ प्रेम की रसमयी लीलाओं में गुञ्जाओं के समक्ष कौस्तुभमणि का कोई सम्मान या महत्त्व नहीं। यहाँ लक्ष्मीपतित्व और रुक्मिणी-पतित्व भी पुंश्चलीपतित्व या गोपीजनवल्लभता के सामने मन्थर पड़ जाता है।

भगवान् की दो प्रकार की शक्तियां हैं—एक ऐश्वर्याधिष्ठात्री शक्ति और दूसरी माधुर्याधिष्ठात्री। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति के योग से भगवान् सर्व-शक्तिमान् सर्वेश्वर हैं, असाम्यातिशय हैं। व्रज, वन और निकुञ्ज में तो माधुर्या-धिष्ठात्री शक्ति रहती है। ऐसा होने पर भी सिद्धान्त यह है कि माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्ति के साम्राज्य में ऐश्वर्याधिष्ठात्री शक्ति भी रहती है। नहीं रहती ऐसा नहीं; पर सेविका बनकर रहती है। व्रजवासियों के भाग्य की सराहना करते ब्रह्मादि देवशिरोमणि भी अघाते नहीं। जिनके मणिमय और कर्दममय प्राङ्गण में अचिन्त्य-अनन्त-परमानन्द सुधासिन्धु मूर्तिमान् होकर—धूलि धूसरित होकर 'थेई-थेई' करके खेल रहा है, उनके भाग्य का क्या कहना ?

'नवम-पुष्प' में बताया गया है कि प्रभु निखिल रसात्मकसिन्धु हैं। वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार हमारी इन्द्रिय, हमारा मन भौतिक है। ऐसी स्थिति में अभौतिक - रसात्मक- प्रभु का ग्रहण इनसे सम्भव नहीं। ग्राह्य-ग्राहक भाव साजात्य में होता है। नेत्र से ही रूप का ग्रहण क्यों होता है ? इसलिये कि नेत्र और रूप दोनों ही तैजस हैं। मन में रसात्मकता रसस्वरूप भगवान् के चिन्तन से आती है। नियम है कि पारद में जिस वस्तु का निघर्षण करो, वह वस्तु अपना रूप छोड़कर रसात्मक बन जाती है। **भगवान् के प्रति दिव्यातिदिव्य व्यसनावस्था भावुक जीवन की सुखमय दशा है।** भगवान् की परम अन्तरङ्गा सखियाँ लौकिक

हीरा, सोना का कुण्डल धारण नहीं करतीं, अपने प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र को ही नीलकमल का कुण्डल बना करके कानों में धारण करती हैं। उच्चकोटि की रसिक सखियाँ जड़ करिखा का अञ्जन आँखों में नहीं लगाती। वे तो प्राणनाथ के मङ्गलमय पादारविन्द का जो श्यामल पराग है उसी को अञ्जन बना करके धारण करती हैं। वे उरोजों में श्रीश्यामसुन्दर को ही महेन्द्रमणि की माला बनाकर धारण करती हैं। **'श्रीकृष्ण कौन हैं?' चन्द्र! 'कहाँ के चन्द्र?' श्रीराधारानी में जो श्रीकृष्ण विषयक सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध-उद्वेलित (विकसित और उच्छलित) उभयविध शृङ्गाररस महासमुद्र है, उसी से जो आविर्भूत निर्मल-निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र वे ही श्रीकृष्णचन्द्र हैं। इसी तरह राधारानी भी चन्द्र हैं। कहाँ के? श्रीकृष्णचन्द्र में जो राधारानी विषयक संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध शृङ्गाररस महासमुद्र, उसी से प्रादुर्भूत जो निर्मल-निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र है, वही हैं श्रीराधाचन्द्र।**

श्रीराधाकृष्ण क्या हैं? 'उभय-उभय भावात्मा उभय-उभय रसात्मा।', अर्थात् दोनों-दोनों भावस्वरूप और दोनों-दोनों के रसस्वरूप हैं। ऐसीस्थिति में पूर्ण प्रिया-प्रियतम, धाम और रसिकवृन्द का परस्पर आकर्षण लीलासिद्ध आत्मविस्मृति मूलक या हित सखी निमित्तक ही है।

'दशम-पुष्प' में इस रहस्य का चित्रण हुआ है कि **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** (ऋक्० १. १६४. ८०) के अनुसार भगवान् भी सुपर्ण, जीवात्मा भी सुपर्ण, दोनों में सुपर्ण होने के कारण साजात्य सम्बन्ध है। दोनों सजातीय हैं। दोनों में साजात्य ही नहीं, सख्य सम्बन्ध भी है। भगवान् तुम्हारे सजातीय और भगवान् तुम्हारे सखा। जीवात्मा अल्पज्ञ-अल्पशक्तिमान् बालक सखा और भगवान् उसके सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् पालक सखा। इतना ही नहीं जहाँ हृदय में जीवात्मा, वहीं हृदय में परमात्मा। अन्तर्यामी भगवान् कभी भी जीव को छोड़ते नहीं। नरक में जीव जाता है, सभी सगे सम्बन्धी तो साथ छोड़ देते हैं, पर भगवान् वहाँ भी रहते हैं। सर्वव्यापी हैं न? इस तरह साजात्य, सख्य और सादेश्य सम्बन्ध तीन सम्बन्ध हुए। चौथा सायुज्य सम्बन्ध है। चार सम्बन्ध हो गये—साजात्य सम्बन्ध एक, सख्य सम्बन्ध दो, सादेश्य सम्बन्ध तीन और सायुज्य सम्बन्ध चार। बोलो चार-चार सम्बन्धों के रहते हुए भी निराशा? निराश मत होओ, निराशा पिशाची को निकालो। 'प्रभु मिलेंगे' आशा कल्पलता को अंकुरित करो। प्रभु के नाम पर आस्था करो। नाम-सङ्कीर्तन से सब पाप-तापों को जला डालो। चार-चार सम्बन्ध के रहते, भगवान् मिले मिलाये हैं। यह जो गड़बड़ी है, चटपटी पैदा करने के लिये है। **प्रीति अत्यन्त सुलभ में नहीं होती, अत्यन्त दुर्लभ में भी नहीं होती। दौर्लभ्य सौलभ्य की सन्धि में होती है। केवल सुलभ में उपेक्षा हो जाती है, केवल दुर्लभ में असम्भावना हो जाती है।**

शरणागति का बहुत महत्त्व है। शरण का अर्थ है 'आश्रय' एवं 'रक्षक'

—'**शरणं गृहरक्षित्रोः**'। केवल 'प्रपत्ति' शब्द भी शरणागति का बोधक होता है, परन्तु जहाँ शरण शब्द भी सन्निहित हो वहाँ 'प्रपत्ति' का अर्थ ज्ञान होता है। '**शरणं प्रपद्ये**' (परमार्थ सार १), '**शरणं व्रज**' (भगवद्गीता १८. ६६) इत्यादि स्थलों में 'शरण रक्षक जानता हूँ', 'शरण रक्षक जानो', ऐसा अर्थ होता है। 'पद गतौ', 'व्रज गतौ'- 'पद', 'व्रज' आदि धातु ज्ञानार्थक हैं; जैसे रज्जुज्ञान से उसमें कल्पित सर्प एवं तज्जन्य भय मिट जाता है, उसी तरह (वैसे ही) ब्रह्मात्म तत्त्वज्ञान से उसमें कल्पित संसार एवं तज्जनित भय की निवृत्ति हो जाती है। अथवा शरण का अर्थ आश्रय है, जैसे घटाकाश का आश्रय महाकाश होता है, तरङ्ग का आश्रय समुद्र-जल होता है, वैसे उपाधि परिच्छिन्न चैतन्यरूप जीव का आश्रय अनवच्छिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म है। अतः '**शरणं प्रपद्ये**' का अर्थ है, सर्वाधिष्ठान स्वप्रकाश ब्रह्मरूप नित्य अपरोक्ष प्रभु को मैं अपना भयनिवर्तक रक्षक रूप से एवं आश्रय रूप से निश्चय करता हूँ। इसमें अधिकारी के भेद से शरणागति के षड्-विध और त्रिविध-भेदों का प्रतिपादन है।

'**एकादश-पुष्प**' में इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि सौन्दर्य-सर्वस्व वृषभानुनन्दिनी के रूप में प्रकट है और सौन्दर्य ज्ञान के रूप में श्रीकृष्ण। मूलतः दोनों एक हैं। साक्षात् मन्मथमन्मथ हैं श्रीकृष्ण और श्रीराधारानी उनकी भी मोहिनी हैं। किसी-किसी का मत है कि गोपियाँ परम स्वकीया हैं तथापि प्रकट लीला में रस-विशेष का अनुभव करने के लिये परकीया-सी हो रही हैं। निषेध-विशेष और परस्पर दुर्लभता अतिशय आसक्ति का कारण है। प्राकृत नायक के साथ परकीया सम्बन्धी लोकनिन्दित एवं धर्म-विरुद्ध है। भगवान् के साथ वह रस का हेतु है। भरतने निषेध, गुप्त-अभिलाष और दुर्लभता को मन्मथ का परम निवास स्थान माना है। रुद्र ने इसे पंचवाण का परमायुध कहा है। विष्णुगुप्त ने इन्हीं को नागर-हृदय का आकर्षण-केन्द्र माना है। प्रियतम की सन्निधि रहते समय भी प्रेम के स्वाभाविक उत्कर्ष से वियोग-स्फूर्ति होकर जो व्यथा होती है, उसे '**प्रेम-वैचित्त्य**' कहते हैं। स्मरण-दशा में श्याम-प्रीति विषय वेदनामयी है। विस्म-रण होने पर प्राण फटने लगते हैं। ऐसी स्थिति में, सखियो! 'प्रीति कोई भली वस्तु है, ऐसा कौन कहता है? मनुष्य हँसते-हँसते हृष्ट हो-होकर प्रीति करता है और रो-रोकर जीवन ढोता है। जो अपनी कुल-मर्यादा को बचाये रखकर प्रीति करती है, वह तो रो-बिलख कर भूसी की आग में जलती-मरती रहती है।

'**द्वादश-पुष्प**' में इस रहस्य को प्रकट किया गया है कि कभी-कभी प्रिय-तम की विलक्षण प्रेमगति देखकर प्रेयसी वृषभानुनन्दिनी वाम्यगति (वामता) का परित्याग करके दाक्षिण्यभाव को अङ्गीकार करती हैं; देह-स्थिति और पाद-विन्यास का भी उन्हें पता नहीं चलता। प्रेमाश्रु परिप्लुत नेत्रोंवाली आनन्द-मग्न इनकी वह दशा देखते ही बनती है। 'प्रियतम, प्राणनाथ' उनके मुखचन्द्र से निर्गत वह सुधासूक्ति सुनते ही बनती है। आँखों में आँसू, मुख में 'प्रियतम, प्राणनाथ'

अहा, कितनी अद्भुत दशा है श्री श्रीराधा स्वामिनी की ? यह रस ही ऐसा है। नित्य मिलन-दशा में भी जब उत्कट-पिपासा और अतृप्त-तृष्णा रहती है, तभी इस शुद्ध रस की अनुभूति होती है। जो वियोग दशा में प्राण परित्याग कर देता है वह प्रेमव्यथा का अनुभव नहीं कर पाता है। जो प्रिय वियोग की स्थिति में भी शरीर की रक्षा करके विरह-वेदना को सहन करता है, वह मानो अपने सिर पर विषम-अग्नि-ज्वाला का स्थापन करके भी जीवित है।

श्रीराधा-माधव युगल प्रेम-माधुर्य ही सखियों के प्रेम का आलम्बन है। उनका प्रेमभाव उज्ज्वलरस (श्रृङ्गाररस) से परिप्लुत (भरपूर) है; क्योंकि युगल की परस्पर-रति ही उसका स्वरूप है; यही कारण है कि सखीभाव से ही उसका आस्वादन होता है।

३. तात्पर्य-निर्णय

'श्रीराधा-सुधा-निधि' में २७० श्लोक हैं। विहङ्गम-गति-न्याय से प्रस्तुत प्रवचन-माला में ग्रन्थ की व्याख्या की गयी है। प्रवचन माला के द्वादश-पुष्प (बारहों पुष्प) षड्विध (छह प्रकार के) लिङ्गों के द्वारा श्रीराधातत्त्व में ग्रन्थ के परम-तात्पर्य्य को व्यक्त करने वाले हैं। तात्पर्य्य-निर्णय के षड्लिङ्ग इस प्रकार हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य निर्णये ॥

प्रवचन-माला का 'प्रथम-पुष्प' उपक्रम परक है और 'द्वादश (बारहवाँ) पुष्प' उपसंहार परक। यथा—

"अनन्त सत्ता और अनन्त आनन्द दोनों का जो ऐक्य है, वही है 'राधा-कृष्ण'। दोनों का अत्यन्त अभेद है। उस राधारानी का वर्णन श्रीहित हरिवंश महाप्रभु बड़े अनुराग से करते हैं—'यस्याः कदापि....' (रा० सु० १)।

"सच पूछो तो सखियों का अनुपम प्रेम ही राधा-माधव-युग्मतत्त्व के रूप से उनके मन और नयन को संतृप्त करता है। जहाँ तृष्णा ही तृप्ति हो और तृप्ति ही तृष्णा हो, विरह ही संयोग हो और संयोग ही विरह हो, जहाँ विरह-सयोग की एकता हो, जहाँ प्रेयसी प्रियतम हो और प्रियतम प्रेयसी हो, जहाँ श्यामाश्याम के हृदय-निकुञ्ज में श्यामाश्याम की केलि-कल्लोल हो, उसी वृन्दा-वन में ऐसा अद्भुत 'प्रेम-वैचित्र्य' है। 'अद्भुतानन्द....बुधाः' (रा० सु० २७०)।

द्वितीय-तृतीय-पुष्प में 'अभ्यास' का प्रतिपादन है। चतुर्थ और पञ्चम-पुष्प में अपूर्वता का निरूपण है। षष्ठ और सप्तम-पुष्प में फल का प्रतिपादन है।

अष्टम और नवम-पुष्प में अर्थवाद की प्रधानता से वस्तुस्थिति का चित्रण है। दशम और एकादश में उपपत्ति (युक्ति) की प्रधानता से वस्तुस्थिति का चित्रण है।

४. प्राशस्त्य बोधक विगान

'श्रीराधासुधानिधि' के सम्बन्ध में दो प्रकार की भावना है। श्रीगौडेश्वर-सम्प्रदाय के रसिक महानुभावों की धारणा यह है कि 'श्रीवृन्दावन महिमामृत' (शतक) कार श्रीमत्प्रबोधानन्द सरस्वती महाभाग की यह रचना है। इस सम्प्रदाय में यह कृति 'राधा-रस-सुधा' नाम से समादृत है। श्रीराधावल्लभीय इसे श्रीहित हरिवंश महाप्रभु विरचित मानते हैं। ध्यान रहे, ऐसे स्थलों में विगान-विगान में विनियुक्त न होकर कृति के प्राशस्त्य-बोधन में ही विनियुक्त होता है। कतिपय उदाहरण प्रसिद्ध हैं। 'माण्डूक्य कारिका' चारों प्रकरण श्रीशाङ्कर-सम्प्रदाय में श्रीगौडपादाचार्य की कृति मान्य है। मूल उपनिषद् के साथ श्रीभगवत्पाद शङ्कराचार्य का उस पर भाष्य है। श्रीआनन्दगिरि जी की भाष्य-व्याख्या है। श्रीभगवत्पाद शङ्कर के साक्षात् शिष्य श्रीसुरेश्वराचार्य कृत 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' के अवलोकन से भी कारिकाएँ श्रीगौडपादाचार्यकृत ही सिद्ध होती हैं। ऐसा होने पर भी आगम-प्रकरण की कारिकाएँ अन्यत्र मूल उपनिषत् के रूप में मान्य हैं या अन्यकृति के रूप में। इससे वस्तु के अद्भुत माहात्म्य का ही ख्यापन होता है। कवि कोकिल भक्त रसिक श्रीविद्यापति की कविताओं पर द्रवित बंगाली महानुभावों ने तो श्रीविद्यापति जी को 'मैथिल' न मानकर बंगाली बताना प्रारम्भ किया। यह बात दूसरी है कि श्रीरवीन्द्रनाथ जी के लेख में ही उनके मैथिल होने का उल्लेख होने पर उनकी बात दृढ़ नहीं हो पायी। इन स्थलों में सर्वत्र वस्तु के उपादेय होने की बात ही पुष्ट होती है।

वस्तुतः 'श्रीराधा-सुधा-निधि' जहाँ श्रीराधावल्लभ और श्रीगौडेश्वर सम्प्रदाय द्वारा अपनी-अपनी चीज मान्य है; वहाँ समस्त रसिकों के हृदय की अनुपम गुप्तनिधि है। इसका ज्वलन्त प्रमाण है, शाङ्कर-वेदान्त के परम मर्मज्ञ यति-चक्र चूड़ामणि सद्गुरुदेव स्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती जी **'श्रीकरपात्रीजी'** द्वारा इसे अपना हृदय सर्वस्व मानकर इस पर श्रीमद् वृन्दावनधाम में प्रस्तुत व्याख्यान माला।

सहृदय रसिक महानुभाव विद्वद्वर श्रीरसिकोत्तंस रचित 'प्रेम पत्तनम्' से सुपरिचित हैं। उन्होंने श्रीगौडेश्वर-सम्प्रदाय के आचार्य चरणों का निर्देश अद्भुत उल्लास के साथ किया है। यथा **"तथोक्तं श्रीमन्महाप्रभुपादैः —'नाहं विप्रः....'; "तथोक्तं श्रीविश्वनाथचक्रवर्तिमहाशयैः दानकेलिकौमुदीटीकायाम्'— 'दानकेलिकलौ....'; "तथोक्तं श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती पादैः—'कुरु सकलमधर्मं मुञ्च सर्वं च धर्मं'; "तथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचरणैः—'वनमाला भजमानैः....'।** इसी सन्दर्भ में श्रीमन्महाप्रभुपाद (श्रीचैतन्य) का नामोल्लेख करने के ठीक बाद

श्रीहरिवंश महाप्रभु का नामोल्लेख करते समय एक ही स्थल पर जिन दो श्लोकों को उन्होंने उद्धृत किया है, वे दोनों ही 'श्रीराधासुधानिधि' के हैं, यथा—"तथैवोक्तं श्रीगोस्वामि श्रीहरिवंश महानुभावैः—'कैशोराद्भुतमाधुरी....'" (राधासुधानिधि ८०), "तथोक्तं तैरेव'—'लिखन्ति भुजमूलयोः....'" (राधासुधानिधि ८१)।

'स्वोपज्ञप्रेमसर्वस्व' में इन श्लोकों की टीका लिखते समय वे स्वयं लिखते हैं—

'एतत्पद्यद्वयमेवंविधमन्यदपि पद्यवृन्दं तेषां महानुभावानां भावारुणरञ्जितविमल विशालाशयाकाशप्रकाशमानस्य प्रणयप्रभाकरस्य प्रभावनिरस्तमर्यादातमसां परमानुरागासवसम्भूतं पारवश्यं व्यञ्जयत्तस्या अवस्थायाः परमपुरुषार्थत्वम्, तदवस्थावस्थितानां वैरल्यं तथा सर्वधर्मान् परित्यज्येत्यत्र सर्वशब्दस्याप्यर्थं बोधयति।

श्रीविद्वद्वर रसिकोत्तंस की शैली में ही पूज्यपाद ने श्रीशङ्कर, श्रीरामानुज, श्रीनिम्बार्क, श्रीमध्व, श्रीवल्लभ, श्रीचैतन्य आदि आचार्यचरणों के मत का अद्भुत आस्था के साथ प्रसङ्गानुसार प्रतिपादन करते हुए 'श्रीराधासुधानिधिकार' के रूप में यत्र-तत्र श्रीगोस्वामि हरिवंशजी के नाम का उल्लेख किया है।

सन् १९७९ और १९८० में श्रीराधा-सुधा-निधि' पर जो धर्मसङ्घ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन में प्रवचन हुआ था उसी को टेप से उतार कर ग्रन्थ का रूप प्रदान किया गया है। इस ग्रन्थ में प्रसङ्गानुसार महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ दी गयी हैं। विविध सूत्रात्मक उपशीर्षकों में ग्रन्थ को निबद्ध किया गया है। विषयानुक्रमणिका भी उपशीर्षक क्रम से ही प्रस्तुत की गयी है। तात्पर्य्य के द्योतक स्थलों को मोटे अक्षरों में लिखा गया है। यथासम्भव उपलब्ध साधनों के अनुसार उद्धृत वचनों का 'स्थल-निर्देश' और अर्थ भी दिया गया है।

५. अभिनन्दन

प्रवचन माला के सन्दर्भ में पूज्यचरणों के द्वारा प्रसङ्गानुसार जहाँ पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि गम्भीर विषयों का विवेचन हुआ है; वहाँ द्वैत-अद्वैत से सम्बन्धित शैव-वैष्णव आदि विविध मतों का भी चित्रण हुआ है; उन्हें हृदयगमकर उसी रूप में प्रस्तुत करने का यद्यपि प्रयास किया गया है, तथापि सहृदय पाठक महानुभावों से निवेदन है कि प्रमादवश कुछ स्खलन रह गया हो तो उसे अवश्य सूचित करें! कहाँ तो श्रीचरणों का अगाध पाण्डित्य और कहाँ हम अल्प मति!

'भक्तिसुधा' और 'भक्तिरसार्णवः' श्रीचरणों के क्रमशः हिन्दी और संस्कृत में भक्ति-सम्बन्धी 'आकर-ग्रन्थ' हैं। प्रस्तुत 'राधासुधा' दोनों का सार-सर्वस्व है।

'भक्तिरसार्णव' के अधिकांश स्थलों का पूज्यपाद अनन्त श्रीविभूषित स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज ने अपनी 'चिन्तामणि' पत्रिका में भावानुवाद करके छापा था। मूल ग्रन्थ और उस अनुवाद के अनुसार 'राधासुधानिधि' सम्बन्धी अन्तिम तीन प्रवचनों को प्रस्तुत किया गया है। इसके लिये हम श्रीपूज्य-चरणों का हृदय से आभारी हैं।

पूज्यपाद जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्त श्रीविभूषित स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज द्वारा प्राप्त प्रोत्साहन संबल है। विरक्त शिरोमणि परम श्रद्धेय श्रीस्वामी वामदेवजी महाराज और परम श्रद्धेय श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वतीजी महाराज 'जज स्वामी' द्वारा प्राप्त उत्साहवर्द्धन श्लाघ्य है।

प्रूफ-शोधन, प्रेस कापी शोधन, अनुक्रमणिका योजन, शुद्धिपत्र अङ्कन आदि में श्रद्धेय १०८ स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज का आद्योपान्त सहयोग प्रशंसनीय है।

श्रीआनन्द वृन्दावन पुस्तकालय के संचालक श्रीब्रह्मचारी सेवानन्दजी और श्रीपूर्णानन्द पुस्तकालय के संचालक श्रीकमल शर्मा जी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अद्भुत उदारतापूर्वक ग्रन्थ प्रदान कर इस महान् कार्य को सम्पन्न करने में योगदान प्रस्तुत किया है। श्री श्रीशिवनारायण शर्मा (पुजारी) जी और श्री-सोमप्रकाश मिश्र जी ने प्रेस से सम्बन्ध प्रस्थापित रखने में अद्भुत योग प्रदान किया है। श्रीराजीव कुमार मिश्र ने पुस्तकालयों से सम्पर्क स्थापित करने में अद्-भुत सहयोग प्रदान किया है। प्रेस के संचालक श्रीगिरिराज जी ने धैर्य और उत्साहपूर्वक कार्य का निर्वाह किया है। ये सभी धन्यवाद के पात्र हैं। श्रीहनुमान प्रसाद धानुका जी इसी उत्साह से पूज्यचरणों के ग्रन्थों को प्रकाशित करते रहें, यह भावना है।

होली; सं० २०४२
आनन्द वेद विद्या केन्द्र, वृन्दावन

प्रकाशकीय

संस्थान द्वारा प्रकाशित अनन्त विभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा प्रणीत परम पावन ग्रन्थ 'भागवत-सुधा' का संस्करण नवम्बर १९८४ में भगवच्चरणानुरागियों को सौंपा गया था।

भक्तों ने उसके रस का काफी आनन्द लिया तथा भाव-विभोर हुए और ग्रन्थ की पर्याप्त माँग रही।

जैसा कि हमने वक्तव्य में लिखा था कि भागवत-प्रवचन के पहले दो वर्षों तक स्वामी जी महाराज का 'राधा सुधा निधि' पर प्रवचन हुआ था। 'राधा सुधा निधि' वृन्दावन के भक्त, रसिकों की एक अमूल्य निधि है। उन दो वर्षों के प्रवचनों में स्वामी जी के द्वारा पहले श्लोक 'यस्याः कदापि' की ही व्याख्या चलती रही। उन प्रवचनों में हुई अपार भीड़ एवं आनन्द विभोर हर्ष ध्वनि से रसिक एवं भक्तगण अनभिज्ञ नहीं हैं। राधा नागरि की सजीव आभा-प्रभा में भक्त एवं श्रोता सुध-बुध खोकर लवलीन हो जाया करते थे। रसिक एवं भक्तों का उसी समय आग्रह था कि इन प्रवचनों को पुस्तकाकार में प्रकाशन किया जाय! पूज्य श्री स्वामी जी के सम्मुख अनुरोध कर इसे शीघ्र प्रकाशित करवाने की इच्छा व्यक्त की।

स्वामी जी के आशीर्वादमय आदेशानुसार सर्व प्रथम 'भागवत सुधा' के प्रवचनों को पुस्तकाकार करने के बाद 'राधा सुधा निधि' के प्रकाशन का निर्णय किया गया। अब आपको 'राधा सुधा निधि' के प्रवचन माला सौंपते हुए हमें अत्यन्त हर्षानुभूति हो रही है।

'राधा सुधा निधि' के प्रवचन भी 'भागवत सुधा' के अनुसार सुनियोजित किये गये हैं जिसके लिए स्वामी जी के शिष्य स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वती जी ने परिश्रम कर अपना अमूल्य समय लगाकर इस कार्य को पूरा किया है—इन्हें प्रणाम करते हुए इनके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं।

सुविज्ञ पाठकों को जानकर खुशी होगी कि ग्रन्थ 'वेदार्थ पारिजात' को यू० पी० सांस्कृतिक एकादमी द्वारा सन् १९८०-८१ का सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ घोषित किया गया है व संस्थान को १ लाख रुपये का पुरस्कार—पारितोषिक के रूप में मिला है। जैसा कि पहले हमने जिक्र किया था कि स्वामी जी महाराज ने यजुर्वेद

के ४० अध्यायों पर भाष्य लिखा था। उनके दो अध्यायों का सानुवाद भाष्य संस्थान शीघ्र ही सम्पादित कर रहा है, लेकिन ग्रन्थ के पृष्ठों की संख्या अधिक होने की वजह से संस्थान ने प्रथम अध्याय के ही प्रकाशन का निर्णय लिया है जो कि प्रेस में है व यथा सम्भव शीघ्र ही प्रकाशित हो जायेगा।

पूज्य स्वामी श्री श्री १००८ निम्बार्काचार्य जी श्रीजी महाराज ने हमें अनुगृहित किया, जिन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर इस ग्रन्थ पर भूमिका लिखना स्वीकार किया। इनके प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

इस ग्रन्थ को सम्पादित करवाने व कार्य को पूर्णता प्रदान करने में श्री विजयकुमार जी शर्मा एवं श्री रामकृष्ण तिवारी जी के हम आभारी हैं जिन्होंने अपनी सच्ची लगन से हमें पूर्ण सहयोग दिया तथा प्रेस के व्यवस्थापक के भी हम आभारी हैं, जिनके परिश्रम एवं सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हो सका है।

—हनुमानप्रसाद धानुका

गोलोकवासी सेठ श्री राधाकृष्णजी धानुका जिनकी प्रेरणा से सत्साहित्य एवं पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज के ग्रन्थों के प्रचारप्रसारार्थ श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान की स्थापना हुई।

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

प्रथम-पुष्प

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्या-हृदयनन्दनो रामः।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः॥
वागीशा यस्यवदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे॥
विश्वसर्गविसर्गादि नवलक्षणलक्षितम्।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत्॥

१. अनन्त सत्ता और आनन्द रूप राधा-माधव तत्त्व का प्रतिपादक कृष्ण नाम—

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के आराध्य देव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्द हैं—श्रीकृष्ण शब्दका अर्थ है—अनन्त सत्ता और अनन्त आनन्द। कहा भी है—

कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृति वाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥
(गोपालपूर्वतापन्युपनिषत्)

'कृष्' का अर्थ है 'भू' और 'ण' का अर्थ है 'निर्वृति'। 'भू' का अर्थ है सत्ता, अर्थात् अनन्त सत्ता और निर्वृति का अर्थ है आनन्द अर्थात् अनन्त आनन्द। अनन्त सत्ता और अनन्त आनन्द दोनों मिलकर श्रीकृष्ण हैं। सत्ता क्या है ? आम-तौर पर 'तस्यभावस्त्वतलौ' (पा० सू० ५. १. ११९) इस पाणिनि सूत्र के अनुसार 'घटस्य भावः घटत्वम्', 'पटस्य भावः पटत्वम्'। घट का भाव घटत्व है, पट का भाव पटत्व है। अन्वय-व्यतिरेक से मृत्तिका के रहने पर घटका सत्त्व है, मृत्तिका के न रहने पर घट का अभाव है।[1] जो घटाकारेण परिणत मृत्तिका है

---

१. यद्यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत्कार्यं दृष्टं,
यथा मृदन्वयव्यतिरकानुविधायि घटो मृत्कार्यो दृष्टः।

वही घटत्व है। जो पटाकारेण परिणत तन्तु है, वही पटत्व है। 'सत्ता क्या है?' **'सतो भावः सत्त्वम्'** —सत् का जो भाव है, वही सत्ता है। 'सत् क्या है?' **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्योपनिषद् ६. २. १) —**'सृष्टेः प्राक् (प्रथमं) आदौ, इदं सर्वं नाम-रूप-क्रियात्मकं जगत् सदेवासीत्'** अर्थात् सृष्टि से पहले नाम-रूप-क्रियात्मक सारा चराचर प्रपञ्च सत् ही था।

अभिप्राय यह है कि शब्द से जाति और व्यक्ति का बोध हुआ करता है। त्वतलादि प्रत्यय वेद्य जाति भाव रूप ही होती है। घट की भाव रूप जाति ही घटत्व है, वह वस्तुतः एक भाव विशेष में स्थित मृत्तिका ही है। इस प्रकार घटका वाचक घट शब्द भी मूलतः उसके कारण मृत्तिका का ही बोधन करता है। इसी प्रकार जितने भी शब्द हैं, वे सब अपने अभिधेय (अर्थ) विभिन्न पदार्थों के मूल कारण परब्रह्म के ही वाचक हैं। यद्यपि उक्त दृष्टि से 'घट' का वाच्य घटाकार में परिणत मृत्तिका भी हो सकती है, तथापि लोक में 'घट' पद का वाच्य घट व्यक्ति ही समझी जाती है। मीमांसकों ने जाति में ही शक्ति मानी है। जाति घटत्वादिको कहते हैं, जिसे घट-भाव भी कहा जा सकता है। घट कार्य है, कार्य का भाव कारण से व्यतिरिक्त नहीं हुआ करता है। हरेक भाव का पर्यवसान अपने कारण में है। इसी दृष्टि से घट का पर्यवसान मृत्तिका में है। मृत्तिका का पर्यवसान अपने कारण जल में है। पुनः **'किं जलस्य जलत्वम्'** ? जल का जलत्व क्या है? अर्थात् जल क्या है? जलाकार में परिणत तेज। तेजस्त्व क्या है? तेजोरूपेण परिणत वायु! वायु ही तेजस्त्व है। फिर वायु क्या है? वाय्वाकार परिणत आकाश। आकाश क्या है? आकाशाकारेण परिणत अहं। अहं क्या है? अहमाकारेण परिणत महत्। महत् क्या है? महदाकारेण परिणत अव्यक्त। अव्यक्तत्व क्या है? अव्यक्ताकारेण परिणत सत्। **'सा सत्ता सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः'** अतः जितनी जातियाँ हैं सब का पर्यवसान ब्रह्म में ही है।

इस तरह सबका पर्यवसान सद् ब्रह्म में है। श्रीमद्भागवत का एक श्लोक है—

> **सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो** भवति **स्थितः।**
> **तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तुरूप्यताम् ॥**
> (भागवत १०. १४. ५७)

अर्थात् "सब वस्तुओं का भावार्थ स्वकारण में ही पर्यवसित होता है। उसका भी सत्ता में। वही सत्ता शुद्ध याथात्म्य ब्रह्म है।" आखिर शब्द कहेंगे किसको? प्रपञ्च को! वह तो परब्रह्म ही है। घट का साक्षात् अर्थ कंबुग्रीवादिमान् व्यक्ति है; किन्तु जब गम्भीरता से विचार करें तब उसका अर्थ ब्रह्म ही होता है। स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण वस्तुओं का अन्तिम रूप—उनका कारण अव्याकृत है। उस अव्याकृत की भी अन्तिम पर्यवसान-भूमि श्रीकृष्ण हैं। कारण कार्य का

और अधिष्ठान ही अध्यस्त का अन्तिम स्वरूप होता है। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण से भिन्न कौन-सी वस्तु है जिसका निरूपण किया जाय? वे ही निरतिशय, निरुपाधिक, परम प्रेम के आस्पद हैं। वे ही अन्तरात्मा हैं।

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किंचन॥

(भागवत १०. १४. ५६)

जो तत्त्वज्ञ हैं, उनके लिए दुनियां में जो भी वस्तु है, वह सब श्रीकृष्ण ही हैं। व्रज-लीला में भगवान् ने इस तथ्य को दिखा दिया। लोगों को सन्देह होता था कि भला भगवान् सब कुछ कैसे हो सकते हैं? जड़ भी भगवान्, जीव भी भगवान्, भला यह कैसे सम्भव है?

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

(भागवत १०. १३. १९)

श्रीकृष्ण स्वयं ही ग्वाल-बाल और बछड़े बन गये, अपने आप ही ग्वाल-बालों के आभूषण बन गये, जड़ाजड़-चेतनाचेतन सब कुछ हो गये। ग्वाल-बालों की बांसुरी और लकुटिया भी कृष्ण बन गये। **'सर्वं विष्णुमयं'** जो वेदवाणी है, मानो उसके साकार रूप होकर श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। **'भगवद्रूपमखिलं'** परन्तु हमने तो यहाँ कहा कि कृष्ण में जो "कृष्" है, वह सत्य का नाम है और "ण" निर्वृति का नाम है। रूपान्तर से यह समझो कि सत्ता माने राधारानी। क्यों? इसलिये कि भाव किसको कहते हैं? नेह को, प्रेम को। चित्त में तत्तत् (तत्-तत्) पदार्थों का भाव अंकित हो जाता है। जैसे पिघली हुई लाक्षा (लाह) में विभिन्न वस्तुओं का आकार अंकित हो जाता है। लाक्षा यद्यपि स्वभाव से है कठोर, लेकिन अग्नि के सम्बन्ध से द्रवीभूत-कोमल हो जाती है। अग्नि के सम्बन्ध से जब द्रवीभूत लाक्षा गंगाजल के तुल्य निर्मल-निष्कलंक हो जाय, तब उसमें हरिद्रा (हल्दी) डाल दो, वह लाह में स्थायित्व को प्राप्त हो जाता है। फिर रंग चाहे कितनी भी कोशिश करें (कि) 'मैं लाह से निकल जाऊँ" पर नहीं निकल सकता या लाह चाहे जितनी कोशिश करे (कि) 'मैं रंग को निकाल दूँ", पर नहीं निकाल सकती। दोनों लाचार हैं। एवं (इसी तरह) भक्त के चित्त में से भगवान् निकलना चाहें या भक्त भगवान् को निकालना चाहे, तो हो नहीं सकता। ऐसी विलक्षण परतन्त्रता दोनों में हो जाती है। लाक्षा के समान मन भी कठोर है। जब तक वह पिघलता नहीं, तब तक भाव पैदा नहीं हो सकता। आप कथा सुनने आ रहे थे, रास्ते में सांप मिला, सांप को देखकर भयभीत हो गये। डर से आपका

अन्तःकरण द्रवीभूत हो गया। आपके द्रवीभूत अन्तःकरण में सर्प का आकार अंकित हो गया। कोई शत्रु मिला, उसे देखकर आपका हृदय-अन्तःकरण द्रवीभूत हो गया। द्रवीभूत अन्तःकरण में शत्रु का आकार अंकित हो गया। वह भी भूलता नहीं। अथवा किसी को कामिनी का दर्शन हुआ, कामिनी दर्शन से कामोद्रेक हुआ। कामोद्रेक से चित्त द्रवीभूत हुआ, द्रवीभूत चित्त में कामिनी का रूप अंकित हुआ। वह (कामिनी का रूप) भी नहीं भूलता। रास्ते में बहुत-सी चीजें पड़ी मिलीं, लेकिन जिनसे अन्तःकरण द्रवीभूत नहीं हुआ, उनका आपको कोई स्मरण नहीं। जिसके प्रति आपका द्वेष नहीं, भय नहीं, राग नहीं, जिसके द्वारा आपका अन्तःकरण पिघला नहीं, उसका रूप आपके हृदय में अंकित नहीं हुआ, उसका आपको स्मरण तक नहीं। हजारों तृण आदि वस्तुएँ मिलीं, लेकिन उनका स्मरण नहीं। बात यह है कि वस्तु के अंकित होने के लिए चित्त का द्रवित होना-पिघलना आवश्यक है। हृदय में ध्येय के आकार का अंकित हो जाना भाव है। यह तो सामान्य रागास्पद, द्वेषास्पद के आकार अंकित होने की बात है। अगर भगवान् के प्रति आपका अन्तःकरण पिघल जाय, उस पिघले हुए अन्तःकरण में भगवान् का रूप अंकित हो जाय, तो क्या कहना? उसका नाम भक्ति है। भक्ति क्या है?

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

(भक्ति रसायन १.३)

हमारा अन्तःकरण पिघल गया। किससे? **'भगवद् धर्मात्'** भगवद् धर्म से। अर्थात् श्रवणादि नवधा भक्ति से। भगवान् के मधुर-मनोहर सौन्दर्य आदि गुणगणों के श्रवणादि से निर्मल-विशुद्ध गङ्गाजल के अखण्ड प्रवाह की तरह द्रुत मानस-वृत्ति-प्रवाहका श्रीभगवान्की ओर चल पड़ना 'भक्ति' है। श्रवणादि नवधा-भक्ति का वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भागवत ७ ५. २३)

भगवान् के परम पवित्र चरितामृत का, दिव्यातिदिव्य गुणगणों का श्रवण कीर्तन, स्मरण—अनुसन्धान-ध्यान इत्यादि। इस तरह भगवद्धर्म से मन द्रवीभूत हो जाय, द्रवीभूत मन की भगवान् की ओर अखण्ड प्रवृत्ति हो जाय! भागवत उसका लक्षण कहता है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्व गुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथागङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(भागवत ३. २९. ११)

जैसे गंगाजल का निर्मल-निष्कलंक प्रवाह समुद्राभिमुख अखण्ड गति से होता है; वैसे ही द्रवीभूत अन्तःकरण का जो निर्मल-निष्कलंक परम पवित्र सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् के सम्मुख अखण्ड प्रवाह है, यही मधुसूदन सरस्वती के अनु-सार "भक्ति" है।

दूसरे आचार्य कहते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुच्यते ।।
(भक्तिरसामृतसिंधु १. ११)

अर्थात् सर्वाभिलाषवर्जित ज्ञान और कर्मों से अनावृत अनुकूलतया श्रीकृष्ण का अनुस्मरण ही 'भक्ति' है।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ।।
(भक्तिरसामृतसिंधु २. ११)

भुक्ति और मुक्ति की स्पृहा ये दोनों पिशाची हैं। भुक्तिस्पृहा माने भोग की इच्छा-कामना और मुक्तिस्पृहा माने मोक्ष की कामना। वेदान्तमत में भी जब तक मोक्ष की कामना है, जब तक मोक्ष का अधिकारी नहीं है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता ।।
(आत्मोपनिषत् ३१; माण्डूक्यकारिका २.३२)

"न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है, यही परमार्थता है।"

कहने का अभिप्राय यह है कि भोग और मोक्ष की स्पृहा रूपी पिशाची जब तक हृदय में है, तब तक भक्तिसुख का अभ्युदय (समुदय) नहीं होता।

इस तरह, "कृष्ण अपने प्राणनाथ प्रियतम हैं" ऐसा समझकर भुक्ति-मुक्ति स्पृहा रहित, ज्ञान और कर्मों से अनावृत श्रीकृष्ण अनुस्मरण "भक्ति" है। ज्ञान और कर्म तो रहें, पर वैसे ही जैसे कि दाल में नमक। दाल में नमक सीमा के भीतर अच्छा। अगर सीमाके बाहर हो जाय तो गड़बड़ है। ऐसे ही ज्ञान, कर्म, रहना चाहिए। अगर सीमा के बाहर हो जाय तो गड़बड़। "हमें तो भैया! भग-वान् से वैराग्य हो गया है" यह काहे का वैराग्य है और काहे का ज्ञान? "हमें तो भैया! भगवान् के लिए फुर्सत ही नहीं", यह काहे का कर्म?

मधुसूदन सरस्वती यहाँ (इस सन्दर्भ में) कहते हैं कि—आनुकूल्येन हो

या प्रातिकूल्येन कृष्णानुस्मरण होना चाहिए। आनुकूल्येन या प्रातिकूल्येन जैसे भी हो कृष्णानुस्मरण "भक्ति" है।

हम असल में राधासुधानिधि कहना चाहते हैं। उसकी यह भूमिका है। 'क्रोधोपि देवस्य वरेण तुल्यः' क्रोध तो अच्छी चीज नहीं। पर इष्टदेव का (के प्रति) क्रोध भी अच्छा। इष्टदेव सम्बन्धी हरेक वस्तु अच्छी, किसी तरह हम इष्ट में रमें। किसी तरह वे हम पर द्रवें (द्रवित हों), बड़ी ऊँची बात है। बरसाने की ओर से बड़ी गर्म-गर्म हवा आ रही है। यद्यपि लू है, पर बरसाने की ओर से आ रही है, इसलिए बड़ी प्रिय है। श्रीराधारानी के गांव से आ रही है। इसलिये बड़ी प्रिय है। इष्ट सम्बन्धी हरेक वस्तु प्रिय है। इसलिए मधुसूदन सरस्वती कहते हैंकि किसी तरह से इष्टाकार-भगवदाकार वृत्ति होनी ही चाहिए। प्रसिद्ध ही है शिशुपाल आदि के सम्बन्ध में। जिस तरह से हो, श्रीश्यामसुन्दर में हमारा मन द्रवित हो जाय और वह पिघला हुआ हृदय भगवान् की ओर प्रवाहित हो जाय। जिस किसी तरह से वह धन्य-धन्य होने का अधिकारी हो।

हाँ, तो फिर मूल बात पर आ जाओ। भाव माने सत्ता। सत्ता माने श्रीराधारानी। वही घट-पट का अर्थ है। जब जाति में शक्ति मान्य है, तब भाव का अन्तिम पर्यवसान अनन्त सत्ता स्वप्रकाश ब्रह्म में है। उसमें भी सत्ता और आनन्द दोनों का ऐक्य है। स्वयंप्रकाश सत्ता रूप आनन्द, आनन्द रूप सत्ता दोनों एक बात है। सत्ता-रूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी एवं आनन्द रूप श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण-चन्द्र परमानन्द और वृषभानुनन्दिनी वैसे ही अभिन्न हैं, जैसे सत्ता और आनन्द। यदि आनन्द सत्ता न हो तो सत्ता बिना आनन्द असत् हो जाय। फिर जो असत् है, वह आनन्द कैसे? वैसे ही आनन्द से वियुक्त शुद्ध-सत्ता नहीं। जड़ों की सत्ता दूषित, सविशेष-सप्रपञ्च है; किन्तु शुद्ध-सत्ता निरुपद्रव निर्विशेष आनन्द रूप ही है। और (अन्य) सब विनश्वर सत्ता है। वैषयिक आनन्द भी विनश्वर है। अतः सदानन्द कहाँ? परमानन्द अबाध्य हैं, जगदानन्द बाध्य। श्रीकृष्ण का स्वरूप वास्तविक सद्रूप एवं आनन्द रूप है। जो अत्यन्त अबाध्य नित्य स्वप्रकाश है। इसलिये 'कृष्ण' शब्द में सत् और आनन्द दोनों का योग है। सत् और आनन्द परस्पर वियुक्त कभी नहीं होते, इसलिए वृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण परस्पर अन्तरात्मा हैं। दोनों एक हैं। एक ही सदानन्द रूप भगवान् गौरतेज-श्यामतेज रूप में राधा-माधव उभय रूप में प्रकट हुए। अग्नि पुराण में प्रेम का वर्णन है, रस का निरूपण है। निर्विशेष रस, शुद्ध ब्रह्म है। सविशेष रस नौ प्रकार का है। शृङ्गार, हास, करुण आदि नवरस हैं।

नवरससमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परमिह मुकुन्दे भक्ति योगं वदन्ति।
निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि ॥

(भक्ति रसायन १.१)

"सर्वत्र सत्ता रूप से विद्यमान मुकुन्द विषयक भक्तियोग को नौ रसों से मिला हुआ अथवा केवल परम रस रूप से परम पुरुषार्थ कहते हैं। अनुपम सुख की प्राप्ति रूप और दुःख जिसे छू तक नहीं जाता,ऐसे उस भक्तियोग की मैं सबको सन्तुष्ट करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि से विवेचना करता हूँ।"

मुकुन्द में भक्तियोग परम-पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। कई व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम नहीं चाहते। यहाँ तक कि अपुनर्भव कैवल्य भी नहीं चाहते। आत्माराम, पूर्णकाम, परमनिष्काम होते हैं। लौकिक और वैदिक—सर्व प्रकार के पदार्थों से वितृष्ण (विरक्त) होते हैं। 'पर-वैराग्य' सम्पन्न होते हैं। गुणों में वितृष्ण अर्थात् शान्ति, उपरति आदि में भी वितृष्ण होते हैं, अर्थात् मोक्ष में भी वितृष्ण होते हैं। इस प्रकार उनमें 'पर' और 'अपर' दोनों प्रकार के वैराग्य क्रमशः प्रतिष्ठित होते हैं।

'दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्'।
(योग दर्शन १. १५)

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्'
(योग दर्शन १. १६)

अनभीष्ट (निद्रा, प्रवृत्ति आदि) गुणों की प्राप्ति में विद्वेष नहीं करते और अभीष्ट शान्ति, दान्ति, उपरति की निवृत्ति में आकांक्षा नहीं करते—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥
(भगवद्गीता १४. २२)

कितनी ऊँची बात है गुणों में वैतृष्ण्य! पुरुषख्याति अर्थात् पुरुष दर्शन से-परमात्मदर्शन से यह गुण-वैतृष्ण्य संभव है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(भगवद्गीता २. ५९)

इस तरह परमात्मदर्शन से ही सर्व प्रकार की वितृष्णता आ जाती है। शान्ति की भी अपेक्षा नहीं। सात्विक-राजस-तामस भावों की ऊँचे-से-ऊँचे परिणामों की, अपेक्षा नहीं। इस परवैराग्य से सम्पन्न व्यक्ति भगवद्भक्ति का अधिकारी है। भगवद्दर्शन से गुणवैतृष्ण्य रूप परवैराग्य सम्पन्न व्यक्ति जहाँ भगवद् भक्ति का अधिकारी है, वहाँ सामान्य व्यक्ति भी। भागीरथी (गंगा) सबके लिए सुलभ है। परमहंस परिव्राजकाचार्य शंकराचार्य जी महाराज आओ नहालें, चाहे हरिजन बन्धु स्नान करलें। गंगा दोनों के लिए ही सुलभ है। इसी तरह भक्ति भी।

इस प्रकार निर्विशेष रस ब्रह्म ही है। भक्ति में शुद्ध चिदानन्द घन भगवान् का स्फुरण होता है। इसी से उसकी परमानन्दरूपता है। यों तो विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रुत अन्तःकरण की वृत्ति में उपारूढ़ होकर स्थायी भाव और रस स्वरूप हो जाता है। फिर भी लौकिक कान्तादि जड़ के संयोग से उसमें न्यूनता है।

तैत्तिरीय वचन है—'रसो वैसः'—'रस वही है'। कौन है, वह! यहाँ 'सः' पुल्लिङ्ग है। 'कृष्णः', वह है श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ही रस है! 'शृङ्गार' रस है। वह रस क्या होता है? 'भाव'। 'भाव' क्या है? स्थायी उपहित। इस तरह स्थायी उपहित चैतन्य को "रस" कहते हैं। 'स्थायी' क्या है? अभीष्ट पदार्थाकाराकारित अन्तःकरण की द्रवीभूत वृत्ति। स्थायी उपहित चैतन्य स्वप्रकाश है। स्थायी उपहित स्वप्रकाश चैतन्य हो रस है। अपरिगणित प्राणी है। अपरिगणित अन्तःकरण है। अपरिगणित अन्तःकरणों में अपरिगणित भगवदाकाराकारित वृत्तियाँ हैं। उन सबमें स्थायी भावरूप चैतन्य श्रीकृष्ण हैं। एक श्लोक है—

> "पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां
> मूर्तीभूत भागधेयं यदूनाम्।
> एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां
> श्यामीभूतं ब्रह्मे सन्निधत्ताम्"॥

यहाँ भावुकों ने व्रजाङ्गनाओं के पुञ्जीभूत प्रेम को ही कृष्ण माना है। यदुओं के मूर्तीभूत भागधेय को ही कृष्ण माना है। श्रुतियों के गुप्त वित्त को ही श्यामीभूत ब्रह्म "कृष्ण" माना है।

गोपाङ्गनाओं का प्रेम पुञ्जीभूत एकत्रित हो गया। वह प्रेम क्या था? 'भाव', उपहित चैतन्य रूप भाव। गोपाङ्गनाओं का जो भाव था वही पुञ्जीभूत होकर एकत्रित होकर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के रूप में प्रकट हुआ। इसी तरह मानो यदुओं का भाग्य ही मूर्तिरूप हो गया। वेद-वेदान्त का जो गुप्त वित्त वही एकीभूत हो गया श्रीकृष्णचन्द्र के रूप में। वेदान्त वेद्य ब्रह्म है अचिन्त्य, अव्यपदेश्य—

> अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
> तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
> अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
> निचाय्यतन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥
>
> (कठोपनिषद् १. ३. १५)

जो अशब्द, अस्पर्श, अगन्ध, अव्यय, ब्रह्म है, नीरूप है—वही श्याम रूप हो गया। जो रूप रहित था, वही रूपवान् हो गया। ऐसा रूप हुआ कि वाह!

'जिन नयनन ते यह रूप लख्यो, उन नैनन ते अब देखिय काहा।' एक बार जिसने श्यामसुन्दर के मंगलमयरूप को निहार लिया, दामिनीद्युति-विनिन्दक पीताम्बर की जिसने अद्‌भुत चमत्कृति का अनुभव कर लिया, अब वह इन आँखों से क्या देखे ? देखने योग्य रहा ही क्या ?

कथा प्रसिद्ध ही है। एक बार सूरदास बाबा किसी गड्ढे में गिर गये। भगवान् ने कृपा कर उन्हें सम्भाला। अपने रूपामृत के आस्वादन के लिए नेत्र प्रदान किया। फिर भगवान् बाँह छुड़ाकर हठात् जाने लगे। बाबा ने कहा— "भैया ! मुझ निर्बल की बाँह छुड़ा के जा तो रहे हो, पर मेरी आँखें जैसी थीं कृपा कर वैसी ही बना जाओ। मतलब यह कि मुझे सूरदास ही रहने दो। भला ऐसा कौन-सा रूप रहा जिसे मैं इन नेत्रों से निहारने के लिए नेत्रवान् रहूँ !"

भगवान् ने कहा "नहीं नहीं, बाबा ! आँखें रखो।"

बाबा ने कहा—"जो फल था वह तो मिल गया। अब इन आँखों का क्या होगा ?"

तो भगवान् का ऐसा अद्‌भुत स्वरूप है कि बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र -अमलात्माओं का मन उसमें आकृष्ट हो जाता है। यहाँ तक कि भूषणों को भी विभूषित करने वाले श्रीअंगों को मणिमय प्रांगण में अथवा स्तम्भ में प्रतिबिम्बित देखकर श्रीकृष्ण स्वयं मुग्ध होकर उससे मिलने के लिए उत्सुक हो उठते हैं, उसे न पाकर खिन्न हो जाते हैं—

रत्नस्थले जानुचरः कुमारः
संक्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्।
आदातुकामस्तदलाभखेदा
न्निरीक्ष्य धात्रीवदनं रुरोद॥

(श्रीकृष्णकर्णामृत २.५४)

भावुकों ने भगवान् को शृङ्गार-रस-सागर, आनन्द-रससार-सागर किंवा पूर्णानुराग-रससार-सागर से समुद्‌भूत निर्मल-निष्कलंक लोकोत्तर चन्द्रमा कहा है। ऐसे प्रभु मणिमय स्तम्भमें अपने मंगलमय मुखचन्द्र को निहार करके, अनन्त सौगन्ध्य-माधुर्य से मोहित होकर के, स्वयं उसको लेना चाहते हैं। चाहते हैं **'जो मागें पाइय विधि पाहीं। ए रखिअहि सखि आंखन्हि माहीं॥'** (राम० मा० २. १२१.५) 'यदि माँगने से मिले यह तो इसे अपने नयनों में रख लूँ'। फिर उनके रूप पर दूसरे मुग्ध हो जांय, यह कौन-सी बात है ? स्वयं सर्व शक्तिमान्, सर्वज्ञ, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक अपनी शक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायकता को भूल जाते हैं। अपने ही मुख-प्रतिबिम्ब पर मोहित हो जाते हैं। उसे पाने के लिए अत्यन्त लालायित हो जाते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण भी जिनके सौन्दर्य,

माधुर्य, सौरस्य, सौगन्ध्य पर सदा समासक्त रहते हैं, जो आनन्दसिंधु श्रीकृष्ण की माधुर्य-सार-स्वरूपा हृदयेश्वरी प्राणवल्लभा श्रीराधारानी हैं, वही गोपाङ्ग-नाओं की परम पूज्या हैं।

आधायमूर्द्धनि यदापुरुदारगोप्यः
काम्यं पदं प्रियगुणैरपि पिच्छमौलेः।
भावोत्सवेन भजतां रसकामधेनुं
तं राधिकाचरणरेणुमहं स्मरामि ॥
(श्रीराधासुधानिधि ४)

"उदार गोपियों ने जिसको अपने मस्तक पर चढ़ाकर मयूर पिच्छधारी लालजी के प्रिय गुणों के सहित वाञ्छित पद को प्राप्त किया तथा भाव-चाव से भजने वालों के लिये रस को कामधेनु के समान जो है, उस श्रीराधा-चरणरेणु को मैं स्मरण करता हूँ।"

'राधा' माने आराधना 'आराधनं राधा' आराधना ही राधा है। आरा-धना क्या है ? प्रेम ही तो है। भाई ! पंखा झलना भी सेवा है, पाँव दबाना भी सेवा है, पर वास्तविक सेवा क्या है ? 'भक्ति' ! 'भज सेवायाम्' 'भजनं भक्तिः' वह भक्ति क्या है ? पहले ही कह चुके हैं। अन्तःकरण निर्मल-निष्कलंक परम पवित्र द्रवीभूत होकर भगवदभिमुख होकर प्रवाहित हो यही 'भक्ति' है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ॥
(भागवत ३. २९. ११)

इसलिए श्री का भी महत्त्व है। श्री का अर्थ है **'श्रियँ् सेवायां'** सेवा। वह सेवा प्रीति के बिना छूछी है, अतः प्रीतिपूर्ण सेवा, आराधना श्री है। वही भक्ति है। इस तरह स्थायी-भाव उपहित चैतन्य श्रीराधारानी सत्ता स्वरूपा हैं।

"कृष्ण" नाम में जो 'ण' पदार्थ है, वही आनन्द है—अनन्त अपरिगणित असीम आनन्द। ब्रह्मादिदेव-शिरोमणियों को मिलने वाला जो आनन्द है, उसका उद्गमस्थान परमानन्दसुधासिन्धु श्रीकृष्ण हैं। अचिन्त्य परमानन्दसुधासिन्धु का तुषारमात्र देव-गन्धर्व और मनुष्य पश्वादिकों को प्राप्त होने वाला आनन्द है। [२]

अनन्त सत्ता और अनन्त आनन्द दोनों का जो ऐक्य है, वही है—राधा-कृष्ण। दोनों का अत्यन्त अभेद है। उस राधारानी का वर्णन श्रीहित हरिवंश महाप्रभु बड़े अनुराग से करते हैं।

---

२. एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।
(बृहदारण्यक ४. ३. ३२)

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ
धन्यातिधन्य पवनेन कृतार्थ-मानी ।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानु भुवो दिशेऽपि ।।
(राधासुधानिधि १)

"किसी समय जिनके वस्त्र-छोरके उड़ने से उत्पन्न सर्वाधिक धन्य पवन से योगीन्द्रों को भी दुष्प्राप्य श्रीलालजी ने भी अपने को कृतार्थ माना, उन श्रीवृषभानुनन्दिनी की दिशा के लिए भी हमारा नमस्कार हो।"

वृषभानु से अभिव्यक्त होने वाली श्रीराधारानी हैं। "भानु" कहते हैं, सूर्य नारायण को। वे जिस दिशा में उदित होते हैं, कर्मकाण्डी लोग उस दिशा को प्रणाम करते हैं। उसी ओर मुख करके सन्ध्या करते हैं। कोई शुभ कार्य करना हो तो पूर्वाभिमुख होकर करना चाहिए। वृषभानु में 'वृष' का अर्थ है, नाना प्रकारकी अभीष्ट कामों-भोगों को वर्षाने वाला धर्म-'वर्षतिकामान् इति वृषः धर्मः', जो प्राणियों के अभीष्ट की वर्षा करता है, वह धर्म वृष है। जब जीवन में धर्म का प्राधान्य हो तो जो चाहे सो मिले।

वृषश्चासौ भानुः वृषभानुः ।
तस्माद्भवतीति वृषभानुभूः ।।

वृष ही भानु है। उससे उत्पन्न होने वाली श्रीराधाजी वृषभानुभू हैं। जैसे गोस्वामीजी कहते हैं—

'बंदउँ कौशल्या दिशि प्राची ।
कीरति जासु सकल जग माची ।।
प्रगटेउ जहँ रघुपति शशि चारू ।
विश्व सुखद खल कमल तुषारू ।।
(रामचरित मा० १. १५४)

प्राची (पूर्व) दिक् (दिशा) में चन्द्रमा का उदय होता है। कौशल्या से श्रीरामचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। आनन्दवर्द्धन श्रीरामचन्द्र के पूर्णतम रूप में प्रकट होने के लिए श्रीकौशल्या माता को प्राची बतलाया है। भागवत वाले कहते हैं—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिवपुष्कलः ।।
(भागवत १०. ३. ८.)

देवरूपिणी देवकी में आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ऐसे प्रकट हुये जैसे प्राची-दिक् में पूर्णचन्द्र। पूर्णिमा को छोड़कर अन्य तिथियों में ठीक-पूर्वादिक् का सम्बन्ध न होने से चन्द्रमा में पूर्णता नहीं होती। यहाँ एक बात और है, अलौकिक अद्भुत

आनन्द-सुधासिन्धु समुद्भूत, श्रीकृष्णचन्द्र जैसे सकलंक लौकिकचन्द्र से विलक्षण हैं; वैसे ही निर्मल-विशुद्ध सत्त्वमय देवकीरूपा प्राची भी प्राकृत प्राची से विलक्षण है। फिर जैसे सूर्यकान्तामणि पर ही सूर्य का पूर्णरूपेण प्राकट्य होता है, वैसे ही वेदान्त महावाक्यजन्य ब्रह्माकाराकारित परम सत्त्वमयी मानसी वृत्ति पर ही पूर्णतम पुरुषोत्तम का प्राकट्य होता है। यहाँ पर वही परम सत्त्वसमूहाधिष्ठात्री महाशक्ति देवरूपिणी श्रीदेवकी हैं और उनमें पूर्णतम तत्त्व का ही आनन्दघन श्रीकृष्णचन्द्ररूप में प्राकट्य हुआ है।

इस तरह प्राचीदिक् की महिमा वर्णनातीत है। उदयाचल पर भानु का उदय होता है। सर्वाभीष्टवर्षी विश्व प्रकाशक—वृषभानु कोई अति अद्भुत तत्त्व है। उसी से अनन्त ब्रह्माण्ड जननी, अनन्त ब्रह्माण्ड के प्राणियों को रस देने वाली श्रीराधारानी प्रादुर्भूत हुईं—अभिव्यक्त हुईं; न कि उत्पन्न। उत्पत्ति अलग है और प्रादुर्भाव या अभिव्यक्ति अलग। श्रीकृष्णचन्द्र की जब उत्पत्ति नहीं होती तब श्रीराधारानी की उत्पत्ति कहाँ से होगी ? जैसे देवरूपिणी देवकीसे श्रीकृष्णचन्द्र का प्रादुर्भाव, वैसे ही कीर्तिदाजी से श्रीराधारानी का प्रादुर्भाव।

राधा-विहार-स्थली और आविर्भाव-स्थली श्रीवृन्दावन और बरसाना दोनों धाम हैं। इनके दर्शन, इनमें निवास अत्यन्त दुर्लभ-भगवत्कृपा से ही संभव है। जो संसार से परम विरक्त भावुक-रसिकवृन्द हैं, हुए हैं, जैसे हमारे बाबा श्रीरामकृष्णदासजी[3] आदि वे रासलीला देखना मना करते थे, जब कि उनका रास ही उपास्य - जीवन - धन था। उसमें अधिकार का प्रश्न है। **'पाचें भूलें देह सुध, छठो भावना रास की'** देह काविस्मरणहो जाय तो रास की भावना सध पाती है। अन्यथा नहीं।

जो योगीन्द्र-मुनीन्द्र गण हैं, वे यहाँ श्रीमद् वृन्दावनधाम में जीवन्मुक्त हो करके आनन्दामृत आस्वादन करते हैं। मौन धारण कर रहते हैं, लेकिन राधारानी का विमल यश उनको मुखर बना देता है। बोलने लगते हैं। यह तो अद्भुत चमत्कार श्रीराधा-विहार-विपिन का है। रही अब बरसाने की बात। उसका भी दर्शन कठिन, वहाँ का निवास कठिन। उस धाम का दर्शन हो जाय तो धन्य-धन्य। वहाँ का निवास हो जाय तो धन्य-धन्य। कहते हैं, धाम का दर्शन और निवास तो दूर की बात है, हम तो उस धाम का नाम भी नहीं लेते हैं। जिस दिशा में श्रीराधारानी का निवास है, उनकी विहारस्थली है, हम तो केवल उस दिशा को प्रणाम करते हैं। वह धन्य-धन्य है।

इसलिए भक्तों ने कहा—

रे मन वृन्दाविपिन निहार।
यद्यपि मिले कोटि चिन्तामणि तदपि न हाथ पसार॥

---

३. श्रीवृन्दावन-ब्रजक्षेत्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् रसिक सन्त।

विपिनराज सीमा सों बाहर हरि हू को न निहार ।
जै श्रीभट्ट धूरि धूसरि तन यह आशा उर धार ॥

'रे मन ! श्रीवृन्दाविपिन को देख । परिक्रमा करते-करते यदि वृन्दावन-धाम के दायें कृष्ण मिलते हैं तो प्यार करो, बांये मिलते हैं तो आँखें मींच लो ।' धाम-उत्कर्ष की पराकाष्ठा है । ऐसे वृन्दावनधाम, बरसानाधाम का दर्शन, उसमें निवास तो बड़ा दुर्लभ है, हम तो श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी जिस दिशा में विराजमान हैं, उस दिशा को प्रणाम करते हैं । यही हमारे परम सौभाग्य की बात है । परम उल्लास, सौभाग्य से हम उस दिशा को नमस्कार करते हैं । श्लोक में प्रयुक्त 'यस्याः'—'तस्याः' 'यत्-तत्' ये बड़े उत्कर्ष के सूचक शब्द हैं ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥
(भगवद्गीता १७. २३)

"ॐ तत्-सत् ऐसे ये तीन ब्रह्म के नाम कहे गये हैं, उसी से सृष्टि के आदि में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रचे गये हैं ।"

'ॐ-तत्-सत्' ये ब्रह्म के निर्देश हैं । हरेक शुभ कार्य में—यज्ञ, दान, तप में इन शब्दों का उच्चारण करते हैं । संकल्प में भी इन शब्दों को बोलते हैं ।

'वेदान्तों में ब्रह्मविद् वरिष्ठों की गोष्ठी में जो प्रसिद्ध है, वह' इस अर्थ में यहाँ 'यस्याः', 'तस्याः' शब्दों का प्रयोग है । ऐसी हैं श्रीराधारानी वृषभानु-नन्दिनी ।

२. रसराज शृङ्गार रस से समुद्भूत श्रीराधा-माधवचन्द्र

आप कई बार सुन चुके हैं कि जो सच्चिदानन्द परब्रह्म है, उसका विलास है 'रस' । ब्रह्म का परिणाम तो होता नहीं, लेकिन विलास मान्य है । यह सारा प्रपञ्च चिद्विलास है । परात्पर परब्रह्म अखण्ड सच्चिदानन्द का सर्वोत्कृष्ट विलास है "रस" । रस के कई भेद हैं, उनमें सर्वोत्कृष्ट है "शृङ्गार" । वही अंगी (शेषी)—प्रधान है और सब अंग (शेष, गौण) हैं । शृङ्गार रस के दो भेद हैं—(१) संयोगात्मक और (२) विप्रयोगात्मक । संयोग को संप्रयोग और वियोग को विप्रयोग भी कहते हैं । श्रीकृष्ण-मूर्ति प्राकृत पुरुषों के समान अस्थि, चर्म, मांस-मय नहीं है, अपितु उभयविध शृङ्गार रसमय है । वे उभय रस भी उद्बुद्ध हैं, पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हैं । वैसे तो जिस समय संयोगात्मक शृङ्गार अनुभूयमान् होता है, उस समय वियोगात्मक शृङ्गार का अनुभव नहीं होता, विप्रयोगात्मक शृङ्गाररसानुभव कालमें सम्प्रयोगात्मक शृङ्गाररस का अनुभव नहीं होता; परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण में यही विशेषता है कि यहाँ उभयविध शृङ्गार रस का एक

कालावच्छेदेन पूर्ण प्राकट्य है। दोनों का अनुभव भी एक ही काल में हो रहा है। इस तरह सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गार रसार्णव श्रीकृष्ण भाटावाले समुद्र तुल्य नहीं, ज्वारवाले समुद्रतुल्य हैं।

इस तथ्य को यों समझो कि संप्रयोगात्मक (संयोगरूप)–विप्रयोगात्मक (वियोगरूप) उभयविध (दोनों प्रकार के) शृङ्गाररसार्णव (शृङ्गार-रससिंधु) से श्रीराधाकृष्ण तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ है। श्रीराधा-कृष्ण क्या हैं ? संयोग-वियोग-रूप शृङ्गार रससिंधु से प्रादुर्भूत निर्मल-निष्कलंक चन्द्र। श्रीराधा के मन रूप कुमुद के चन्द्र हैं श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के मन रूप कुमुद के चन्द्र हैं श्रीराधा। अथवा यों समझो—श्रीवृन्दावन धाम एक पूर्णानुराग-रससार-सरोवर-समुद्भूत-सरोज (कमल) है। सामान्य सरोवर में मिट्टी के पंक से उत्पन्न पंकज में लोकोत्तर आभा-प्रभा-शोभा, शीतलता-मधुरता-पवित्रता होती है। उसका वर्णन करते-करते कवीन्द्रगण अघाते नहीं। कदाचित् दुग्ध के सरोवर में मक्खन (नवनीत) के पंक से कोई पंकज प्रादुर्भूत हो तो उसकी आभा, प्रभा, शोभा, शीतलता, मधुरता, पवित्रता कितनी अनुपम होगी ? यहाँ तो पूर्णानुराग-रस-सार-सरोवर में पूर्णानुराग-रस-सार-सर्वस्वरूपी पंक से प्रादुर्भूत पंकज श्रीवृन्दावनधाम मान्य है। उसकी आभा-प्रभा-शोभा, शीतलता-मधुरता पवित्रता का क्या कहना ? जिनके दृष्टिगोचर हो, उनके सौभाग्य का क्या कहना ? उसमें जो पीली-पीली केसरें हैं, गौराङ्गी गोपाङ्गनायें हैं, जो कि श्रीराधारानी की परम पवित्र अन्तरंगा ललिता, विशाखादि सखियाँ हैं। उसमें जो पराग है, वह श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द हैं। परागों में जो मकरन्द है वह श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी हैं। इस प्रकार श्री-वृन्दावनधाम कितनी अद्भुत अन्तरंग वस्तु है ? श्रीराधारानी कृपा करें तब उसके सम्बन्ध में कुछ जानकारी हो, कहने-सुनने की बात और है। इस तरह उत्कर्ष की पराकाष्ठा है। दुनियाँ में सबसे उत्कृष्ट है ब्रह्म। ब्रह्म शब्द "बृहि वृद्धौ" धातु से बनता है। अतः ब्रह्म शब्द का "बृहत्" या "महान्" अर्थ होता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि किसी बृहत् या महान् वस्तु को ब्रह्म कहते हैं। अब यह विवेचन करना है कि ब्रह्म की वह बृहत्ता सापेक्ष है या निरपेक्ष, सातिशय है या निरतिशय ? जब किसी प्रकार का संकोचक प्रमाण नहीं है और निरतिशय महत्ता में कोई अनुपपत्ति नहीं है, तब सर्व प्रकार एवं सर्वाधिक निरतिशय महान् को ब्रह्म कहना चाहिये। महत्ता की अतिशयता की कल्पना जहाँ विरत हो जाय, जिससे अधिक बृहत्ता की कल्पना हो ही नहीं सके, उसी को ब्रह्म कहते हैं।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीयो० २. १) इस श्रुति में 'अनन्त' पद प्रयुक्त है, जिससे निरतिशय बृहत्ता की ओर भी पुष्टि हो जाती है। इस तरह सर्व प्रकार से सिद्ध हुआ कि निरतिशय महान् को ही ब्रह्म कहते हैं। जिसके समान अतिशय कोई नहीं, उन अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक प्रभु के न कोई बराबर है और न कोई उनसे बड़ा ही।

जेहि समान अतिशय नहिं कोई।
(राम० मा० ३. ५. ८)

निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा,
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥
(भागवत २. ४. १४)

"जिनके समान किसी का ऐश्वर्य नहीं है, फिर उनसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है? ऐसे ऐश्वर्य से युक्त होकर जो निरन्तर ब्रह्म-स्वरूप अपने धाम में विहार करते रहते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्ण को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।" उन्हीं प्रभु का सर्वोत्कृष्ट विलास है 'रस'। उसका परम सार है, श्रीराधातत्त्व। पूर्णानुराग-रससार-सरोवर समुद्भूत सरोजस्थ-मकरन्दरूपा हैं श्रीराधा, यह है उत्कर्ष की पराकाष्ठा। इस दृष्टि से भी श्रीराधारानी के अंग परम दिव्य परिगणित होते हैं—

नायंश्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ॥
(भागवत १०. ४७. ६०)

कई लोगों का कहना है कि स्वर्ग की जो अंगनाएँ हैं, उनके अंग का सौगन्ध्य कमल के समान दिव्य होता है। मनुष्यों में किसी के अंग का गन्ध भैंसा जैसा, किसी के अंग का गन्ध मत्स्य (मछली) जैसा, लेकिन अप्सराओं के अंग का आमोद तो नलिन जैसा। फिर अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी भगवती महालक्ष्मी के श्रीअंग का सौगन्ध्य तो कैसा अद्भुत होगा? फिर गोपाङ्गनाओं के अंग के सौगन्ध्य का तो कहना ही क्या? श्रीलक्ष्मी जी से भी गोपाङ्गनाओं का अङ्ग-सौगन्ध्य अत्यद्भुत है। ब्रह्मा ने साठ हजार वर्षों तक अखण्ड तप किया, गोपाङ्गनाओं के पादाब्जरेणु प्राप्त करने के लिये—

षष्टिवर्ष सहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा।
तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः ॥
(बृहद्वामन पुराण)

आपने सुना ही होगा—श्रीभगवान् की आज्ञा से बदरिकाश्रम में तप करने वाले श्रीउद्धवजी क्या कहते हैं—

आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ॥
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य पथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
(भागवत १०. ४७. ६१)

वृन्दावन धाम की जो कुलाङ्गनाओं के लिये दुस्त्यज आर्यपथ का त्याग-कर मुकुन्द भगवान् का सेवन करने वाली गोपाङ्गनाएं हैं, उनके पाद-पकज-रज का स्पर्श करने वाले तृण, लता, गुल्म, औषधियों में मैं कोई एक हो जाऊँ, तो धन्य-धन्य हो जाऊँ ! अपने जीवन को सफल मानूँ ! इस तरह से—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां
पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरि कथोद्गीतं
पुनाति भुवनत्रयम् ॥

(भागवत १०. ४७. ६३)

"श्रीनन्द जी के व्रज में रहने वाली गोपाङ्गनाओं की चरणधूलि को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ। उसे सिर पर धारण करता हूँ। अहा ! इन गोपियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-कथा के सम्बन्ध में जो कुछ गान किया है, वह तीनों लोकों को पवित्र कर रहा है और सदा-सर्वदा पवित्र करता रहेगा।"

अनन्त ब्रह्माण्ड की महाधिष्ठात्री भगवती लक्ष्मी भगवती गोपाङ्गना-जनों के पाद-पंकज-रज का स्पर्श करने के लिए व्रज आयीं। बेलवन[४] में विराज-मान हुईं। तपस्या करने लगीं। भीतर तो तब आवें जब आज्ञा हो ! आयी थीं गोपाङ्गनाजनों के पाद-पंकज-रज-स्पर्श करने के लिये। देखा (जाना) कि गोपा-ङ्गना तो श्रीकृष्ण की सेवा कर रहीं हैं। जिन श्रीकृष्ण के पाद-पंकज-रज के लिये गोपाङ्गनाएँ लालायित हैं, वे स्वयं श्रीराधारानी के पादारविन्द रज के लिए लालायित हैं। तब उन्होंने (श्रीलक्ष्मी ने) सोचा श्रीराधारानी की आराधना में उनकी (श्रीकृष्ण सहित गोपाङ्गनाओं की) आराधना हो जायगी। तब से श्रीलक्ष्मी जी श्रीराधारानी की सेवा में लग गयीं।

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम ॥

४. श्रीवृन्दावनस्थ यमुनाजी के पार समीपस्थ वन विशेष।

* श्रीहरिः *

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

द्वितीय-पुष्प

१- 'कृष्ण' अर्थात् अनन्त सत्ता और आनन्द-स्वरूप श्रीराधा-कृष्ण

भगवान् सर्वेश्वर 'सम्पूर्ण श्रीकृष्ण' राधा-कृष्ण हैं। यहाँ वाले कहते हैं, **'राधा बिना कृष्ण आधा'**। सचमुच में राधा के बिना कृष्ण आधे ही हैं। 'कृष्ण' शब्द का अर्थ क्या है ? कल आप सुन ही रहे थे—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मखण्ड २८)

'कृष्' कहते हैं, सत्ता को। अनन्त-अखण्ड-अतुलित सत्ता का नाम कृष्ण है। 'ण' का अर्थ है, निर्वृति। निर्वृति माने आनन्द। 'अनन्त आनन्द' और 'अनन्त सत्ता' दोनों को मिलाकर कृष्ण होता है। सत्ता माने 'भाव'। **'भू सत्तायां'** धातु से भाव (सत्ता) बनता है। अन्तःकरण में जो द्रवता होती है, उसको (द्रवता को) भाव कहते हैं। तात्पर्य यह है कि द्रवता विशिष्ट तत्-तद्-वस्तु से भावित अन्तःकरण का नाम भाव है। मानो किसी को कामिनी के दर्शन से कामोद्रेक हुआ। उस कामिनी-दर्शन-जन्य कामोद्रेक से द्रवीभूत अन्तःकरण में कामिनी की आकृति अंकित हो गयी। तो उस कामिनी दर्शन जन्य कामोद्रेक से द्रवीभूत-आकृति विशिष्ट अन्तःकरण का नाम 'भाव' है। यहाँ कामिनी उपलक्षण है **'तत्तद् विषय'** (उस-उस विषय) का। यहाँ आप समझ लीजिए कि श्रीकृष्ण के आकार से आकारित द्रवीभूत जो अन्तःकरण, उसी को 'भाव' कहते हैं।

भाव माने 'भावना'। भावना माने द्रवीभूत तत्तदाकाराकारित अन्तःकरण की वृत्ति। तो श्रीकृष्ण क्या हैं ? बड़े ही सरल शब्दों में कहते हैं, भावों का जो समुदाय वही 'श्रीकृष्ण' है। **'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपांगनानाम्'**—गोपांगनाओं का जो प्रेम है, वही पुञ्जीभूत होकर के श्रीकृष्ण हुआ है। **'मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्'**—

यदुवंशियों का जो भाग है, वही मानो श्रीकृष्ण के रूप में मूर्तिमान् हुआ है। 'एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनाम्'—श्रुतियों का—वेद-वेदान्तों का जो गुप्त धन है, वही मानो एकत्रित होकर के श्रीकृष्ण हुआ है। 'श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्'—निराकार-अखण्ड-निर्विकार जो ब्रह्म है, वही श्यामीभूत हो गया है।

इस तरह प्रेम माने भाव है। भाव का ही नाम ब्रह्म है। अन्तःकरण की द्रवता बिना प्रेम नहीं होता। अन्तःकरण में द्रवता आती है राग से, स्नेह से, मोह से, क्रोध से। बात सीधी-सी है। आप कथा सुनने यहाँ आ रहे थे। रास्ते में कई चीजें मिली होंगी। उनका आपको स्मरण नहीं होगा। कोई श्रोता कामुक रहा होगा, उसको किसी कामिनी-दर्शन से कामोद्रेक हुआ। उसका अन्तःकरण द्रवीभूत हो गया। द्रवीभूत अन्तःकरण में कामिनी का आकार अंकित हुआ। ऐसा श्रोता यहाँ बैठा हुआ उसकी याद कर रहा होगा। या किसी साँप का दर्शन हुआ। साँप के दर्शन से भय हुआ। भय से द्रवीभूत अन्तःकरण में साँप का आकार अंकित हो गया। सर्प का डर नहीं भूलता। कथा सुन रहा है, साँप का डर है। या कोई रास्ते में शत्रु मिला होगा, शत्रु के दर्शन से क्रोध हुआ। द्रवीभूत अन्तःकरण में शत्रु का आकार अंकित हुआ। अब वह भी नहीं भूलता। जिसमें राग नहीं, द्वेष नहीं, ऐसी वस्तुएँ रास्ते में सैकड़ों देखी होंगी। वे आपको याद नहीं। जिसके दर्शन से आपको काम नहीं हुआ, स्नेह नहीं हुआ, भय नहीं हुआ, द्वेष नहीं हुआ, उस वस्तु के दर्शन से आपके चित्त में द्रवता नहीं हुई। उसके स्वरूप का आकार आपके चित्त में अंकित नहीं हुआ। इस तरह जिसके प्रति काम, स्नेहादि होता है, उसके दर्शन से मन में द्रवता आ जाती है, कोमलता आ जाती है। द्रवीभूत अन्तःकरण जिस समय उस वस्तु को ग्रहण करता है, उस समय उसमें स्थायित्व होता है। इसलिए अग्नि के सम्बन्ध से द्रवीभूत लाक्षा (लाख) में रंग डाल दो, वह लाक्षा से एकदम एकम्—एक हो जायगा। इसी तरह, श्रीकृष्ण के दर्शन से गोपांगनाओं के अन्तःकरण में स्नेह का उद्रेक हुआ। स्नेह के उद्रेक से अन्तःकरण पिघलता गया। पिघले हुए अन्तःकरण में श्रीकृष्णचन्द्र की मधुर मनोहर मंगलमयी मूर्ति अंकित हुई। गोपांगनाएँ अनेक हैं। भाव अनेक हैं। इसलिए 'भावानां प्रेमानां पुञ्जीभूतं तत्त्वं श्रीकृष्णः' भाव अर्थात् प्रेम का जो पुञ्जीभूत तत्त्व वही श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहन-व्रजेन्द्रनन्दन के दर्शन से किसी के हृदय में काम पैदा हुआ, किसी के स्नेह पैदा हुआ, किसी के राग पैदा हुआ, किसी के हृदय में भय उत्पन्न हुआ, चित्त द्रवीभूत हो गया। किसी का मन काम से, किसी का स्नेह से, तो किसी का भय से पिघलता है। कंस का मन भय से पिघल गया। (भाग० १०. २. २४)

गोपाङ्गनाओं की परम पूज्या श्रीजी (राधारानी) तो सब की पूज्या हैं। वे तो एक प्रकार से प्रेमरूप ही हैं। 'श्रीजी' का अर्थ क्या है ? सेवा-भक्ति।

'श्रिञ् सेवायाम्' (श्रयते हरिं या सा श्रीः) भक्ति कहो, श्री कहो एक ही बात है। **'आराधनं राधा'**—आराधना ही राधा है। इस 'श्री' शब्द का, 'भक्ति' शब्द का और राधा शब्द का, एक ही अर्थ है। अनन्त-अनन्त भक्तों में विविध प्रकार की भक्ति है, सेवा है, उन सब में जो अनुस्यूत है, वे सब जिससे अनुप्राणित हैं, वह परम तत्त्व ही 'श्री' है। वही 'राधा' है। इस तरह सत्ता माने भावों का निर्यास (गोंद)। प्रेमों का लब्बोलबाब। श्रीरूप गोस्वामी आदिकों ने ऐसा माना है कि भक्तों के द्रवीभूत अन्तःकरण में आह्लादिनी-शक्ति का आविर्भाव होता है।

आह्लादिनी-शक्ति से युक्त द्रवीभूत जो अन्तःकरण है वह 'भक्ति' है। खाली द्रवीभूत अन्तःकरण की बात नहीं। द्रवीभूत अन्तःकरण में जो आह्लादिनी-शक्ति का विशेष आविर्भाव है, उसका महत्त्व है, वह भक्ति है। वह भक्तिरूपा ह्लादिनी-शक्ति फिर क्या है? तो हम कहा करते हैं कि जैसे श्रीगङ्गाजी में तरङ्ग एक चीज है और शीतलता, मधुरता, पवित्रता दूसरी चीज। तरङ्ग बहिरङ्ग है और शीतलता, मधुरता, पवित्रता अन्तरङ्ग। वैसे ही आनन्द-सुधा-सिंधु श्रीकृष्ण में तरङ्गरूपा नहीं, माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्रिस्वरूपा श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी हैं। जैसे अमृत में माधुर्य होता है, उसके विना अमृत अमृत ही नहीं, गङ्गाजल में शीतलता-मधुरता-पवित्रता होती है, उसके विना गङ्गाजल गङ्गाजल ही नहीं; वैसे ही जिस श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द में माधुर्यसार सर्वस्व की अधिष्ठात्री, राधारानी वृषभानुनन्दिनी नहीं हैं, वह श्रीकृष्ण तो 'राधा विना आधा' हैं। हम तो कहते हैं, 'राधा विना आधा कृष्ण' भी नहीं। आधे से भी कम ही हैं। वह आनन्द ही क्या, जिसमें माधुर्य-सार-सर्वस्व न हो! विना मिठास का कोई अमृत होता है? विना माधुर्य-सार-सर्वस्व का कोई आनन्द होता है? माधुर्य-सार-सर्वस्व सत्ता है—भाव है और जो 'ण' है वह निर्वृत्ति है—आनन्द है, वही कृष्ण है। माधुर्यसार-सर्वस्व और आनन्द दोनों मिलकर श्रीकृष्ण है। इस तरह, राधारानी वृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्णचन्द्र माने माधुर्यसार सर्वस्व विशिष्ट अचिन्त्यानन्त परम सुधासिन्धु भगवान्। तो आनन्दसिन्धु से माधुर्यसार सर्वस्व को जुदा (विलग)-पृथक् नहीं किया जा सकता। राधाकृष्ण माने गौरतेज संवलित श्यामतेज और श्यामतेज संवलित गौरतेज। इतना ही नहीं! श्यामतेज भीतर भी है और बाहर भी। गौरतेज भीतर भी है और बाहर भी है। एक गौरशीशी है, उसमें श्यामरस भरा है। बाहर से भी वह श्यामवस्त्र से ही परिवेष्टित है। आपने देखा है, श्रीराधारानी गौरतेज हैं और नीलाम्बर से परिवेष्टित हैं। राधारानी के भीतर भी कृष्ण-श्यामतेज है। इस तरह से जब हम कृष्ण बोलते हैं, तब यह न समझो कि कृष्ण अकेला है। अकेला कृष्ण होगा तो आधा होगा, पूरा कृष्ण होगा राधारानी के साथ ही। इसलिए द्वारकानाथ कृष्ण और मथुरानाथ कृष्ण हैं तो कृष्ण ही, पर हैं आधा ही, पूरा नहीं; क्योंकि उनके साथ श्रीराधारानी नहीं। मथुरानाथ श्रीकृष्ण के साथ, द्वारकानाथ श्रीकृष्ण के साथ राधारानी कहाँ हैं? राधारानी नहीं हैं।

वैसे स्वरूपतः राधारानी सर्वत्र हैं। श्रीराधारानी एक अभिव्यक्त हैं और एक अनभिव्यक्त, अर्थात् एक प्रकट हैं और एक अप्रकट। अप्रकट रूप से जैसे आनन्दकन्द सुधासिन्धु कृष्ण व्यापक हैं, वैसे ही माधुर्यसार सर्वस्व राधारानी भी व्यापक हैं। क्या ऐसा हो सकता है कि जहाँ आनन्द रहे, वहाँ माधुर्य न रहे ? आनन्द जहाँ रहेगा, माधुर्य वहाँ रहेगा ही। जहाँ-जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र होंगे, वहाँ-वहाँ माधुर्यसार सर्वस्व को अधिष्ठात्री राधारानी होंगी ही। लेकिन जहाँ राधारानी अप्रकट है, वहाँ आधा कृष्ण बोल देते हैं। जहाँ वे प्रकट हैं, वहाँ पूरा कृष्ण बोल देते हैं। यह भेद (विशेष-रहस्य) है। इस तरह 'कृष्ण' का अर्थ अकेले कृष्ण नहीं, राधाकृष्ण है।

२. शरण्य का स्वरूप और शरणागति

ऐसे श्रीराधाकृष्ण तत्त्व ही वस्तुतः जीवों के 'शरण्य' सिद्ध होते हैं। भक्ति शास्त्रों में शरणागति का बहुत बड़ा महत्त्व है। शरणागति की सिद्धि के लिए शरण्य की अपेक्षा है। शरण्य का निश्चय-निर्णय हुए विना शरणागति बढ़िया हो नहीं पाती। देखो ! रामचन्द्र ने समुद्र की शरण ग्रहण को—

'समुद्रं शरणं गतः'
'समुद्रं राघवो राजा शरणं गन्तुमर्हति'

(वाल्मीकि रा० युद्धकाण्ड १९-३०)

परन्तु उनकी शरणागति कहाँ सफल हुई ? विफल हो गयी। इस तरह राम असफल हुए। विभीषण ने शरणागति ली। विभीषण सफल हुये। राम शरण्य हैं। वास्तविक शरण्य वही हो सकता है, जो सर्वेश्वर-सर्वकारण-सर्वशेषी और सर्वसुलभ हो, अर्थात् जिसमें सर्वेश्वरत्व, सर्वकारणत्व, सर्वशेषित्व-परात्परत्व और सर्वसुलभत्व हो। भगवान् राम, भगवान् कृष्ण सर्वेश्वर, सर्वकारण, सर्वशेषी और सर्वसुलभ हैं, पर उनसे ज्यादा सुलभ श्रीजी (श्रीसीताजी, श्रीराधा जी) हैं। कोई चीज कितनी भी अच्छी क्यों न हो, पर यदि सुलभ न हो तो हमारे लिए किस काम की ?

भगवान् जहाँ सर्वेश्वर-सर्वकारण-सर्वशेषी हैं, वहाँ सर्वसुलभ भी हैं।

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥

(भागवत ३-२-२३)

"आश्चर्य है कि जिस लोक बालघ्नी दुष्टा राक्षसी पूतना ने प्रभु को मार डालने की इच्छा से कालकूट हालाहल विष संयुक्त स्तन्य पान कराया, पर उसे भी जिसने माता को प्राप्त होने योग्य सद्गति प्रदान की, उस भगवान् से अधिक दयालु-कृपामय और दूसरा कौन होगा ?"

जिघांसा की इच्छा से कालकूट मिश्रित स्तनपान कराने वाली को भी वह गति दे दी जो ऊँचे-से-ऊँचे योगियों को मिलती थी। धात्री-माँ[५] को जो गति मिल सकती है, वही गति उस बकी को भी सुलभ हुई। वृन्दावन में रहने वाले बन्दरों-मोरों-मृगों को भी वही गति प्राप्त हुई।

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता-
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥

(भागवत १०. २१. ११)

"अहो ! हरिणाङ्गनाएँ धन्य हैं, जो अपने पतियों के साथ उन नन्द-नन्दन का प्रेमावलोक से पूजन करती हैं, दर्शन करती हैं। उनके पति "कृष्णसार" (**कृष्ण एव सारो येषां ते**) हैं। हम गोपाङ्गनाओं के पति तो अभिमानसार हैं। वे अपनी हरिणियों को साथ लेकर दर्शन करने आते हैं। सब जगह जाकर दर्शन करते हैं। अतः वे हरिणियाँ धन्य हैं।"

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि यह तो पुष्टिमार्ग है, '**पोषणं भवनुग्रहः**' जहाँ अपने साधनों से जीव का काम न बनता हो, वहाँ भगवान् के अनुग्रह से जो काम बनता है, वह पुष्टिमार्ग है। भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्यरूप को जानना, फिर पूजा की सामग्री संग्रह करना, फिर पूजा करना ये कठिन बातें हैं। सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् को जानना, फिर भगवान् का ही सनातन अंश स्वयं को जानना, पूजा को जानना, पूजा की सामग्री जानना और उनका संग्रह करना, फिर पूजा करना, भला यह सब हरिणियाँ कैसे कर पायेंगी ? ये सामग्री मनुष्यों को सुलभ नहीं होतीं तो हरिणियों को कहाँ प्राप्त होंगी ? लेकिन भगवान् के अनुग्रह से जो हरिणियाँ मूढ़ हैं, जानती नहीं हैं कि परब्रह्म कृष्ण क्या हैं ? अपने आपको भी नहीं जानती कि हम कौन हैं ? यह भी नहीं जानतीं कि कृष्ण की पूजा कैसे होती है ? न तो पूजा की सामग्री को ही जानती हैं और न उन्हें संकलन करना ही, उनसे भी कृपालु भगवान् ने वैसा पूजन करवा लिया कि जैसा किसी अन्य से

---

५. 'यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननी गतिम्'
(भा० १०. ६. ३८)

बनता ही नहीं। हरिणियाँ तो केवल प्रेम भरे नेत्रों से देखना जानती हैं; उनका सर्वस्व यही है। उन्होंने वीक्षण से ग्वाल-वेशधारी छैल-छवीले भगवान् का पूजन किया, उस रसिक चूड़ामणि भगवान् को हरिणियों के नेत्र देखकर हरिणाक्षी प्रेयसी का स्मरण हो आया। यही हरिणीकृत पूजन हो गया। प्रियतम का स्मरण कराने से बढ़कर और क्या पूजन होगा? भगवान् ने उनके पूजन को स्वीकार किया और प्रति-पूजन-बदले में उन्हें देख लिया। यही तो ऐश्वर्य है कि छोटे-से-छोटे और बड़े से-बड़े अवस्थानुसार प्राप्त साधनों से सभी पूजा कर सकें। हरिणियों का यह पूजन कर्म से नहीं, ज्ञान से था। देखना ज्ञान है।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
(भगवद्गीता ४. ३३)

द्रव्यमययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ उत्कृष्ट है, सर्वश्रेष्ठ है। हरिणियों ने तो ज्ञानयज्ञ से भगवान् की पूजा की। इसलिए मूढ़ होने पर भी धन्य हैं। इसलिए भी धन्य हैं, क्योंकि इनके पति 'कृष्णसार' हैं। **'कृष्ण एव सारो येषां ते कृष्णसाराः'** इनके पतियों ने असार संसार में कृष्ण को सार माना है। गोपाङ्गना कहती हैं—

"अस्मत् पतयस्तु अभिमानसाराः"

'हमारे पति तो अभिमान को ही सार मान बैठे हैं। इनके पति तो कृष्णसार हैं। वे स्वयं भी कृष्णदर्शन करते हैं और अपनी पत्नियों को साथ लेकर सपत्नीक भगवान् की पूजा करने आये हैं। हम सौभाग्यशालिनी होतीं तो हमारे पति कृष्णसार होते न कि अभिमानसार। पर क्या करें? कृष्णसार की पत्नियाँ ये हरिणियाँ सौभाग्यशालिनी हैं, अभिमानसार की पत्नियाँ हम गोपियाँ अभागिनी हैं।' कृष्णसार मृग की पत्नियाँ हरिणियाँ किस प्रकार पूजन करती हैं? हाथ से पुष्पादि उपहारों को तो ये संकलित कर समर्पित कर सकतीं नहीं। पावों से 'कृष्णसार' निज पतियों के साथ कृष्ण-दर्शन के लिए आ जाती हैं और नेत्रों से श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द को निरखती हैं, निहारती हैं। नेत्र जिससे कि रूप का दर्शन होता है, वह पञ्चज्ञानेन्द्रियों में एक हैं। हस्त (हाथ) जिससे कि पूजा (वस्तु का आदान-प्रदान-समर्पण) होती है, वह पञ्चकर्मेन्द्रियों में एक है।

'प्रणयावलोकैः' हरिणियाँ साक्षात् कर्मेन्द्रियों से तो नहीं, किन्तु नेत्ररूप ज्ञानेन्द्रिय से प्रणय-प्रेम पूर्वक भगवान् का अवलोकनरूप उत्तमोत्तम पूजन करती हैं। इनके नेत्रों का दर्शन कर श्यामसुन्दर मोहित होते हैं। इनके नेत्रों का दर्शन करते ही हरिणाक्षी श्रीराधारानी के नेत्र श्रीकृष्णचन्द्र के मन में जगमगाने लगते हैं, क्योंकि हरिणाक्षी राधारानी के नेत्रों के तुल्य इनके नेत्र हैं। पूजा में

अर्घ्य प्रदान किया जाता है। ये प्रणयावलोकनरूप अर्घ्य से श्यामसुन्दर की पूजा करती हैं। प्रणय-प्रेम-स्नेह बड़ी उत्कृष्ट अवस्था है।

प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः।

(भागवत ११. २. ५५)

प्रणयरूपी रस्सी भगवान् के चरणों को बाँधने वाली है। जिसके मन में प्रणय है, वह भगवान् को बाँध लेता है। भगवान् प्रणयरूप रसना से प्रणययुक्त प्रेमी के हृदय में बँध जाते हैं। जब भक्त रसना (प्रेमरज्जु, प्रेमपाश) से भगवान् को अपने हृदय में बाँध लेता है (भगवान् भक्त के प्रेम से जब बँध जाते हैं), तब चाहते हुए भी भक्त के हृदय को छोड़ नहीं सकते।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्ध-
रिरवशाभिहितोप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनयाधृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(भागवत ११. २. ५५)

जिस प्रकार पिघली हुई लाख में यदि हल्दी मिला दी जाय तो फिर उन दोनों का पार्थक्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार भक्त के द्रवीभूत मन से जब भगवान् के स्वरूप का तादात्म्य हो जाता है, तब उनका कभी विप्रयोग नहीं होता। फिर भक्त-हृदय भगवान् को नहीं भूल सकता और भगवान् भक्त के हृदय को नहीं छोड़ सकते। हरिणियों ने भी अपने नेत्रों में प्रेम रूपी रस लेकर श्रीकृष्ण को अर्घ्य दिया। ऐसी पूजा किससे बनती है, भगवत्कृपापात्र से ही बन पाती है। जिस पर अकारण करुणकरुणावरुणालय भगवान् की विशेष अनुकम्पा बरसती है, उसी से ऐसी पूजा बन पाती है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रनन्दन मदनमोहन के वेणुगीतामृतका आस्वादन करके प्रणय पूर्वक हरिणियाँ मदनमोहन का बार-बार अवलोकन करती हैं। हरिणियों पर यह भगवदनुग्रह हो तो है। जहाँ जीव की निज शक्ति काम न करे, जहाँ उसके पास अपनी सामग्री कुछ न हो, अपनी कोई विद्या काम न करे, वहाँ अकारण-करुण-करुणावरुणालय सर्वेश्वर प्रभु दिव्य-शक्ति प्रदान करके अपनी पूजा करा लेते हैं।

भगवत्कृपा से ही सधनेवाली ऐसी जो पूजा है, आराधना है, भक्ति है, प्रीति है,वह तो असल में भगवान् का ही स्वरूप है। आनन्द-सिन्धु का माधुर्यसार-सर्वस्व-स्वरूप ही है, आनन्दसिन्धु अलग है माधुर्यसार–सर्वस्व अलग है, ऐसा नहीं। आनन्दसिन्धु का माधुर्यसार-सर्वस्व आत्मा ही है। माधुर्यसार-सर्वस्व न होगा तो आनन्दसिन्धु आत्माहीन हो जायेगा। जब आत्मा ही नहीं, तब कहाँ का आनन्दसिन्धु ! इसी दृष्टि से कहते हैं, राधिका कृष्ण की आत्मा हैं—

'आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।'
(श्रीस्कान्दे द्वितीये श्रीमद्भा०माहा० २. ११)

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः ॥
(श्रीस्कान्दे द्वितीये भाग० माहा० १. २२)

कृष्ण आत्माराम हैं। आत्मा में ही रमण करते हैं। अर्थात् आनन्दसिन्धु श्रीकृष्ण की माधुर्यसार सर्वस्व जो आत्मा-राधा उसी में वे रमण करते हैं। श्रीकृष्ण को आत्माराम कहने का यही अर्थ है।

३. सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व के साथ ही सौलभ्यातिशयत्व के कारण श्रीजी की शरणागति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण—

इस तरह श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। उनकी पूजा, उनकी शरणागति, बड़े कल्याण की चीज है। शरणागति के लिए शरण्य चाहिए। शरण्य का मूल है—परत्व और सौलभ्य। यहाँ एक बात समझ लो। कई दृष्टियों से अलग-अलग बात बोली जाती है। हमारी बातों में शङ्का हो तो पूछ लेना; क्योंकि भिन्न-भिन्न अभिप्राय से हम बातें करते हैं। भक्त लोग कहते हैं कि भगवान् की शरणागति से भी ज्यादा अच्छी—ऊँची श्रीजी की शरणागति है। परत्व में भगवान् में और श्रीजी में दोनों में समानता ही है। परत्व में कोई अन्तर (फरक) नहीं है। सर्वेश्वरत्व-अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकत्व तो दोनों में समान ही है।

तस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा[६] राधामाधवरूपकम् ॥
(सम्मोहन तंत्र गोपाल सहस्र० १९)

'एक ही अनन्त-अखण्ड-निर्विकार ब्रह्मज्योति राधा-माधव दो रूपों में प्रकट हुई है।' फिर भी सौलभ्य ज्यादा है राधारानी में; क्योंकि भगवान् को अनन्त ब्रह्माण्ड के उत्पादन, पालन, संहरण का प्रपञ्च बहुत रहता है। समय नहीं मिलता बात सुनने के लिए। वे तो जगत् के उत्पादन, पालन, संहरण में ही व्यस्त रहते हैं। इसलिए भक्तों की जो दुःख गाथा होती है, उसे माँ सुनती हैं। सुनने के बाद भगवान् को सुनाती हैं। **'श्रु श्रवणे'** धातु से 'श्री' शब्द बनता है। ऐसी स्थिति में **'शृणोति भक्तानां दुःख गाथाः श्रुत्वा च भगवन्तं श्रावयति इति श्रीः'** जो भक्तों की दुःख गाथा को सुनती हैं और फिर भगवान् को सुनाती हैं वे 'श्री' हैं। भक्तों की दुःख गाथा सुनने का किसको अवकाश है? श्रीजी ही धैर्य-पूर्वक सुनती हैं। भक्त के मुख से भगवान् उसकी दुःख गाथा जानें सुनते-न-सुनते,

---

६. 'एकञ्ज्योतिः' (अन्यत्र)

पर श्रीजी के मुख से तो उन्हें सुनना ही पड़ता है। तुलसीदासजी महाराज यही तो प्रार्थना करते हैं—

कबहुक अंब अवसर पाय।
मेरिओ सुधि द्याइवी, कछु करुण-कथा चलाय।।
(विनय पत्रिका ४१)

अनन्त ब्रह्माण्डनायक भगवान् सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् प्रभु के दरबार तक अपनी बात पहुँचानी हो, श्रीजी से अपना सुख-दुःख, हर्ज-गर्ज सब कुछ कहनी हो तो श्रीजी ही सुनने को तैयार हैं। इसलिए रामानुज सम्प्रदाय में यह सिद्धान्त माना गया है कि ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री महाभगवती लक्ष्मी हैं, एक भूदेवी है और एक लीला। ये तीन शक्तियाँ हैं। ये भक्तों की रक्षा में तत्पर रहती हैं। भगवान् कहते हैं—अपराधी को दण्ड देना तो हमारा नियम है, नियम उल्लंघन कैसे होगा ?

जौं नहि दण्ड करौं खल तोरा।
भ्रष्ट होई श्रुति मारग मोरा।।
(रामचरित मानस ७ १०६ ४)

भगवती कहती हैं—

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।।
(वाल्मीकि रा० युद्धकाण्ड ११३. ४५)

"श्रेष्ठ पुरुष को चाहिए कि कोई पापी हो या पुण्यात्मा अथवा बध के योग्य अपराध करने वाला ही क्यों न हो, उन सब पर दया करे; क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जिससे कभी अपराध होता ही न हो।"

कथा प्रसिद्ध है। लङ्का-विजय के बाद हनुमान्‌जी को श्रीरामचन्द्र ने कहा—'जरा जानकी को शुभ समाचार सुना दो। मेघनाद, कुम्भकर्ण मारा गया; रावण-वध हो गया। जानकी निश्चिन्त रहें। विभीषण भक्त है। अब वे उसकी लङ्का में हैं।"

श्रीहनुमान् जी ने सब समाचार सुना दिया। माँ बहुत प्रसन्न हुईं। पर इस शुभ संवाद के अनुरूप भूमण्डल में उन्हें कोई भी पुरस्कार की सामग्री नहीं दिखाई दी, जिसे वे हनुमान्‌जी को दे सकें।

माँ को प्रसन्न देखकर श्रीहनुमान् ने कहा— माँ ! हम आज एक वरदान मागेंगे।'

भगवती सीता को बड़ा आश्चर्य हुआ। जो कभी कुछ माँगता नहीं, वही आज वरदान माँगना चाहता है।

हनुमान् ने कहा—"माँ हम जब आपके दर्शन करने आये थे, तब राक्षसियाँ आपको डरा रही थीं। हमें आप आज्ञा दें, हम इनमें किसी की नाक काट लें, किसी का हाथ तोड़ दें, किसी का पैर तोड़ दें।'

माँ ने कहा—"वत्स! तुम तो राघवेन्द्र के दरबार में रहते हो, वहाँ तो **'आनृशंस्यं परो धर्मः'** राघवेन्द्र के दरबार में आनृशंस्य—अक्रूरता परम धर्म है। बेटा! तुम यह क्या सोचते हो?"

हनुमान् ने कहा—"ये अपराधिनी हैं। बड़ी दुष्टा हैं।

माँ ने कहा—"वत्स! ये रावण की नौकरानी थीं, परवश होकर वैसा करती थीं।"

कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥
(वाल्मीकि रा० युद्ध का० ११३.४५)

"आर्य अपराधियों पर भी दया करें; क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जिससे कभी अपराध न होता हो!"

इस तरह करुणामयी पराम्बा का कहना है, "दुनियाँ में कोई प्राणी है, जिससे पाप न बना हो! कोई ऐसा पौधा है, जिसे वायु का स्पर्श न हुआ हो।"

इस तरह माँ ने उन राक्षसियों को बचा लिया। इसलिए श्रीरामानुज सम्प्रदाय के एक भक्त कवि कहते हैं—

मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तञ्च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः
सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी ॥
(गुणरत्नकोश ५०)

"हे मातः! आपने ताजा अपराध करने वाली राक्षसियों की हनुमान्‌जी से रक्षा करके श्रीराम की गोष्ठी छोटी कर दी, क्योंकि उन्होंने तो जयन्त और विभीषण की रक्षा, शरणागत होने पर की थी, परन्तु आपने तो शरण होने की अपेक्षा विना ही उनका रक्षण किया।"

रक्षा तो रामचन्द्र भी करते हैं, लेकिन रक्षा में एक शर्त है। क्या शर्त है? यही कि **'शरणं'** कहना पड़ता है। कौवा के रूप में जयन्त ने आकर जनकनन्दिनी के वक्षोज पर चरण-प्रहार किया। रुधिर चला। राघवेन्द्र ने देखा। एक तिनका ले लिया। तिनके को ही ब्रह्मास्त्र से अभिमन्त्रित करके छोड़ दिया। वह तृण ब्रह्मास्त्र बन करके जयन्त के पीछे पड़ा। जयन्त त्रैलोक्य में भटकता रहा। इन्द्रलोक, शिवलोक, ब्रह्मलोक गया। पर किसी ने बैठने तक को नहीं कहा। तब

नारद ने उस विकल कौवे को देखा। कोमलचित्त संत होने के कारण उन्हें दया आयी।

नारद देखा विकल जयन्ता।
लागि दया कोमल चित संता।।
(रामचरित मानस ३.१.९)

उन्होंने जयन्त से कहा—"क्यों इधर-उधर भटक रहा है? राघवेन्द्र की शरण जा, इसी से काम बनेगा।"

जयन्त ने कहा—'क्या करूँ जाके! इतना बड़ा अपराध किया है। क्या मुँह लेकर जाऊँ! क्या कहूँगा?"

नारद ने कहा—'जाकर तुम कहना, पहले हम प्रभाव देखने आये थे। प्रभो! अब हम आपका स्वभाव देखने आये हैं।' नारदजी के कहने पर जयन्त राघवेन्द्र के पास गया। '**शरणं**' कहा, तब रक्षा की। इसलिये भगवती सीता से कहा गया है कि 'आपकी जो आकस्मिकी क्षान्ति है कि शरण हुए विना ही हम सान्द्र-महापापियों को आपसे आश्वासन मिलता है, इससे विश्वास होता है कि हमारी रक्षा होगी। अभय होगा। विभीषण ने पुत्र, दारा, मित्र सबको छोड़कर के श्रीराम की शरणागति स्वीकार की।

भवन्तं सर्वभावानां शरण्यं शरणं गतः।
परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च।।
(वाल्मीकि रा० यु० का० १९.५)

"हे श्रीरामभद्र! आप समस्त प्राणियों को शरण देने वाले हैं। इसलिये मैंने आपकी शरण ली है। अपने सभी मित्र, धन और लङ्कापुरी को छोड़कर आया हूँ।"

इस तरह, भगवान् से रक्षा के लिए '**शरणं**' कहने की आवश्यकता है। श्रीजी को इसकी भी अपेक्षा नहीं है। विना '**शरणं**' कहे भी आकस्मिकी करुणा के कारण रक्षा होती है। क्या बात है कि वालि को भगवान् ने मार दिया और जयन्त को नहीं मारा? अपराधी तो जयन्त भी था, पर उसकी रक्षा हो गयी। हेतु यही है कि जयन्त के समय में जनकनन्दिनी थीं, जब कि वालि-वध के समय जनकनन्दिनी उपस्थित नहीं थीं। पिता कान पकड़ता है बालक का। माँ पास में होती है तो रोकती है। माँ पास में नहीं तो पिता बालक के कान पकड़े, थप्पड़ भी मारे तो कौन रोके?

इस तरह निर्हेतुकी क्षान्ति श्रीजी में है। सौलभ्य अधिक है। सर्वेश्वरत्व, सर्वोत्कृष्टत्व, परात्परत्व जैसे भगवान् में हैं, वैसे ही महालक्ष्मी भगवती में, लेकिन सौलभ्य सबसे अधिक है। इसलिए परात्पर परब्रह्म भगवान् की

शरणागति ग्रहण करनी चाहिए अथवा परब्रह्मरूपिणी भगवती जनकनन्दिनी सीता, वृषभानुनन्दिनी राधा, राजराजेश्वरी त्रिपुर सुन्दरी पराम्बा की शरणागति ? भक्तों ने कहा—'जगदम्बा श्रीजी की शरणागति ही अधिक लाभप्रद है।' सर्वेश्वरत्व, सर्वकारणत्व, सर्वशेषित्व और वात्सल्यपूर्ण मातृत्व की दृष्टि से श्रीजी की शरणागतिही सर्वश्रेष्ठ है। श्रीरामानुज सम्प्रदायवाले कहते हैं—भूदेवी, श्रीदेवी और लीलाशक्ति में लीलाशक्ति बड़ी सुन्दरी हैं। जैसी सुन्दरी श्रीराधारानी। जब भगवान् किसी जीव पर विशेष रुष्ट (नाराज) होते हैं, तब वे अपनी सुन्दरता का उपयोग कर, भगवान् को मोहित कर,उस जीव की रक्षा करती हैं। वे हाव-भाव कटाक्ष से यहाँ तक कि नीवी-शिथिलीकरण से भी भगवान् को मोहित करती हैं। जब भगवान् कहते हैं कि 'कहो क्या करूँ ?' तब वे कहती हैं—'बस, इतना-सा काम करोकि उस जीव को छोड़ दो। उस जीव को कुछ मत कहो।' भगवान्— अच्छा, अच्छा, ठीक है।'

४. श्रीराधाचरणकमलाश्रित रज में योगीन्द्र दुर्गमगति मधुसूदन के वशीकरण की अद्भुत अनन्तशक्ति

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्ति
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि॥

(राधासुधानिधि ३)

श्रीराधारानी का तो इससे भी ऊँचा चरित्र है, उनके चरणारविन्द की रज तो 'सद्योवशीकरण चूर्ण अनन्त शक्ति' मानी गयी है। ब्रह्म, रुद्र, सनकादिक, भीष्मादि, नारदादि, शुकादि बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र-अमलात्मा परमहंस प्यार से, राग से, नाना प्रकार के हाव-भाव से बड़ा जोरदार प्रयास करते हैं भगवान् को पाने के लिए। लेकिन भगवान् उनकी शक्ति से, साधना से, नहीं मिलते। **'आलक्षितो न'** में **'आ'** का अर्थ है **'ईषदपि'**, **'आलक्षितः'** अर्थात् **'ईषदपि लक्षितः'** ब्रह्म, रुद्र, शुकादि के प्रति भगवान् का स्वरूप कथञ्चित्-मात्र ही लक्षित होता है, पूर्णरूप से तो लक्षित होता ही नहीं ऐसे,जो 'पुरुष' वे ही पूर्णतम पुरुषोत्तम हैं—

'पूर्णमनेन सर्वं कार्यजातं, पुरि शयनाद् वा'

जो हमारे आपके प्राणिमात्र के स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर रूप पुरों में निवास करते हैं, श्रीवृन्दावनधाम में श्रीजी की पुरी में निवास करते हैं, उन्हें भी श्रीराधारानी के पादारविन्द की धूलि (रज) सद्यः वश में कर लेती है। परमपुरुष पुरुषोत्तम मदनमोहन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द को मोहित कर—वश में

करने के लिए श्रीजी को लीलाशक्ति के समान न तो सौन्दर्य-माधुर्य दिखाना पड़ता है, न हाव-भाव ही प्रदर्शित करना पड़ता है और न नीवी (नीवि) शिथलीकरण ही। उनके पादारविन्द की रज (धूल) में ही वह स्वाभाविक चमत्कृति है, जिससे योगीन्द्र दुर्गमगति मधुसूदन भी मोहित होकर वशीभूत हो जाते हैं। जिस पर वह रज पड़ जाय, उस पर प्रभु अनुकूल हो जाते हैं—प्रसन्न हो जाते हैं। उसके सभी अपराधों को क्षमा कर देते हैं। इस रज की महिमा ही अद्‌भुत है। इसके प्रभाव से प्रभु तत्काल-सद्यः वशीभूत हो जाते हैं। मन्त्र-तन्त्र को साधने में महीनों लग जांय, सालों लग जाय, पर यहाँ तो सद्यः अर्थात् एकदम प्रभु को अनुकूल करने का सामर्थ्य है।

'तद्‌वशो दारुयन्त्रवत्' (भागवत १०. १७. ७)

जैसे दारुयन्त्र (कठपुतली) सूत्रधार की इच्छा के अनुसार नृत्य करता है, वैसे ही श्रीराधारानी की दिव्य मङ्गलमय चरणारविन्द-रज के प्रभाव से भक्त की इच्छा के अनुसार प्रभु हो जाते हैं। इसी दृष्टि से तो श्रीकृष्णचन्द्र को शरणागति से भी उत्कृष्ट राधारानी की शरणागति है। उन श्रीराधारानी के चरणारविन्द का रसास्वादन करना, चरणामृत का सेवन करना और चरणारविन्द रज का चिन्तन करना, मङ्गलमय स्वरूप का अनुसन्धान करना—श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द को वशीभूत करने के अमोघ उपाय हैं।

५. वृन्दाविपिन, गोपाङ्गनाजन, श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीनिकुञ्ज मन्दिराधीश्वरी-राधा-माधुरी का दार्शनिक रीति से अनुपम अवगाहन

राधाकरावचितपल्लववल्लरी के
राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थली के ।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके
राधा विहारविपिने रमतां मनोमे ॥
(राधासुधानिधि १३)

"श्रीराधा के कर-कमलों से चुने गये कोमल पत्ते जिनके हैं ऐसी लताओं वाले, श्रीराधा-चरण-कमलों के चिह्नों से सौभाग्यसंपन्न मनोहर स्थल वाले और श्रीराधा के यशोगान से चहचहाते मत्त पक्षियों के समूह वाले श्रीराधा के ऐसे विहारवन वृन्दावन में मेरा मन निरन्तर रमता रहे।"

श्रीराधा-विहार-विपिन, गोपाङ्गना—कृष्णचन्द्र और राधारानी के विषय में ऐसा माना गया है कि आनन्द सुधासिन्धु में एक चिन्मय मणिद्वीप है। इसी को यों भी माना गया है कि पूर्णानुराग-रससार-सरोवर में एक कमल उत्पन्न हुआ। पानी के सरोवर में मिट्टी के पङ्क से कोई पङ्कज उत्पन्न होता है,

उसकी आभा-प्रभा-शोभा, शीतलता-मधुरता-सरसता का वर्णन करते-करते कवीन्द्रगण अघाते नहीं। दुग्ध के सरोवर में कहीं दुग्धसार-सर्वस्व मक्खन (नवनीत) रूप पङ्क से कोई पङ्कज उत्पन्न होय तो उसकी सुन्दरता–मधुरता कैसी अद्भुत होगी ? यह वर्णन उसी प्रकार है जिस प्रकार संजय ने अर्जुन के लिए अभिव्यक्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के विश्वरूप के सम्बन्ध में कहा है—

दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।
(भगवद्गीता ११. १२)

"हे राजन् ! आकाश में सहस्र-हजार सूर्यों के एक साथ उदित होने से उत्पन्न हुआ जो प्रकाश होवे, वह भी उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित् ही होवे !"

ऐसे स्थलों में 'अभूतोपमा' होती है। फिर कहीं, सच्चिदानन्द-सरोवर में सच्चिदानन्द-रस-सार-सर्वस्व पङ्क से कोई पङ्कज उत्पन्न हो तो उसकी मधुरता, सरसता, शीतलता कितनी अद्भुत होगी ? फिर कहीं, सच्चिदानन्दसार, पूर्णानुराग-रससार सरोवर में पूर्णानुराग-रससार-सर्वस्वरूपी पङ्क से कोई पङ्कज प्रादुर्भूत हुआ हो तो उसकी आभा, प्रभा, शोभा, सरसता, मधुरता, शीतलता कितनी अद्भुत होगी ?

भावुकों ने माना है कि राधा-विहार-विपिन श्रीमद् वृन्दावनधाम पूर्णानुराग-रससार-समुद्भूत एक सरोज है। उस सरोज में जो पीले-पीले केसर (केशर) हैं, वे श्रीराधारानी की सखी गौराङ्गी गोपाङ्गनाएँ हैं। उन केसरो में जो पराग है, वह श्रीकृष्णचन्द्र हैं। परागों में जो मकरन्द है, वही श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी हैं।

इस तरह श्रीराधारानी में परत्व उत्कृष्ट है। जो उनके पादारविन्द की रज का चिन्तन करता है, उनके नामामृत का आस्वादन करता है, प्रभु उसके वशीभूत हो जाते हैं। उसे क्षमा माँगनी नहीं पड़ती। चरणरजका दर्शन और स्पर्श करने वाले के प्रति अपने आप ही एकदम प्रसन्न हो जाते हैं। श्रीराधारानी की चरण-रज को छोड़कर क्या सहारा है ? ऐसे श्रीवृन्दावनधाम का लोकोत्तर चमत्कार है। यहाँ के जो वृक्ष हैं, उनके सामने कल्पवृक्ष, झखमारते हैं। कल्पवृक्ष से जो कुछ माँगो देगा। विमान माँगो देगा, अप्सरा माँगो देगा, सम्पत्ति माँगो देगा, पर कल्पवृक्ष से कहो कि हमें सर्वेश्वर-सर्वशक्तिमान् प्रभु को पकड़ा दो तो वेचारा हाथ पसारेगा—असमर्थता व्यक्त करेगा। कल्पवृक्ष में यह चमत्कार नहीं, कामधेनु में यह चमत्कार नहीं, चिन्तामणि में यह चमत्कार नहीं कि हाथों-हाथ भगवान् को पकड़ा दे। लेकिन ये जो वृन्दावन के वृक्ष हैं, कल्पवृक्ष से अनन्तकोटि गुणित फल प्रदायक हैं।

यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम् ॥
(भागवत १०. १२. १२)

"जिन भगवान् के चरणों की धूलि जन्म-जन्मान्तरों की तपस्या से नहीं मिलती, वे स्वयं ग्वाल-बालों के बीच में खेल रहे हैं।" अथवा—'पादपांशु' माने वृक्षों की किरण। वृन्दावन के वृक्षों की किरण बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रों-अमलात्माओं को बहुत तपस्या करने पर भी नहीं दीखती। उपलक्षण है यह। श्रीधाम वृन्दावन की हरेक वस्तु इसी प्रकार दिव्य है। सुना है न, श्रीहरिदास के शिष्य तानसेन ने दीपक राग गाया तो दीपक प्रज्वलित हो गया।

बादशाह ने कहा, 'तानसेन! तुम्हारे समान दुनियाँ में कौन गायक-गन्धर्व है?'

तानसेन ने कहा—'बस, महाराज! आप कृपा करो। इतनी प्रशंसा मत करो। हमारे श्रीगुरुदेव के सामने हम तो कुछ भी नहीं।'

बादशाह ने कहा—'अच्छा कौन हैं वे?' तानसेन—'श्रीहरिदास स्वामी स्वनामधन्य' बादशाह—'उन्हें यहाँ ले आओ।' तानसेन—'वे राजदरबार में नहीं जाते। जहाँ कीर्ति लाड़िली वृषभानुनन्दिनी और नन्दनन्दन श्यामसुन्दर विहार करते हैं, वहीं उनका राग है, अन्यत्र नहीं।'

राजा आया। सौभाग्यशाली था। महात्मा का [illegible] हुआ। प्रार्थना की (कि) 'हमें कुछ आज्ञा दें तो कुछ सेवा करूँ!'

महात्मा ने कहा—'जाओ! केशीघाट (केसीघाट) का एक कोना टूटा हुआ है, उसे बनवा दो।'

गया केशीघाट। महात्मा के अनुग्रह से केशीघाट का दिव्य दर्शन हुआ। श्रीहरिदास जी महाराज से आकर बोला—'महाराज! मैं अपनी सारी बादशाही बेच डालने पर भी जिन रत्नों से वह घाट बना है, उस प्रकार के रत्न का एक टुकड़ा भी प्राप्त कर नहीं सकता।' महात्मा ने कहा—'जा तुझे दर्शन हो गया, यह दर्शन सबको नहीं होता।'

यह भूमि वस्तुतः जैसी है, वैसी प्रतीत नहीं होती। इसीलिए कहा—'यत्पादपांशु........', जितात्मा योगीन्द्र भी यहाँ के पादपांशु को जन्म-जन्मान्तरों तक तपस्या करके भी नहीं देख सकते। वृन्दावन धाम के वृन्दा (तुलसी), कदम्ब, निम्ब, तमाल, चन्दनादि अनेकानेक प्रकार के वृक्ष हैं जो अद्भुत सुन्दरता, मधु-

रता के द्वारा लोकोत्तर सौगन्ध्य द्वारा प्रिया-प्रियतम के मन को बलात् आकर्षित करते हैं।[७] इन वृक्षों की जो वल्लरी हैं, उन्हें श्रीराधारानी अपने मङ्गलमय हस्तारविन्द से स्पर्श करती हैं। इसी तरह वृक्ष, गुल्म, लता, तरु भगवान् श्याम-सुन्दर के नखस्पर्श करके उसी प्रकार पुलकावली से सुशोभित हैं, जिस प्रकार गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णचन्द्र के नखस्पर्श से रोमाञ्चकण्टकित होकर सुशोभित होती हैं। इस तरह, श्रीराधा-कृष्ण के करस्पर्श से यहाँ के तरु-लता-गुल्मादि धन्य-धन्य हो रहे हैं, मधुक्षरण कर रहे हैं। श्रीकृष्ण के कर स्पर्श का जब अद्भुत प्रभाव है, तब श्रीराधारानी के मङ्गलमय अनुपम करस्पर्श का अद्भुत प्रभाव हो, इसमें कहना ही क्या ?

राधासुधानिधिकार कहते हैं—

राधाकरार्वचितपल्लववल्लरीके,
राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके,
राधाविहारविपिने रमतां मनो मे ॥

(राधासुधानिधि १३)

जिन राधारानी पादारविन्द के लिए श्रीकृष्ण लालायित रहते हैं, उन्हीं श्रीराधारानी के करारविन्द से संस्पृष्ट वृक्षों के भाग्य का क्या कहना ? श्रीजयदेव दूसरी भावना के कवि हैं। उनके मत में श्रीकृष्ण राधारानी के उदार-पाद-पद्म (चरण-कमल) अपने सिर पर पधरवाना चाहते हैं—

'धेहि मम शिरसि पादपल्लवमुदारम्'[८]

---

७. श्रीमद्वृन्दावनं रम्यं पूर्णानन्दरसाश्रयम्
भूमिश्चिन्तामणिस्तोयममृतं रस पूरितम्।
वृक्षाः सुरद्रुमास्तत्र सुरभीवृन्द मण्डितम्
सदाकैशोररूपैश्च तरुणीतरुणैर्युतम् ॥
(बृ० ब्र० सं० उ० पा० २ अ०)

८. स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनं धेहि पदपल्लवमुदारम्।
ज्वलति मयिदारुणो मदनकदनारुणो हरतु तदुपाहितविकारम् ॥
(गीतगोविन्द १०. ७)

'धेहि'—'देहि' इति पाठः। 'कदनारुणो'—'कदनानलो' इति पाठः ॥

हे राधे ! मम शिरसि उदारं चरणलक्षणैर्महत्पद-पल्लवं पदं पल्लव इव लौहित्यकोमल्यशैत्यादिना मण्डनमिव धेहि आरोपय। किं भूतं पदपल्लवम्। स्मरगरल-खण्डनं कामविषतापशमनम्। मयि विषये दारुणो मदनस्य यत्कदनं तदेवारुण इव सूर्य इव ज्वलति दीप्यते। स चरणपल्लवः मम शिरसि निहितः सन् तेन मदन-कदनारुणजनिततापेन उपाहित विकारमारोपितविकृतिं संतापंहरतु। अत्र प्रौढा मानवती नायिका। अनुकूलो नायकः ॥

"हे श्रीराधे ! आप मेरे सिर पर उदार पाद-पल्लव का स्पर्श करा दें ! मैं धन्य-धन्य हो जाऊँ ।"

तो सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् जिनके उदार पादपल्लव को सिर पर रखने की आशा रखते हैं, उन श्रीराधारानी के विहार-विपिन में हमारा मन रमे । वैसे श्रीवृन्दावनधाम विलसित है, विविध अलङ्कारों से अलंकृत है । श्रीराधारानी के मङ्गलमय पादारविन्द से विलसित-अलंकृत होकर यह मधुरस्थली अनुपम शोभा से सम्पन्न है, तभी तो महानुभाव ने कहा है—

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्म-
मनासेव्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम् ।
असंभाष्य तद्भाव गम्भीरचित्तान्,
कथं श्यामसिन्धोरसस्यावगाहः ।।

श्रीगदाधर भट्ट कावेरी तट पर रहते थे ! कोई यात्री वृन्दावन धाम आ रहा था । जीव गोस्वामी को उन्होंने एक पत्र लिखकर भेज दिया—

सखि हौं श्याम रंग रंगी ।
देखि बिकाय गयी वह मूरति सुरति माँहि पगी ।।
एकहुतो अपनो सपनो सो सोय रही रस खोय ।
जागेहू आगे दृष्टि पर्‌यो सखि नेकु न न्यारो होय ।।
कासों कहें कौन पतियावे कौन करे बकवाद ।
कैसे कि कहि जात 'गदाधर' गूँगे को गुड़ स्वाद ।।

'सखि ! मैं तो श्याम रंग में रंगी हूँ ।' श्रीगोस्वामी जी ने यहाँ से लिखा कि कावेरी तट पर बैठे-बैठे श्याम रंग में रंग गये ? '**अनाराध्यराधा**.......' श्रीराधारानी के मङ्गलमय पादारविन्द युगल की आराधना विना किये, उनके चरणारविन्दों से समलंकृत वृन्दाटवी में विना निवास किये, राधारानी भाव-भावित धामनिष्ठ भक्तों से विना भाषण किये, श्यामसिन्धु के रस का अवगाहन कैसे हो सकता है ?

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया
सोयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना कांक्षति ।
किञ्च श्यामरतिप्रवाहलहरी बीजं न ये तां विदु-
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो विन्दुं परं प्राप्नुयुः ।।
(श्रीसुधानिधि ७९)

"जो व्यक्ति श्रीराधा-कैङ्कर्य को त्यागकर श्रीलालजी के प्रेम की आशा से प्रयत्न करता है, वह मानो पूर्णिमा की रात्रि के विना ही पूर्ण चन्द्रमा दर्शन

चाहता है। ऐसे जो व्यक्ति श्यामसुन्दर की रति के प्रवाहरूप तरङ्ग के मूल बीज उन राधारानी को नहीं जानते, वे विशाल अमृतसागर को पाकर भी खेद है कि केवल एक बूँद ही प्राप्त कर पाये हैं।"

जैसे जो विना राका-पूर्णिमा के निर्मल-निष्कलंक पूर्णचन्द्र का रसास्वादन करना चाहता है, वह महामृताम्बुधि (महाअमृत-सिन्धु) को पा करके भी बिन्दु को ही पाता है। श्रीकृष्णचन्द्र अनन्त अमृत (प्रेम, आनन्द)—सिन्धु हैं। उनको पाकर के उनका स्वाद मिलना चाहिए। यह स्वाद उनको नहीं मिलता जो श्रीराधारानी के दास्य से दूर रहते हैं। स्वाद तो तभी मिलेगा, जब श्रीराधारानी की आराधना करेंगे। श्रीराधारानीकी आराधना विना किये वह स्वाद मिलता ही नहीं है। (क्योंकि) श्रीकृष्ण के प्राकट्य का एक निश्चित स्थल होता है। सूर्यनारायण का प्रखर प्रकाश सब जगह फैला हुआ है, लेकिन उसका प्राकट्य दर्पणादि के होने पर ही होता है। जल, दर्पण आदि प्राकट्य के उपयुक्त स्थायी स्थल हैं। काष्ठ, कुड्डी पर सूर्यनारायण का प्रतिबिम्ब परिलक्षित नहीं होता, लेकिन जल से पूर्ण-काष्ठादि में या दर्पण जटित काष्ठादि में प्रतिम्बिम्ब की अभिव्यक्ति होती है, इसी तरह श्रीकृष्णचन्द्र के अनन्तमाधुर्य का प्राकट्य उनके आत्मा पर ही होता है।

आनन्दसिन्धु श्रीकृष्णचन्द्र की आत्मा क्या है? श्रीराधारानी। श्रीराधारानी में ही पूर्णचन्द्र श्रीकृष्ण का पूर्ण माधुर्यरूप प्रकट होता है। अथवा श्रीराधारानी की जो अनुगमन करने वाली ललिता, विशाखादि सखियाँ हैं, उनमें श्रीकृष्णचन्द्र का प्राकट्य होता है; क्योंकि उनमें पहले से ही श्रीजी का प्राकट्य है। श्रीजी की आराधना क्यों की जाती है? इसीलिए कि उनके अंश का प्राकट्य हुए विना श्रीश्यामसुन्दर का प्राकट्य हो ही नहीं सकता। इसी को यों भी समझो कि एक काष्ठ में अग्नि प्रकट है, दूसरे काष्ठों में प्रकट नहीं है। उनका सम्पर्क प्रकट करने वाले से जोड़ देने पर उनमें भी अग्नि का प्राकट्य हो जाता है। इसी तरह राधारानी का प्राकट्य जिनमें है, उनसे सम्बन्ध जोड़ लेने पर राधारानी का प्राकट्य हो जाने पर आत्माराम श्रीकृष्ण का रमण होता है। जहाँ श्रीजी का प्राकट्य नहीं है, वहाँ हरि का रमण नहीं होता। श्रीराधाकुण्ड, श्रीकृष्णकुण्ड, कुसुम सरोवर, श्रीवृन्दावन में श्रीजी का प्राकट्य है, अतः श्रीकृष्ण का भी प्राकट्य है। कुसुम-सरोवरादि की बहुत महिमा है।

'नारदीय पुराण' में आता है कि एकबार नारदजी तपस्या करने लगे। श्रीभगवान् का दर्शन करना चाहते थे। कोई सखी प्रकट हुई। उस सखी ने नारदजी को ले जाकर कुसुम-सरोवर के घाट पर स्नान कराया। नारदजी स्नान करते ही दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सम्पन्न सखी हो गये तब तक दूसरी सखी आयी और उसने दूसरे घाट पर स्नान कराया। स्नान करते ही नारदजी को ज्ञान

हो गया।[६] परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण का स्वरूप श्रीराधारानी का स्वरूप और दिव्यरस का स्वरूप स्फुरित होने लगा। तो इस प्रकार भूमियों में, जलों में अद्‌भुत चत्कार है। गोवर्द्धन क्या है ? मानो घनीभूत प्रेम है। घनीभूत प्रेम ही गोवर्द्धनाचल है। द्रवीभूत प्रेम ही यमुना रूप से प्रवाहित है। इसीलिए भक्त लोग व्रज-रज पाना चाहते हैं। **'ब्रज रज उड़ि मस्तक पड़ै, मुक्ति-मुक्ति हो जाय।'** ये सब बातें निर्मूल नहीं—इन सबमें दार्शनिक आधार है। लेकिन यह भी समझ लो कि बड़ा-से-बड़ा दार्शनिक मथ्था-पच्ची करते-करते परेशान हो जाय, तो भी नहीं समझेगा, अनुग्रह होगा तो समझ लेगा।

यहाँ के जो हंस-सारस-कारण्डव-शुक-पिक-मयूरादि विहङ्ग (पक्षी) हैं, वे सामान्य पक्षी नहीं हैं। मुनीन्द्रगण ही उन्मुक्त होकर भगवद्‌ गुणगान के लिए विहङ्ग बनकर आये हैं—

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः॥

(भागवत १०.२१.१४)

श्रीवृन्दावन में जो विहङ्ग-पक्षी हैं वे कौन हैं ? हंस–परमहंस ही यहाँ श्रीराधारानी के यश का उन्मुक्त स्वर से गान करने वाले शुक-पिक-मयूरादि बनकर विराजमान हैं। श्रीराधारानी का यशही ऐसा है,यह मौन को भी मुखर बना

---

६. अथ सा माधवी देवी नीत्वा नारदमाज्ञया।
स्वाधिष्ठाख्यास्तु वृन्दायाः सरसस्तटमुत्तमम्॥
पश्चिमोत्तरतस्तस्मिन्स्नातुं तं संदिदेश ह।
ततस्तदाज्ञया भद्रे नारदो देवदर्शनः॥
निममज्ज जले तस्मिन्ध्यायञ्छ्रीकृष्णसंगमम्।
निमज्जमाने सरसि नारदे मुनिसत्तमे॥
ययौ वृन्दान्तिकं भद्रे संविधाय तदीप्सितम्।
अथासौ नारदस्तत्र सन्निमज्योद्‌गतस्तदा॥
ददर्श निजमात्मानं वनितारूपमद्‌भुतम्।
ततस्तु परितो वीक्ष्य नारदी सा शुचिस्मिता॥
रसिकेन समाश्लिष्य रमयित्वा विसर्ज्जिता।
क्रमेणैव तु संप्राप्ता सा पुनः कौसुमं सरः॥
सा पुनस्तत्र माधव्या मज्जिता दक्षपश्चिमे।
पुंभावमभिसंप्राप्तो नारदो विस्मितोऽभवत्॥
(श्रीबृहन्नारदीय पुराण उ० ८०. २२-२६ ३२, ३३)

देता है। कुछ लोग एकान्त में मौन व्रत धारण कर निवास करते हैं। परोपकार में प्रवृत्त नहीं होते। मौन धारण करके उस अनन्त-अखण्ड परब्रह्म के चिन्तन में ही रमे रहते हैं—

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ॥
(भागवत ७. ६. ४४)

'अन्या वाचो विमुञ्चथ' (मुण्डक २–२५)

'अमृतस्यैव सेतुः' (मुण्डक २–२–५)

'ॐ इत्येवं ध्यायथ आत्मानं' (मुण्डक २–२–६)

वेद कहता है कि भगवान् के मंगलमय स्वरूप का चिन्तन करो। अन्य प्रकार के चिन्तन, कथन का त्याग करो। व्यर्थ का चिन्तन-भाषण कर मन-वाणी का दुरोपयोग मत करो। भगवन्नाम का अनुसन्धान करो। जो परार्थ निष्ठा छोड़-कर निर्जन स्थल में निवास करते हैं, वे यहाँ मुखर बन जाते हैं। बहुत बोलने वाले हो जाते हैं। माने कथामृत के वर्णन में तल्लीन हो जाते हैं। मानो उन्मत्त पागल बन जाते हैं। श्रीराधारानी का यश मौनियों को भी मुखर बना देता है। मौन से विरत होकर मौनी भी यहाँ श्रीराधारानी के मङ्गलमय यश को गाने लग जाते हैं। मयूर नृत्य कर श्रीराधारानी के यश को द्योतित करते हैं। भ्रमर गुञ्जार कर उन्हीं के यश का गान करते हैं। हंस-सारस कारण्डवादि अपने निनाद से वन को जो समलंकृत कर रहे हैं, मानो वे श्रीराधारानी के ही विमल यश का गान कर रहे हैं। इस प्रकार का जो राधारानी का विहार-विपिन क्रीडास्थल उसी में मेरा मन रमे। क्रीड़ास्थल-विहारस्थल तो बड़ा अन्तरंग होता है। राजाधिराज शाहंशाह की क्रीड़ा बड़े अन्तरङ्ग स्थान में होती है। फिर, साक्षात् अनन्त ब्रह्मां-डाधिपति सर्वेश्वर-सर्वशक्तिमान्-पूर्णतम-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र ब्रजेन्द्रनन्दन-परमानन्दकन्द-मदनमोहन और उनकी प्राणेश्वरी-माधुर्यसार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री राधारानी जिस वृन्दाविपिन में स्वच्छन्द विहरण करें, उसकी अन्तरंगता का क्या कहना? यहाँ तो लोक-वेद सर्वबन्धन विमुक्त अखण्ड रमण होता है। ऐसा जो विहारविपिन है, उसमें हमारा मन रमण करे, ऐसा भक्त लोग चाहते हैं।

※ श्रीहरिः ※

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

तृतीय-पुष्प

१. कृतार्थमानी श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द

यस्याः कदापि वसनाञ्चल खेलनोत्थ
धन्यातिधन्य पवनेन कृतार्थमानी ।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानु भुवो दिशेऽपि ।।
(श्रीराधासुधानिधि १)

"जिनके कभी वसनाञ्चल के खेलन से उठी हुई धन्य-अति-धन्य पवन के लगने से योगीन्द्रों के लिए दुर्गमगति श्रीमधुसूदन भी अपने आपको कृतार्थ मानने लगते हैं, उन श्रीवृषभानुनन्दिनी जी से अधिष्ठित दिशा को भी नमस्कार हो।"

"जिन निकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानी के वसनाञ्चल खेलन से उत्थ पवन के द्वारा योगीन्द्र-दुर्गम-गति मधुसूदन भी अपने आपको कृतार्थ मानते हैं, उन श्रीराधारानी की जो दिशा—जिस दिशा में वे विराजमान हैं, उसको भी हम प्रणाम करते हैं।" इसी विषय पर विचार चल रहा है।

कदाचित् का अर्थ है कभी। कभी श्रीराधारानी स्वाभाविक रूप से सुखासीन हैं। कौतुकवशात् वसनाञ्चल-खेलन कर रही हैं।[10] उससे उत्थ पवन से भी श्रीराधारानी के मङ्गलमय श्रीअङ्ग का दिव्य सौगन्ध्य श्रीमदनमोहन श्याम-सुन्दर को प्राप्त होता है। जिससे वे स्वयं को कृतार्थ मानते हैं। अथवा किसी

---

१०. सुखासीनस्थितौ च किञ्चिल्लीलावशेन
तद्भ्रामणं कौतुकत्वात् खेलनमेव ।।

विशेष नियत समय[11] में वसनाञ्चल का खेलन होता है। वह कौन-सा विशेष नियत समय है, उसी का निरूपण करते हैं। सखियाँ, आपस में आँखमिचौनी खेलती हैं, जिसे **'निलयन-लीला'** कहते हैं। श्रीजी एकान्त में छिपी हुई हैं। उस समय मानो अपनी ही उष्मा दूर करने के लिए वसनाञ्चल का सञ्चालन करती हैं। उस वसनाञ्चल के सञ्चालन से जो पवन उत्पन्न होता है, सन्निधान में स्थित श्यामसुन्दर को उस पवन के द्वारा श्रीराधारानी के मङ्गलमय अङ्ग का दिव्य सौगन्ध्य प्राप्त होता है। उससे वह अपने आपको कृतार्थ मानते हैं।

अथवा श्रीराधारानी के मङ्गलमय श्रीअङ्ग के दिव्य-सौगन्ध्य से लुब्ध होकर भ्रमरमण्डली उनकी ओर प्रवाहित होती है। वह स्वाभाविक सौगन्ध्य ऐसा अद्‌भुत है कि भ्रमर उस सौगन्ध्य से लुब्ध होकर उधर जाते हैं। उनको हटाने के लिए श्रीवृषभानुनन्दिनी मानो वसनाञ्चल का सञ्चालन करती हैं। उस वसनाञ्चल सञ्चालन से जो पवन उद्‌भूत होता है, उसके द्वारा मधुसूदन श्रीकृष्ण भगवान् अपने आपको कृतार्थ मानते हैं।

अथवा श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधारानी के शृङ्गार करने के लिये पुष्प-सञ्चय कर रहे हैं। यह लोकोत्तर-लीला है। ब्रह्मा, रुद्र और इन्द्रादि देवाधिदेव और बड़े-बड़े अमलात्मा-परमहंस श्रीकृष्ण की सेवा का मनन करते हैं, उनके लिए विविध सामग्रियों को सम्मिलित (संकलित, सञ्चित) करते हैं, पर यहाँ तो श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीराधारानी के शृङ्गार के लिए पुष्पों का सञ्चय कर रहे हैं। साथ ही श्रीराधारानी के श्रीमुखचन्द्र का चिन्तन करते-करते लीन हो जाते हैं, पुष्प-सञ्चय की सेवा भी भूल जाते हैं। उस समय श्यामसुन्दर के मुख-चन्द्र पर आये हुये पसीना को देख करके श्रीराधारानी बहुत करुणार्द्र होकर के अपने वसनाञ्चल का चालन करके वायु द्वारा उस श्रम जन्य स्वेद को दूर करने का प्रयास कर रही हैं। यह अवस्था बड़ी दुर्लभ है, क्योंकि इस रस में श्रीकृष्ण-चन्द्र परमानन्दकन्द श्रीराधारानी में आसक्त हैं और आसज्य हैं श्रीराधारानी (प्रेम के गोचर-आस्पद श्रीराधारानी हैं)। कई लोग कहते हैं कि 'श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन सर्वसेव्य हैं—अर्थात् सर्वप्रेमास्पद-प्रेम के गोचर हैं', परन्तु यहाँ श्याम-सुन्दर प्रेमास्पद नहीं, यहाँ तो प्रेम के आश्रय (प्रेम करने वाले) हैं।

अनन्त-अनन्त योगीन्द्र-मुनीन्द्र-अमलात्मा-परमहंसों के प्रेमास्पद ब्रह्म-रुद्र-इन्द्रादि देवाधिदेवों के प्रेमास्पद मदनमोहन श्रीकृष्ण यहाँ श्रीराधारानी के

---

११. कदाप्यनियतसमये, वक्तृ मनोनिहित भावगम्ये नियतसमये वा वसनप्रान्तस्य खेलनं याहच्छिकं वा निजोद्देश्यकम्........

कदापीत्यनियतत्व कथनेन साधारणसमयेऽप्येवं तदास्वोद्देश्यसमये तु किं वाच्यम्।

प्रेम के गोचर नहीं, प्रेमाश्रय हैं—अर्थात् राधारानी से प्रेम करते हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् केवल प्रेम गोचर ही नहीं, अपितु उन-जैसा कोई प्रेमी ही नहीं।

२. अनन्य रसिक श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द

आमतौर पर भगवल्लीलाओं के सम्बन्ध में यह शिकायत है कि भगवान् अनन्त कल्याणमय गुणगणनिलय होने पर भी रसिक हैं, अनन्य नहीं। रसिक एकनिष्ठ नहीं होता; जैसे भ्रमर रसिक है, विभिन्न अरविन्द-मकरन्दों का रसपान करता है, यह नहीं कि एक ही अरविन्द का रसपान करे। वह हजारों अरविन्दों का मकरन्द पान करता है। जिसकी कई जगह प्रीति होती है, वह एकनिष्ठ नहीं। इस तरह श्रीकृष्ण रसिक हैं, अनन्य नहीं; जैसे भ्रमर रसिक होते हैं, अनेकों अरविन्दों का रसपान करते हैं; किन्तु अनन्य नहीं। अनन्य तो उसको कहते हैं, जो एक को छोड़कर इधर-उधर दृष्टि ही न डाले।

गोपाङ्गनाएँ रसिक भी हैं और अनन्य भी। वे श्रीकृष्ण के पादारविन्द-रस की रसिक हैं, और केवल उन्हीं में निष्ठा रखती हैं, संसार में बिल्कुल नहीं। लोक-परलोक सब कुछ त्याग करके वे श्रीकृष्ण में ही अनुरक्त हैं। तभी तो उनकी अनन्य-रसिकता से वशीभूत होकर इस व्रजलीलामें श्रीकृष्णने गोपाङ्गनाओं से कहा कि हमतुम्हारे ऋण से उऋण नहीं होंगे। तुम-जैसी अनन्यता हममें नहीं। तुम लोगों ने सर्वस्व त्याग दिया। लोक-वेद-स्वार्थ-परमार्थ सब कुछ त्याग करके अनन्यभाव से मेरा आश्रय ग्रहण किया, पर हमने उस अनन्यता से तुम्हारा सेवन नहीं किया—

"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।"
(भागवत १०. ३२. २२)

मेरी प्रतिज्ञा है—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"
(भगवद्गीता ४. ११)

"जो हमको जिस प्रकार से भजते हैं, हम भी उनको उसी प्रकार से भजते हैं।"

गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, "तो फिर हम गोपाङ्गनाएँ आपको अनन्यभाव से भजती हैं और आप तो नाना भक्तों पर प्रेम रखते हैं, ऐसा क्यों ?"

श्रीकृष्ण कहते हैं, "यही हममें कमी है। तुम्हारे प्रेम का बदला हम चुका नहीं सकते। एक जन्म में तो क्या जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर में शतायु-सहस्रायु-लक्षायु होने पर भी तुम्हारे ऋण से उऋण नहीं होंगे, क्योंकि जैसी अनन्य निष्ठा से तुम्हारी मुझ में प्रीति है, वैसी अनन्य-निष्ठा

से हमारी तुझ में प्रीति नहीं। हमको तो माता-पिता-सखा सबका ध्यान रखना पड़ता है।"

वास्तव में ईश्वर ठहरे! इनको तो अपने अनन्त-अनन्त भक्तों को देखना है, क्योंकि ईश्वर को तो सभी भजते हैं। वे किस भक्त की उपेक्षा कर सकते हैं? वे सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् हैं। भक्त जीव होता है। वह एकनिष्ठ अनन्य हो सकता है। सर्वस्व त्याग करके एकमात्र भगवन्निष्ठ हो सकता है। भगवान् तो अनन्त ब्रह्माण्डाधिपति हैं। अनन्त-अनन्त भक्तों के स्वामी हैं। उनको तो सब भक्तों का ध्यान रखना पड़ता है। उनमें रसिकता तो ठीक है, पर अनन्यता ठीक नहीं।

कहते हैं, भ्रमर में रसिकता है पर चातक और मीन के समान अनन्यता नहीं।

जग जस भाजन चातक मीना।
नेम प्रेम निज निपुन नबीना।
(रामचरित मानस २. २३३. ३)

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ।
जाचत जलु पबि पाहन डारऊ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई।
बढ़े प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़ई जिमि दाहें।
तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥
(रामचरित मानस २. २०४. ३-५)

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जलु उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥
(दोहावली ३०२)

तुलसी चातक देत सिख सुतहि बारहीं बार।
तात न तर्पन कीजिए बिना बारिधर धार॥
(दोहावली ३०४)

जग में यश के भाजन चातक और मीन हैं। जिनका नेम और प्रेम नित्य ही नवीन रहता है। चातक को अमृत दें, नहीं पीयेगा, दूध दें—नहीं पीयेगा, दुनियाँ का और (अन्य) जल भी नहीं पीयेगा। पीयेगा तो केवल स्वाति-बिन्दु ही, नहीं तो प्यासा ही मर जायेगा। मरते समय वह गङ्गाजल भी मुँह में नहीं आने देता, चञ्चु बन्द कर लेता है। वह सोचता है कि गङ्गाजल पीने पर मेरा व्रत भंग हो जायेगा।

कहते हैं कि चातक किसी वृक्ष की डाल पर बैठा हुआ था। व्याध ने

बाण मारा, बाण से विद्ध होकर चातक गङ्गाजल में गिर गया। मरते समय गङ्गाजल मुँह में पड़ जाय तो बड़ा भाग्य है, पर उसने अपना मुँह बन्द कर लिया। मरते-मरते अपने पुत्र से कह गया, ''मेरा तर्पण करना तो स्वाति-बिन्दु से ही करना, गङ्गाजल से नहीं''। यह है, व्रत ! वह (चातक) जीवन भर जलद से पानी माँगता है, जलद ओला बरसाता है। पर क्या उससे अपमानित होकर, भयभीत होकर, चातक पानी माँगना छोड़ देता है ? क्या जलद से प्रेम करना छोड़ देता है ? नहीं। भले ही जलद अपमान करता है, जल के माँगने पर पत्थर बरसाता है, पर चातक की रटनि घट जाय तो उसकी महिमा घट जाय। जितना चातक अपमानित होता है मेघ के द्वारा, उतना उसका प्रेम बढ़ता है, घटता नहीं। **वीर वह होता है जो अस्त्र-शस्त्र के द्वारा आघात होते रहने पर भी पीछे न हटे। शूर वह होता है जो जितना-जितना वज्रपात हो उतना-उतना आगे ही बढ़े। शूरकोटि का प्रेमी है चातक। जितना-जितना मेघ के द्वारा उसका अपमान होता है, उतनी-ही-उतनी उसकी प्रीति बढ़ती है। सोना जितना अग्नि में तपाया जाता है, उतनी ही उसकी चमक बढ़ती है।**

मीन की अनन्यता भी अद्भुत है। उसे भले ही दुग्ध सरोवर में डाल दो, उसके लिए न तो दुग्ध-सरोवर की और न तो अमृत-सरोवर की ही कौड़ी कीमत है। उसको तो पानी चाहिए। मीन तो जल का प्रेमी है। जल के विना अमृत भी उसके लिए कुछ नहीं, दुग्ध भी उसके लिए कुछ नहीं।

मीन को लेकर अन्योक्ति है किसी कवि की—

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गाः
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति।
सङ्कोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥
(श्रीसुभाषितरत्न भाण्डागारम् ५)

जल से भरपूर सरोवर है। उसमें कमल-कमलिनी, कुमुद-कुमुदिनी प्रफुल्लित हो रहे हैं। बहुत से हंस, सारस, कारण्डवादि विहङ्गम उस सरोवर की शोभा बढ़ा रहे हैं। मृग-मण्डली उसकी शोभा बढ़ा रही है; परन्तु ये सब अच्छे दिन के साथी हैं। जब दिन खराब आता है, ये साथी नहीं रहते। ग्रीष्म आयी, धूप पड़ने लगी, सरोवर सूखने लगा, हंस-सारस-बिहङ्गमादि ये सब सरोवर को छोड़कर अम्बरपथ की शोभा बढ़ाने लगे, कुमुद-कुमुदिनी, कमल-कमलिनी मुरझा गयीं, भृङ्गों ने भी सरोवर को छोड़ दिया, जाकर आम्र के बौरों पर छा गये, उसकी शोभा बढ़ाने लग गये। मानो अच्छे दिन के साथी थे ये सब। जब जल से भरपूर सरोवर था, तब वह कमल-कमलिनी, कुमुद-कुमुदिनी से समलङ्कृत हो रहा था। विविध प्रकार के पतङ्ग-विहङ्गम उसमें कलरव कर, विहार कर, उसकी

शोभा बढ़ा रहे थे । जब उसमें गड़बड़ी आयी, तब उन्होंने साथ छोड़ दिया ।

परन्तु—

सङ्कोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो ।
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु ॥

"हे सरोवर ! तू सूखने लगा । तेरे सब साथी छोड़कर चल दिये । पर मीन किस गति को जाय, वह तो तुझे छोड़कर कहीं नहीं जा सकता । तुझ सरोवर के सूखने से पहले मीन सूख जायेगा ।"

इसलिए रसिकता अलग है और अनन्यता अलग । 'अनन्यता श्रीमदन-मोहन में नहीं है' ऐसी भक्त लोग शिकायत करते हैं । श्रीश्यामसुन्दर में रसिकता तो है, जहाँ भक्तों का हृदयारविन्द खिला, वहाँ उसके मकरन्द-रस का पान करने के लिए वे पहुँच जाते हैं, लेकिन उसके पश्चात् दूसरी-तीसरी जगह पहुँच जाते हैं । उनमें अनन्यता नहीं । इस तरह, दुनियाँ में चातक और मीन का प्रेम बेमिसाल है । मधुप उस कोटि में नहीं आते । भ्रमर रसिक हैं, लेकिन अनन्यनिष्ठ नहीं; परन्तु इस राधासुधानिधि के प्रसङ्ग में ऐसी बात नहीं, कृष्ण यहीं अनन्य हैं । कृष्ण रसिक हैं, साथ-ही-साथ अनन्य हैं । इसलिए वे केवल श्रीराधारानी को जानते हैं । यद्यपि ईश्वरता इस अनन्यता के विपक्ष में है, क्योंकि ईश्वर तो अनन्त ब्रह्माण्डाधिपति हैं । अनन्त-अनन्त भक्त हैं, किसको छोड़ें ? ईश्वर के लिए यह दोष भी है कि एक का पक्षपात किया और दूसरे को ठुकरा दिया । इसलिए इन समस्याओं का समाधान भिन्न-भिन्न भक्तों ने भिन्न-भिन्न ढंग से किया है । आमतौर पर यह कहा जाता है कि—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्तिन प्रियः ।

(भगवद्गीता ९।२९)

"मैं सर्वभूतों में समान हूँ । न मेरा कोई द्वेष्य है और न मेरा कोई प्रिय ही ।"

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।

(भगवद्गीता ९।२९)

"जो भक्ति से मुझे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ ।"

परन्तु यह कोई प्रेम का उत्कृष्ट-रूप तो नहीं । एक बैल ने दूसरे बैल को चाट लिया, बदले में दूसरे ने भी उसको चाट लिया । यह कोई बड़े महत्त्व की बात तो नहीं ? यह कोई प्रेम का उत्कृष्ट रूप तो नहीं ?

यद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहहिं न पाप पुण्य गुन दोषू ।।
तदपि करहिं सम विषम विहारा।
भगत अभगत हृदय अनुसारा ।।
(रामचरित २. २१८. ३, ५)

यद्यपि भगवान् अखण्ड निर्विकार परात्पर परब्रह्म हैं। उनका किसी में राग नहीं, किसी में द्वेष नहीं, फिर भी भगवान् का सम-विषम विहार होता है, कहीं सम और कहीं विषम व्यवहार होता है। कैसे ? भक्त के हृदय में दूसरे ढंग का और अभक्त के हृदय में दूसरे ढंग का।

एक श्रुति है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुनाश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।
(कठोपनिषत् १. २. २३)

इन भगवान् की प्राप्ति बहुत प्रवचन से नहीं होती। जो बहुत प्रवक्ता हैं, उसको भगवान् मिल जायेंगे, ऐसी कोई बात नहीं। कोई बहुत श्रवण करता है, यहाँ तक कि सुनते-सुनते युग-युगान्तर बीत जाँय इसलिये उसको भगवान् मिल जायेंगे, ऐसा कोई बात नहीं। धारणाशक्ति-मेधा के द्वारा ब्रह्मात्म-तत्त्व समझ में आ जायेगा, सो भी नहीं अर्थात् कोई बहुत मेधावी है, इसलिए उसे भगवान् मिल जायेंगे, ऐसा भी सम्भव नहीं। ऐसा नहीं कि यह सब व्यर्थ है, सब का महत्त्व है। फिर किसको और कैसे भगवान् मिलते हैं ?

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः........'

इसका अर्थ श्रीरामानुजाचार्य करते हैं—

"एष परमात्मा यं साधकं प्रार्थयते तेन लभ्यः। तस्य उपासकस्य एष आत्मा परमात्मा स्वरूपं प्रकाशयति स्वात्मानं प्रयच्छतीत्यर्थः।"

अर्थात् "ये भगवान् (परमात्मा) जिस साधक को स्वयं वरण करते हैं, वही इनको पाता है। स्वयम्बरा राजकन्या जिसके गले में जयमाला डाल दे, जिसको वरण कर ले, वही उसके अनन्त माधुर्य के रसास्वादन का अनुभव कर सकता है। ऐसे सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर सर्वाधिष्ठान प्रभु जिसके गले में जयमाला डाल दें, जिसको अपना बना लें, उसी को भगवत्स्वरूप का अनुभव हो सकता है।"

श्रीशंकराचार्य जी कहते हैं—

"यमेव स्वात्मानमेव साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवाऽत्मना वरित्रा स्वय-

मात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानमेव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः। कथं लभ्यत इत्युच्यते—तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यमित्यर्थः।''

(शांकरभाष्य कठो० १. २. २३)

'साधक जिस अपने आत्मा का वरण-प्रार्थना करता है, उस वरण करने वाले आत्मा द्वारा यह स्वयं ही प्राप्त किया जाता है, अर्थात् उससे ही 'यह ऐसा है' इस प्रकार जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि केवल आत्मलाभ के लिए ही प्रार्थना करनेवाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मलाभ होता है। किस प्रकार उपलब्ध होता है? इस पर कहते हैं—उस आत्मकामी के प्रति यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप अर्थात् अपने याथात्म्य को विवृत-प्रकाशित कर देता है।''

शंकराचार्य महाराज के अनुसार साधक जब भगवान् को वरण करता है, अपना सर्वस्व अर्पण कर भगवान् को अपनाता है, तब भगवान् उसे अपनाते हैं—

योऽयमात्मा व्याख्यातो यस्य लाभः परः पुरुषार्थो नासौ वेदशास्त्राध्ययन बाहुल्येन प्रवचनेन लभ्यः। तथा न मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन नापि भूयसा श्रवणेनेत्यर्थः। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते—यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान्वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लभ्यो नान्येन साधनान्तरेण, नित्यलब्धस्वभावत्वात्। कीदृशोऽसौ विदुष आत्मलाभ इत्युच्यते? तस्यैष आत्माऽविद्यासंछन्नां स्वां परां तनुं स्वात्मतत्त्वं स्वरूपं विवृणुते प्रकाशयति प्रकाश इव घटादिर्विद्यायां सत्यामाविर्भवतीत्यर्थः। तस्मादन्यत्यागेनाऽऽत्मलाभप्रार्थनैवात्मलाभ साधनमित्यर्थः। (मुण्डक ३ २. ३)

इस प्रकार दोनों मतों में कोई मौलिक झगड़ा (अन्तर) नहीं है। क्योंकि विचार करते हैं तो मालूम पड़ता है कि यदि भगवान् किसी को वरण करें और किसी को वरण न करें तो उनमें वैषम्य-दोष और नैर्घृण्य-दोष आता है। वैषम्य माने विषमता—भेदभाव और नैर्घृण्य माने निर्दयता। अगर परमेश्वर में विषमता या निर्दयता आ गयी तो सदोष हैं, ऐसा सिद्ध होगा। अन्त में श्रीरामानुजाचार्यजी अपने विरोधियों का खण्डन करते हुए लिखते हैं—

"औपनिषद परमपुरुषवरणीयता हेतुगुण विशेष विरहिणां अनादिपापवासनादूषिताशेषशेमुषीकाणां अनधिगत पद वाक्यस्वरूप तदर्थयाथात्म्य प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणवृत्ततदिति कर्त्तव्यता रूपसमीचीन न्यायमार्गाणां विकल्पासह विविध कुतर्क कल्ककल्पितमिति न्यायानुगृहीत प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणवृत्त याथात्म्यवद्भिरनादरणीयम्।'' (ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य जिज्ञासाधिकरण)

अर्थात् भगवद्गुण वरणीयता गुणगण विरहितों को भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता। एतावता मालूम पड़ता है कि कुछ अपेक्षा है। भगवान् भी सर्वथा निरपेक्ष वरण नहीं करते हैं। नहीं तो, वैषम्य-नैर्घृण्य दोष आ जायेगा। यदि वरणीयता के गुणगण नहीं होंगे तो भगवान् उस व्यक्ति का वरण नहीं करेंगे। वे कोई लुल्लू-बुद्धू थोड़े ही हैं कि अन्धेर खाते में मनमानी किसी का वरण कर लें! बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण तरसते हैं, (कि) 'भगवान् हमारा वरण करलें', ऐसी स्थिति में वरणीयता के उपयुक्त गुणगण चाहिये।

श्रीरामानुजाचार्य 'केवल श्रवण, मनन, निदिध्यासन से प्रभु मिलते' ऐसा न मानकर श्रीभगवान् के लिये वरणीय प्रियतम होने के लिये भगवान् को प्रियतम मानने की आवश्यकता मानते हैं—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (मुण्डक ३.२.३) इति, अनेन केवल श्रवणमनन निदिध्यासनानामात्मप्राप्त्यनुपायत्वमुक्त्वा 'यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (मुण्डक ३. २. ३) इत्युक्तम्। प्रियतम एव वरणीयो भवति, यस्यायं निरतिशयं प्रियः स एवास्य प्रियतमो भवति। यथायं प्रियतमात्मानं प्राप्नोति तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवोक्तम् 'तेषां सतत युक्तानां....ददामि बुद्धियोगं तं' (भगवद्गीता १०. १०), 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (भगवद्गीता ७. १७) इति च। (श्रीभाष्य १. १. १ लघु सिद्धान्त)।

अतः साक्षात्काररूपा स्मृतिः स्मर्यमाणात्यर्थ प्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थं प्रिया यस्य स एव परेणात्मना वरणीयो भवतीति, तेनैव लभ्यते परमात्मेत्युक्तं भवति। (श्रीभाष्य १. १.)

'अत्यन्त प्रिय प्रभु ही स्मृति मार्ग में प्रकट होकर साक्षात्कार के अनुरूप अपनी प्रिय स्मृति प्रदान करते हैं, जिससे उपासक परमात्मा का वरणीय हो जाता है, उसी से वह परमात्मा को प्राप्त होता है।''

नित्ययोगं काङ्क्षमाणस्याहमेव प्राप्यः, न मद्भाव ऐश्वर्यादिकः। सुप्रापश्च तद्वियोगमसहमानः अहमेव तद्वृणे, मत्प्राप्त्यनुगुणोपासन-विपाकं तद्विरोधि निरसनम्, अत्यर्थं मत्प्रियत्वादिकं च अहमेव ददामीत्यर्थः। (गीता भाष्य ८. १४)

''नित्य मेरा संयोग चाहने वाले योगी के लिये मैं ही उसका प्राप्य हूँ, मेरा ऐश्वार्यादि भाव नहीं। मैं उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ। उसका वियोग न सह सकने के कारण मैं ही उसको वरण करता हूँ। उसे मेरी प्राप्ति के अनुकूल परिपक्व उपासना—परम प्रेमादि प्रदान करता हूँ। विरोधी भावों को नष्ट करता हूँ।''

इस दृष्टि से श्रीशंकराचार्य जी की बात ठीक है कि साधक स्वयं सर्वस्व निवेदन करके भगवान् को वरण करे, तब उसमें भगवद्वरणीयता गुणगण आवे। साधनाभ्यास करते-करते, भगवच्चिन्तन-ध्यान करते-करते, भगवच्छ्रवण भगवच्चरणामृतपान करते-करते भगवद्वरणीयता गुणगण आवें भक्त में, तब भगवान् उसका वरण करेंगे, नहीं तो नहीं वरण करेंगे। भगवत्कृपा से प्राणी भगवत्-श्रवण मनन-चिन्तन-ध्यान करके भगवद्वरणीयता गुणगण सम्पादन करता है। तब भगवान् उसको वरण करते हैं। तब उसमें पूर्ण कृतार्थता होती है। अतएव भगवद्-वरणीयता गुणगण लाने के लिए भक्तों को परिश्रम करना चाहिए। भले ही उस परिश्रम पर विश्वास न करें कि 'हमारे परिश्रम के बल पर हमें भगवान् मिलेंगे।' यही बात यहाँ कही गयी है—

"योगीन्द्र दुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि"

मधुसूदन भगवान् कैसे हैं ?

'योगीन्द्राणां शिवसनकनारदशुकादीनां दुर्गमा गतिर्यस्येति'

(रसकुल्या १)

'योगीन्द्रों—शिव, सनक, नारद, शुक आदियों के लिए भी दुर्गम है गति (प्राप्ति) जिनकी ऐसे मधुसूदन', 'भृग्यानुग्रहत्वं स्वसाहसालभ्यत्वं भावमात्रैकप्राप्तिकृतार्थीकरत्वं च व्यनक्ति'—भृग्य—भगवान् यदि अनुग्रह करें तो ही वे मिल सकते हैं, अपने साहस से वे लभ्य नहीं हैं और भावमात्र की प्राप्ति से ही कृतार्थ कर देने वाले हैं।'

अर्थात् योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण भी परिश्रम करते-करते श्रान्त हो जाते हैं, हिम्मत हार जाते हैं, समझते हैं कि मृग्यानुग्रह से ही मृग्यप्राप्ति सम्भव है। मृग्य वह है, जिसे ढूँढ़ रहे हैं। उसकी कृपा होय तो उसकी प्राप्ति हो, विना उसके अनुग्रह के उसकी प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार भगवत्-प्राप्ति के उपयुक्त-उपायों का अनुष्ठान करते-करते जब शिथिल हो जाते हैं, अन्त में भगवान् के अनुग्रह की अपेक्षा करते हैं, 'भगवान् की भास्वती अनुकम्पा देवी कब उदित होंगी ?" इस प्रकार अनुग्रह की प्रतीक्षा करते हैं, तब भक्तवत्सल भगवान् की प्राप्ति होती है। यह सबसे बड़ी साधना है। सुष्ठु-अच्छी रीति से, सम्यक् [illegible]कार से उसी की प्रतीक्षा करो—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(भागवत १०. १४. ८

"जो व्यक्ति प्रतिक्षण बड़ी उत्सुकता से आपकी कृपा की प्रतीक्षा-भलीभाँति समीक्षा (दर्शन) करता रहता है, प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, उसे निर्विकार मन से भोग लेता है और जो प्रेमपूर्ण हृदय,गद-गद वाणी और पुलकित शरीर से अपने को आपके श्रीचरणों में समर्पित करता रहता है, इस प्रकार जीवन व्यतीत करने वाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परम पद का अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिता की सम्पत्ति का पुत्र।"

रसिकवृन्द कहते हैं, किसी दिन व्रजलीला में किसी गोपाङ्गना को भगवान् ने कहा—"आज हम तेरे यहाँ आयेंगे, जागती रहना भला तू !"

बेचारी आँख फाड़कर जागती रही, नहीं आये। बड़ी दुःखी हुई। दूसरे दिन श्यामसुन्दर मिले, उसने कहा, "आप आये नहीं, हम जागती रहीं।"

श्यामसुन्दर बोले—"सखी जब तेरी आँखें मिच गयीं, उसी समय मैं आया। तू सोती मिली, मैं लौट गया।"

गोपी कहने लगी—"श्यामसुन्दर ! आज आओ, आज मैं नहीं सोऊँगी। निन्द्रा को बिल्कुल नहीं आने दूँगी महाराज !"

भगवान् के मार्ग में पलक के पाँवरे डालती-डालती बाट जोहती रही। निद्रा को कोसती रही। पलक-पर-पलक गिरने देने में भी संकोच करती रही। सोचती रही 'कहीं ऐसा न हो कि पलक-पर-पलक गिरे और श्यामसुन्दर आकर पधार जाँय।'

यहाँ प्रतीक्षा बड़ी ऊँची चीज है। विहारीजी में परदा पड़ता रहता है। श्यामसुन्दर के मुखचन्द्र के दर्शन के लिए जरा प्रतीक्षा करो। यह नहीं कि पर्दा पड़ते ही दुनियाँ भर के प्रपन्च की बातें करने लगो ! आमतौर से यही होता है कि लोग सोचते हैं कि पर्दा पड़ गया तो चलो दो बातें ही कर लें ! बातें करने लगे, ऐसा नहीं। एकटक लगा के देखो, विरह का अनुभव करो। देखो जो उच्च-कोटि के भक्त हैं, वे खुली आँखों से दर्शन करते-करते पलक गिर जाने पर भी विप्रलंभ का अनुभव करते हैं। स्थूल-दृष्टि वालों के लिए बाह्य विप्रलंभ होने पर विप्रलंभका अनुभव होता है। जब भगवान् व्रजसे मथुरा जाँय तब विरह जन्यतीव्रताप की अनुभूति होती है। उच्चकोटि के भावुक भक्तों को तो आँखों की पलक पड़ जाय, इतने में ही भगवान् के मथुरा जाने जैसा विरह जन्य तीव्रताप का अनुभव होता है और आँखें खुलें तो प्रियतम के सम्मिलन—जैसा अतीव सुख। चाहिए तो यह कि मन भी इधर-उधर न जाय, इस प्रकार की प्रतीक्षा हो। इसी को सुसमीक्षा कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि हृदय से, वाणी से, वपु से भगवान् को नमस्कार करते हुए, सुष्ठुरूप से सम्यक् प्रकार से प्रभु की मंगलमयी भास्वती अनुकम्पा देवी का बाट जोहते-जोहते और कुछ नहीं केवल जीवन धारण करता है, वही

सफल है। उसी में भगवद्-वरणीयता गुणगण आ जाते हैं। उसी को भगवान् वरण करते हैं। इस तरह से भगवद्वरणीयता के उपयुक्त गुणगण आना चाहिए, इसके लिए भक्त को प्रयास करना चाहिए, पर प्रयास का घमण्ड नहीं। 'प्रयास के बल पर हम प्रभु को प्राप्त करेंगे' ऐसा घमण्ड नहीं हो ! ध्यान रखो मृग्य के अनुग्रह से ही मृग्य की प्राप्ति होती है। प्रयास अवश्य करो, विना प्रयास के एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए। पर प्रयास के बल पर प्रियतम को पाने की आशा नहीं करनी चाहिए। 'प्रियतम के बल पर ही प्रियतम मिलते हैं' ऐसी आशा होनी चाहिए।

इस तरह, दोनों आचार्यों (श्रीशंकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य) का सामञ्जस्य सध जाता है। जब भगवान् के अनेकों भक्त हैं, तब किसको जयमाला डालें, किसको न डालें ? यह व्यवस्थाकी बात है। उक्त रीति से दोनों की व्यवस्था सध जाती है। दोनों आचार्यों की सम्मति हो जाती है।

इस तरह भगवान् में अनन्यता जो अन्यत्र सिद्ध नहीं, वह भी यहाँ के नित्य-निकुञ्ज-मन्दिर में चरितार्थ हो जाती है। लिखा है—

दूरे सृष्ट्यादिवार्ता न कलयति मनाङ्नारदादीन्स्वभक्ता-
ञ्छ्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः।
किन्तु प्रेमैकसीमां मधुररस सुधासिंधुसारैरगाधां
श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते ॥

(श्रीराधासुधानिधि २३५)

"सृष्टि आदि की बात तो दूर रही, अपने नारदादि भक्तों का भी तनिक ध्यान नहीं करते। श्रीदामा आदि सुहृदों से भी नहीं मिलते, अपने पितृवर्ग (नन्द-यशोदा) की स्नेहवृद्धि को भी संकुचित कर देते हैं; परन्तु अगाध-मधुर रससुधा-सिंधु के सारस्वरूप प्रेम की चरमावधि श्रीप्रिया को एकमात्र जानते हुए मधुपति (श्रीलालजी) निरन्तर कुञ्ज-वीथी की उपासना करते रहते हैं।"

अरे भाई ! जब तक ईश्वरता रहेगी, तब तक सर्वज्ञता—समता ये सब उपद्रव भी रहेंगे। इसलिए कहा '**दूरे सृष्ट्यादिवार्ता**' नित्य-निकुञ्ज-मन्दिरा-धीश्वर श्यामसुन्दर ईश्वर नहीं। यहाँ तो उन्होंने ईश्वरता की तिलाञ्जलि दे दी है। अन्त में वेदान्ती भी कहते हैं कि ईश्वरता तो सोपाधिक में होती है। यहाँ के रसिकवृन्द भी कहते हैं कि भगवान् सृष्टि आदि के प्रपञ्च में नहीं पड़ते। यहाँ वाले तो ऐसा मानते हैं कि पाँच श्रीकृष्ण हैं—(१) द्वारकाधीश्वर, (२) मथुरा-धीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र, (२) व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र, (४) वृन्दावनस्थ श्रीकृष्ण-चन्द्र और (५) नित्यनिकुञ्ज-मन्दिराधीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र। श्रीद्वारिकाधीश को लोग बहिरङ्ग मानते हैं। उससे श्रेष्ठ श्रीमथुराधीश को मानते हैं। '**व्रजे वने-**

निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्' के अनुसार व्रज की अपेक्षा वन में और वन की अपेक्षा निकुञ्ज में श्रेष्ठता है। इसी दृष्टि से व्रजेन्द्रनन्दन से वृन्दावनचन्द्र को और वृन्दावनचन्द्र से नित्य-निकुञ्ज-मन्दिराधीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र को श्रेष्ठ माना है। ये तीनों क्रमशः पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम हैं। अर्थात् व्रजेन्द्रनन्दन पूर्ण हैं, वृन्दावनचन्द्र पूर्णतर हैं और नित्य निकुञ्ज मन्दिराधीश्वर पूर्णतम हैं। यहाँ के श्रीकृष्ण तो अनन्त ब्रह्माण्डों के उत्पादन, पालन और संहरण से दूर रहते हैं। नारदादि भक्तों को उनका दर्शन नहीं होता। श्रीभगवान् के परम अन्तरङ्ग सखा श्रीदामादि से कभी मिलते ही नहीं। यहाँ तक कि नन्दबाबा और यशोदारानी के स्नेह की ओर भी ध्यान नहीं देते। मधुररस के अगाधसार श्रीराधारानी को ही जानते हैं, 'राधामेवजानन्' में 'एव' पद का अर्थ इस प्रकार है—

'सब को न जानकर केवल भगवान् को जानना' जीव के लिए सामान्य बात है।

'सर्वं न जानाति, केवलं भगवन्तं जानाति'

जीव के लिए यह उचित ही है। जीव तो अल्पज्ञ होता है। 'सब को न जानकर एकमात्र भगवान् को जानना' उससे सध ही सकता है। पर ईश्वर तो सर्वज्ञ है, उसके लिए 'सर्व को न जानता हुआ केवल राधा को ही जानता हुआ', यह बहुत कठिन है। इसलिए भगवान् सर्वज्ञता की तिलाञ्जलि देते हैं। जिस सर्वज्ञता को लोग बड़े चाव से देखते हैं, भगवान् उसी से अपना (उनका) पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। बड़ा कठिन काम है।

कहते हैं, एकबार भक्त ने भगवान् से कहा—"महाराज आप अनादि-काल से अनन्त ब्रह्माण्ड का उत्पादन, पालन और संहार करते हैं। यद्यपि आप पूर्णकाम-निष्काम-आत्माराम हैं, आपको परिश्रम होता ही नहीं, तब भी हमको लगता है कि आप बहुत दिनों से काम कर रहे हैं। आप विश्राम करें, ये काम हमको दे दें। अनन्त ब्रह्माण्ड का प्रबन्ध हम करेंगे।"

भगवान् ने कहा—'कर सकोगे'?

भक्त ने कहा—"आपका वेद वचन कहता है—

'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मुण्डको० ३. १. ३)

'जीवात्मा निरञ्जन होकर सर्वोपाधि विनिर्मुक्त होकर, भगवान् के परम तुल्य हो जाता है।' इसलिए महाराज ? अनन्त ब्रह्माण्ड के प्रपञ्च का भार हमको दे दें, आप विश्राम करें।"

भगवान् ने कहा—"भैया ! बात ठीक है, पर व्यास ने ब्रह्मसूत्र में लिख दिया है कि —"**जगद् व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च**" (ब्रह्मसूत्र ४.४.१७)

'जगत् की उत्पत्ति आदि के व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमा आदि ऐश्वर्य विद्वान् को प्राप्त होता है; क्योंकि जगत्-सृष्टि में ईश्वर प्रवृत्त है और अन्य असन्निहित है', जीव ईश्वर के परम तुल्य हो जाता है, फिर भी जगत् उत्पादन-पालन-संहरण ईश्वर का काम है, जीव का नहीं।"

फिर भी भक्त ने आग्रहपूर्वक कहा—"महाराज ! एक दो दिन देके देखें तो सही ! हमारे प्रबन्ध में कोई गड़बड़ी होवे तो बता देना। आप पुनः अपना काम सम्भाल लेना।"

भगवान् ने कहा—"ठीक है।"

भला, भगवान् भक्त का आग्रह कैसे टालते ? भगवान् को स्वीकार करना पड़ा। उसने प्रबन्ध किया। शाम हुई, भगवान् आये। भक्तराज बोले—"देखिये प्रभो ! यह सब प्रबन्ध ! ठीक है न ? अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड हैं, आपके। उनमें अनन्त-अनन्त राष्ट्र हैं। राष्ट्र के भीतर बहुत-से नगर हैं। उनमें बहुत-से महल हैं। महलों में बहुत-सी कोठरियाँ हैं। उनमें किस कोठरी के किस कोने में किस बिल में किस चींटी को जुकाम हो गया है, इसको जानकर उसका क्या इलाज होना चाहिए, इसकी भी व्यवस्था है। आप सब व्यवस्थाओं को ठीक-ठीक देखिये।"

कुछ लोगों की ओर प्रभु का ध्यान गया। भगवान् ने कहा—"भाई ! इनका रोटी-ओटी की व्यवस्था ठीक है न ?"

भक्त—'हैं, क्या इनको भी रोटी देनी पड़ेगी ! ये तो आपको गाली देते हैं।'

भगवान् बोले—'इसलिए मैंने कहा था कि तुमसे इन्तजाम नहीं बनेगा। हम तो अपने गाली देनेवाले लोगों को भी रोटी देते हैं। गाली देने वाले को गाली देने की बुद्धि देते हैं। बुद्धि तो हमारे हाथ में है।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(भगवद्गीता १८. ६१)

प्राणिमात्र के हृदय में भगवान् विराजमान हैं। सब की बुद्धियों को प्रेरित करते हैं। नास्तिक को नास्तिकता की और तार्किक को तार्किकता की बुद्धि वे ही तो देते हैं ! कहने का मतलब यह है कि ईश्वरता ईश्वर में ही रहती है, परात्पर परब्रह्म परमात्मा में ही रहती है। उन्हीं से विश्व का प्रपञ्च-व्यवहार-विस्तार चलता है। वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्व प्राणियों के हितैषी हैं। सबका ध्यान उनको रखना पड़ता है। लेकिन यहाँ (नित्य-निकुञ्ज में) तो ईश्वरता उन्होंने छोड़ दी है। भला, किस प्रकार ? इसी प्रकार कि एक दिन ललिता-

विशाखादि सखियों से उन्होंने अनुरोध किया—"सखियो ! किसी तरह मेरी ईश्वरता से पिण्ड छुड़ा दो। इससे नाकोदम हूँ। यह तो एक प्रकार का उपद्रव है। सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायकता हमें परेशान करती है। इससे हमारा पिण्ड छुड़ाओ। देखो जैसा प्रेम भक्त लोग मुझमें करते हैं वैसा हम उनमें नहीं कर पाते। प्रेमास्पद-रागास्पद के अधीन रहने में स्वाद है। उस स्वाद से मैं वञ्चित हूँ। आसज्य (प्रियपात्र) के पराधीन रहकर, आसज्य के सुख में तन्मय होकर, अन्तःकरण-अन्तरात्मा का बिलकुल (उसमें) निवेदन—निवेश कर देने में सुख है। यद्यपि स्वतन्त्रता एक बड़ी ऊँची चीज मानी जाती है। कहा जाता है कि सुख क्या है ?

'सर्वमात्मवशं सुखम्' (मनुस्मृति ४. १६०)—'आत्मवशता ही सुख है, आत्मवश-स्ववश होना ही सुख है।' दुःख क्या है ? 'सर्वं परवशं दुःखम्'[१२] (मनुस्मृति ४. १६०), 'पराधीनता ही दुःख है, जितनी परवशता है, उतना ही दुःख है, पर प्रेमी तो आत्मवशता को ही दुःख और परवशता को ही सुख मानता है। मधुर वैवश्य (विवशता) उसे सुख ही मान्य है। यह प्रेम की अद्भुत महिमा है। प्रेमदेवता जिसको एकबार स्पर्श कर ले, वह कुछ-का-कुछ हो जाता है। अल्पज्ञ को छूले तो वह सर्वज्ञ हो जाय ! सर्वज्ञ को छूले तो वह अल्पज्ञ हो जाय ! सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र को छूले तो वह परतन्त्र हो जाय ! अल्पशक्तिमान् को छूले तो वह सर्वशक्तिमान् हो जाय ! प्रेम देवता जिसको छूले वह कुछ-का-कुछ हो जाय ! प्रेम देवता की विचित्र-लीला है। हे सखियो ! अब तुम मुझे किसी उपाय से इस सर्वज्ञता से पिण्ड छुड़ाओ। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का उत्पादन, पालन, संहरण का प्रपञ्च कैसे छूटे, बताओ !'

भगवान् के ऐसा कहने पर ललिता ने श्रीराधारानी के मंगलमय चरणारविन्द से रज उठाया और श्रीकृष्ण के ऊपर छोड़ दिया। बस क्या था ? श्रीकृष्ण उस ईश्वरता से मुक्त हो गये। तब से अहर्निश सर्व विस्मरण-पूर्वक वे श्रीराधारानी के ही मंगलमय चरणारविन्द के चिन्तन में निमग्न रहते हैं। इसलिए श्रीराधारानी के मंगलमय चरणारविन्द की रज के लिए कहा है—

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्म मुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिका चरणरेणुमनुस्मरामि ॥
(राधासुधानिधि ३)

---

१२. सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेम लक्षणं सुख दुःखयोः ॥
(मनुस्मृति ४. १६०)

"जो ब्रह्मा, रुद्र, शुक, नारद, भीष्मादिकों से भी एकाएक लक्षित नहीं हुए, उस परम पुरुष (लालजी) को तत्काल ही वश करने में समर्थ चूर्ण के समान अनन्तशक्ति सम्पन्न उस श्रीराधारानी की चरणरेणु का मैं बार-बार स्मरण करता हूँ।"

ब्रह्मा, रुद्र, नारद, भीष्मादि महान् भक्तों के लिए जिनका दर्शन दुर्लभ है, जो परम पुरुष अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाधिष्ठान सर्वज्ञ शिरोमणि हैं, उन्हीं श्यामसुन्दर मदनमोहन को देर से नहीं, तत्काल ही वशीभूत करने वाला श्रीराधारानी के चरणारविन्द का दिव्य चूर्ण है। जिसे मिल जाय, वही वशीभूत हो जाय ! यह लीला यहीं है और कहीं नहीं। अन्यत्र तो भगवान् में सर्वज्ञता है, सर्वशक्तिमत्ता-अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता है। अनन्त-अनन्त जीव हैं। उन सब का ध्यान रखना पड़ेगा। वैसे ही ब्रह्मा-रुद्रादि का ध्यान रखना पड़ेगा। अकेले राधा का ही ध्यान कैसे ? शुकादि सनकादि का ध्यान रखना पड़ेगा। इसका क्या मतलब कि केवल राधा को ही जानें ? यह तो तभी बनेगा, जब ईश्वरता से पिण्ड छूटे। परन्तु ! यहाँ तो **'राधामेव जानन्'** केवल राधारानी को ही जानते हैं और कुछ नहीं जानते। हो गयी न अनन्यता ? रसिकता तो है ही।

भ्रमर रसिक होता है। अनेक कमल उसके प्रेमास्पद होते हैं। एक कमल सूख गया तो दूसरे में, दूसरा सूख गया तो तीसरे में, प्रेम करता है। इस तरह अनन्त कमल उसके प्रेमास्पद होते हैं। पर, भ्रमर—जैसा कोई केवल रसिक ही हो तो इस प्रेम राज्य में उसका विशेष महत्त्व नहीं। इस प्रेम राज्य में तब महत्त्व है, जब कोई रसिक होते हुए भी अनन्य बने। यही (केवल रसिकता की) स्थिति श्रीकृष्णचन्द्र की भी है। पर, श्रीराधासुधानिधि में तो अनन्य रसिक के रूप में श्रीश्यामसुन्दर का वर्णन है। यहाँ के भक्तों में श्रीकृष्ण के प्रति अपनत्व है, अनन्यता का भाव है, वे कहते हैं—'हमारे श्यामसुन्दर' इसी तरह हमारे बैरागी बाबा बोलते हैं—'हमारे रामजी', 'हमारे रामजी को भोग लगाना है।' वे कहीं ऐसा सोचें (कि) 'रामचन्द्रजी का (के लिए) भोग इन्द्र लगाते हैं, ब्रह्माजी भी लगाते हैं, अगर हम भोग नहीं लगावेंगे तो क्या भगवान् भूखे रह जायेंगे ?' तब तो वे भक्त नहीं, भक्त को तो यह सोचना चाहिये कि हमारा भोग न लगे तो भगवान् भूखे रह जायेंगे। ऐसा समझकर अवश्य ही भोग लगाना चाहिये। कर्माबाई सोचती थी कि मेरी खिचड़ी मौके पर न पहुँचेगी तो मेरे प्रियतम भूखे रह जायेंगे। कहते हैं न, कि किसी सन्त ने एक दिन कहा (कि) "तू बड़ी बेवकूफ है, विना नहाये-धोये भगवान् के लिए खिचड़ी बना देती है।"

कर्माबाई ने कहा (कि) "महाराज ! नहाने-धोने से कहीं देर लग जायेगी तो हमारे भगवान् भूखे रह जायेंगे।"

फिर भी सन्त के कहने पर नहाई-धोयी। नहाने-धोने में हो गई देर।

भगवान् ने शिकायत की हम आज इतनी देर भूखे रहे। कलेवा भी नहीं हुआ। स्वप्न दिया "तुम किसी की परवाह न करके विना नहाये-धोये भोग बनाओ।" उसने वैसा ही किया।

इसलिए यही सोचना चाहिये कि भगवान् को भोग लगाने वाले इन्द्र और ब्रह्माजी क्यों न हों, किन्तु हमारे भोग के विना भगवान् भूखे रह जायेंगे। यदि ऐसी भावना न हुई तो भक्ति अधूरी है। इसलिए 'हमारे ही भगवान्' प्रत्येक भक्त की ऐसी भावना होनी चाहिये। पञ्चायती भगवान् नहीं। जो भक्त के निजी भगवान् होते हैं वे तो अपने भक्त को ही देखते हैं और किसे देखेंगे ? विश्वास है, भक्त को कि हमारे (उनके) भगवान् की दृष्टि इधर-उधर नहीं जाती है, सदा हम पर ही रहती है। इस तरह भगवान् में रसिकता के साथ ही अनन्यता भी हो जाती है। उत्कृष्ट कोटि की प्रीति भगवान् में सम्मिलित हो जाती है। 'राधामेव जानन्' में 'एव' कारका अर्थ यह दर्शाया है कि यह रस विषयान्तरके ज्ञान को लुप्त कर देता है। 'एवकारेण विगणित वेद्यान्तरत्वमुक्तम्', सुना है न—

'इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्'
(भाग० १०. ३१. १४)

३. प्रेम के विषय और आश्रय दोनों ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द

भगवान् को नित्य-निकुञ्ज लीला बड़ी प्रिय है। इसलिए सारे विश्व को भूलकर श्रीराधा को ही जानते हैं और किसी को नहीं जानते। जैसी चातक की प्रीति है, मीन की प्रीति है, उससे कोटि गुणा अधिक भगवान् की प्रीति। इसलिए कहते हैं कि प्रेम के विषय ही नहीं, आश्रय भी भगवान् हैं—अर्थात् भगवान् केवल आसज्य ही नहीं, किन्तु आसक्तिमान् भी हैं। प्रेमी हैं, प्रेम करना जानते हैं, इसलिए कहते हैं कि—

प्रेम की रीति रंगीलो ही जानै।
यद्यपि अखिल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानै ॥
(श्रीहित हरिवंशजी)

यह स्थिति भगवान् पर बीत चुकी है। वृन्दा का पति जालंधर असुर था। वृन्दा पतिव्रता थी। उसका पातिव्रत धर्म उसके पति का कवच बना हुआ था। उधर जालंधर हजारों पतिव्रताओं का सतीत्व भङ्ग करता था। राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी गौरी का भी सतीत्व भङ्ग करना चाहता था। छलपूर्वक शिव बनकर उनके पास गया। गौरी ने उसे पहचान लिया। वृन्दा का अखण्ड पातिव्रत उसका वध नहीं होने देता था। शिव ने उसे मारना चाहा, लेकिन कवच-

भेदन किये बिना उसका वध कैसे हो सकता था ? इसलिए कवच तुल्य वृन्दा का पातिव्रत-धर्म भङ्ग करना जरूरी था। इसमें भी सबका अधिकार नहीं। पातिव्रत-धर्म वह भङ्ग करे जो उस धर्म का उस फल प्रदान कर सके। पातिव्रत का अन्तिम फल क्या ? भगवत्-पद-परमपद की प्राप्ति। किसी भी धर्म का पालन करो, जप करो, तप करो, ब्रह्मचर्य से रहो, सत्य बोलो, इस सबका अन्तिम फल क्या है ? भगवत्-प्राप्ति। भगवत्-प्राप्ति तो भगवान् ही करा सकते हैं।

इसी दृष्टि से वृन्दा के सतीत्व को भङ्गकर, उसे परमपद की प्राप्ति भगवान् ही करा सकते थे। वही उसके अधिकारी थे। जैसे अपराध का दण्ड हरेक कोई नहीं दे सकता। न्यायाधीश ही अपराध का दण्ड दे सकता है। किसी को फांसी का हुक्म (आदेश) हो गया हो, कोई आदमी जाकर उसे मार दे, तो उसको भी फांसी देंगे। जिसका अधिकार है, वही फांसी दिलायेगा दूसरा नहीं। इस तरह भगवान् विष्णु छलकर जालंधर बन गये। वृन्दा का उन्होंने स्पर्श किया। तब जालंधर मारा गया।

छल करि टारेउ तासु व्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहि जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥

(रामचरित मानस १. १२३)

वृन्दा ने भगवान् को शाप दे दिया—'जाओ तुम पत्थर हो जाओ।'; इतना ही नहीं, इसके बाद अपने पति जालंधर के साथ चिता में जलकर भस्म हो गयी। भगवान् विष्णु उसकी चिता पर लोटने लगे। यह लौकिक-दृष्टि से कितना वीभत्स है ? जिससे प्यार किया, वह प्यार नहीं करती। असुर पति में प्रीति करती है। उसके वियोग में जल जाती है। विष्णु में प्रीति नहीं करती। तभी तो भर्तृहरि ने कहा है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

(नीतिशतक २)

"हाय ! जिसका मैं इष्टदेवता की तरह निरन्तर चिन्तन करता रहता हूँ, वह मुझसे विरक्त है, वह मुझे नहीं चाहती, वह किसी और से प्रेम करती है। कैसी विधि की विडम्बना है कि वह उसका प्रेमास्पद भी तो किसी और से ही प्रेम करता है, प्रेम करने वाली को नहीं चाहता; किन्तु जिसे वह चाहता है, वह उसकी प्रेयसी उससे प्रेम न करके मुझे चाहती है। अहो ! उस मेरी प्रिया को

धिक्कार है और उस पुरुष तथा उसकी प्रेयसी एवं इस मदन तथा मुझे भी धिक्कार है।"

भर्तृहरि को तो वैराग्य हो गया, लेकिन विष्णु को वैराग्य नहीं हुआ। जिसके लिए छल-कपट किया, उसी ने उससे प्रेम नहीं किया। शाप दे डाला। अपने असुरपति के साथ भस्म हो गयी, ऐसा अद्भुत प्रेम? इसलिए भगवान् प्रेमी हैं। उन्होंने वृन्दा का शाप अङ्गीकार किया, साथ ही कहा—"हम शालग्राम शिला बनेंगे अवश्य, पर तुम भी तुलसी बनकर हमारे ऊपर विराजोगी।" कहते हैं—

'छप्पन भोग छत्तीसो व्यंजन
विनु तुलसी हरि एक न मानों'

छप्पन भोग, छत्तीसों व्यंजन का भोग लगा दो, विना तुलसी के कुछ नहीं। यह है, प्रेम करने का स्वरूप। प्रेम करना भगवान् ही जानते हैं और कोई नहीं—

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥
(विनय पत्रिका १६४)

प्रीति की रीति रँगीलो ही जानें।
यद्यपि अखिल लोक चूडामणि दीन अपनपौ मानें॥
निकट नवीन कोटि कुल कामिनि धीरज मनहिं न आनें।
नश्वर नेह चपल मधुकर ज्यौं आन आन सों बानें।
जय श्रीहित हरिवंश चतुर सोई लालहिं छाँड़ि मैंड पहिचानें॥

४. प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमाश्रय की तत्त्वतः एकरूपता तथापि प्रेम-वैचित्र्य निमित्तक परस्पर सुदुर्लभता

इन सब दृष्टियों से लोकोत्तर प्रेम के आश्रय हैं भगवान्। अनन्यता विना प्रेम में त्रुटि रहती है। पर प्रेम में त्रुटि-व्यक्त न हो, इसलिए यहाँ राधारानी के सम्बन्ध में कृष्णचन्द्र परमानन्द का प्रेम अनन्यता को प्राप्त होता है। इस तरह यहाँ भगवान् में पूर्ण रसिकता और अनन्यता भी पूर्ण है। ये यहाँ केवल राधारानी को ही जानते हैं। इनका अन्तःकरण, अन्तरात्मा, प्राण, रोम-रोम सब सदा ही राधा के प्रेम परवश रहता है।

'व्रजे वने निकुञ्जे च श्रेष्ठयमथोत्तरोत्तरम्'

इसलिए नित्य-निकुञ्ज-मन्दिराधीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र में सर्वोत्कृष्टता है।

अभिप्राय यह है कि जैसे एक ही प्रकार का स्वातिविन्दु स्थल वैचित्र्य से विचित्र परिणाम वाला होता है शुक्तिका में पड़कर मोती के रूप से, बाँस में वंशलोचन रूप से, गोकर्ण में गोरोचन रूप से, गजकर्ण में गजमुक्ता रूप से परिणत होता है; वैसे ही वेदान्तवेद्य श्रीकृष्णचन्द्र भी अभिव्यञ्जक स्थल की स्वच्छता के तारतम्य से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट रीति से स्फुरित होते हैं।

श्रीराधारानी श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के आसज्य हैं, आसक्ति के गोचर हैं। आसक्ति के आश्रय श्रीकृष्ण हैं। वे सदा ही सेवा-परायण रहते हैं। ऐसी स्थिति में कभी यह अवसर नहीं मिलता कि श्रीराधारानी अपने अञ्चल से उनके श्रमजन्य स्वेद को दूर करें। यहाँ तो सदा ही श्यामसुन्दर राधारानी के ऊपर पंखा झलते हैं। ऐसी स्थिति में श्रीजी को अपने (उनके) वसनाञ्चल के द्वारा श्यामसुन्दर के श्रम दूरीकरण का अवसर ही नहीं मिलता है। हाँ यह तभी सम्भव है, जब श्यामसुन्दर किसी अवसर पर श्रीजी के ध्यान में निमग्न हों! एक वार ऐसा ही योग उत्पन्न हुआ। श्यामसुन्दर पुष्प-संचय में मग्न थे। इसलिए कि पुष्पों से श्रीराधारानी के भूषण बनायेंगे, शृङ्गार बनायेंगे। उन्हें अलंकृत करेंगे। पुष्प-सञ्चय की दशा में श्रीजी का ध्यान करते-करते तल्लीन हो गये। पुष्प-सञ्चय का काम रुक गया। श्रीराधारानी ने श्रीश्यामसुन्दर के श्रीअङ्ग पर स्वेद-विन्दु देखा तो करुणार्द्र-हृदय हो गयीं। अपने वसनाञ्चल के खेलन से उत्थ पवन से उनके श्रम को दूर करने लगीं। इस आकस्मिक वसनाञ्चल खेलनोत्थ-पवन के स्पर्श से श्यामसुन्दर ने स्वयं को धन्य-धन्य माना।

यहाँ तो अपने ही श्रमांशु (श्रमविन्दु) को दूर करने के लिए श्रीजी ने वसनाञ्चल से हवा किया (की)। श्रीकृष्ण ने उस पवन को धन्यों से भी अति धन्य माना। उसकी पराकाष्ठा की प्रशंसा की। प्रशंसा करते-करते तृप्त नहीं हुए। ऐसे श्रीकृष्ण कौन हैं? योगीन्द्र दुर्गम गति। सर्व वेद-वेदान्तों में जिनके ऐश्वर्य का वर्णन है, महामहिम वैभव का वर्णन है, ऐसे भगवान् मधुसूदन श्यामसुन्दर भी जिनके वसनाञ्चल खेलनोत्थ पवन को धन्य-धन्य कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं, उनके परमोत्कर्ष का क्या कहना!

एक यह भी भाव है। प्रेमवैचित्य की अवस्था है। प्रिया-प्रियतम दोनों मिले हुए हैं। दुनियाँ में एक प्रेम होता है, एक प्रेम का गोचर और एक प्रेम का आश्रय। इस तरह प्रेम, उसका आश्रय और उसका विषय ये तीन दल होते हैं। तीनों तीन परिलक्षित होते हुए भी वस्तुतः (विचारतः) एक ही हैं। जैसे दुनियाँ में एक रूप होता है, एक रूप ग्राहक चक्षु और एक चक्षु का सहकारी आलोक। रूप अधिभूत कहा जाता है, चक्षु अध्यात्म तथा आलोक (सूर्य) अधिदेव। आलोक सहकृत चक्षु से रूप-ग्रहण होता है। मूल में तेज का ही परिणाम रूप है, तेज का ही परिणाम नेत्र (चक्षु) और तेज का ही परिणाम

आलोक। तेज ही रूप, वही चक्षु और वही आलोक। इसी तरह प्रेम तत्त्व ही श्रीराधारानी के रूप में प्रकट होता है। प्रेम तत्त्व ही दोनों के प्रति प्रेम के रूप में भी प्रकट होता है। तीन दल प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः तीनों तीन नहीं। प्रेम ही प्रेम, उसका आश्रय तथा विषय के रूप में प्रकट होता है। तीनों केवल प्रेम का विलास है। इसलिए मैंने कहा—पूर्णानुराग-रससार-सरोवर समुद्भूत सरोज ही श्रीवृन्दावन धाम है। उसमें पीले पीले केसरें (किञ्जल्क) गौरांगी गोपाङ्गनाएँ—श्रीराधारानी की सखिवृन्द हैं। उसमें पराग श्रीकृष्णचन्द्र हैं। पराग में जो मकरन्द है, वह श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी हैं। (वस्तुतः) यहीं सर्वांगीण सम्मिलन है। दुनियाँ में सब मिलन सापेक्ष है। भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र में हुए महाभारत युद्ध के पश्चात् हस्तिनापुर गये। वहाँ से द्वारिका में आये। उनकी पटरानियाँ उनसे मिलने के लिये उठकर खड़ी हुईं—**'उत्तस्थुरारात्सहसाऽऽसनाशयात्'** (भागवत १. ११. ३१), कहाँ से **'आसनात्'** आसन से। किसलिए ? देशकृत व्यवधान को दूर करने के लिए। प्रियतम वहाँ और हम यहाँ ? यह उचित नहीं। **प्रेम का यह स्वभाव होता है कि उसे भेद सह्य नहीं होता, अर्थात् प्रेम स्वभाव से ही भेदासहिष्णु होता है।** इसलिए द्वारकास्थ पट्टमहिषियाँ देशकृत व्यवधान दूर करने के लिए आसन से उठ खड़ी हुईं। पुनः वस्तुकृत व्यवधान दूर करने के लिए **'आशयाच्च उत्तस्थुः'** आशय से उठीं। **'आशयात्'** माने **'पञ्चकोशकञ्चुकात्'** अर्थात् आशय शब्द से अन्तःकरण विवक्षित है। वह समस्त कर्मवासनाओं का आलय है—**'आशेरते कर्मवासना यत्रासावाशयः'**, आशय भी पञ्चकोश का उपलक्षण है, अर्थात् श्रीकृष्ण-प्रेयसी आशयोपलक्षित पञ्चकोश-कञ्चुक से समावृत स्वरूप से प्रिय-सम्मिलन में त्रुटि समझकर पञ्चकोश-कञ्चुक से पृथक् होकर निरावरण रूप से प्रियतम-सम्मिलन के लिए उठीं।

'पञ्चकोश कञ्चुकात्' अर्थात् पञ्चकोश-कञ्चुक से। अरे ! प्रियतम सम्मिलन में एक कञ्चुकी का भी व्यवधान नहीं होना चाहिये, फिर तुम पञ्च-पञ्च कञ्चुकी धारण किये मिलोगी ? ऐसा कैसे ? कञ्चुकी की बात कौन कहे, हारका भी व्यवधान नहीं होना चाहिए। रसज्ञ नायिका प्रियतम के सम्मिलन में हार व्यवधायक न हो, इसलिये कण्ठ में हार भी धारण नहीं करती—

'हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा' (हनुमन्नाटक)

इतना ही नहीं रसोद्रेक में रोमाञ्च होता है, उसका भी व्यवधान उन्हें असह्य होता है। तो ऐसा मिलन कहाँ होता है ? ऐसा मिलन जल और तरंग में होता है। जल और तरंग में कोई व्यवधान नहीं होता। इसलिए गोपाङ्गना और श्रीकृष्ण में मिलन कैसा ? तरंग और जल जैसा। जैसे तरंग के बाहर-भीतर और मध्य में जल ही भरपूर होता है, ऐसे ही गोपाङ्गनाओं के अन्तरात्मा और रोम-रोम में श्रीकृष्ण ही भरपूर रहते हैं।

पाशविक संभोग तो पशुओं का होता है। यहाँ वैसा संभोग नहीं।

'सविता गोभिः रसं भुङ्क्ते' सूर्य नारायण अपनी किरणों (रश्मियों) से रसका सम्भोग करते हैं। संभोग माने स्वात्मतादात्म्यापादन। सूर्य भगवान् अपनी रश्मियों से रस को आकृष्ट करके अपना ही रूप बना लेते हैं 'भोक्ता भोग्य को आत्मसात् कर ले' यही सम्भोग है। दुनियाँ के भोग में ऐसा नहीं बनता। इस-लिए दुनियाँ के संभोग में क्या पड़ना? सर्वान्तरात्मा सर्वशक्तिमान् पूर्णतम पुरुषोत्तम जीवों को स्वात्मतादात्म्यापादन संपादन करते हैं, इसलिए भगवान् भोक्ता हैं, जीव भोग्य है। इस तरह जीव गोपाङ्गना है, गोपाङ्गना भाव बिना जीव का कल्याण न हुआ है और न होगा। गोपाङ्गना-भाव में ही जीवों का कल्याण है। गोपाङ्गना-भाव माने कृष्ण की काया की छाया बन जाना। जिस तरह काया की स्थिति-गति-प्रवृत्ति में छाया की स्थिति-गति-प्रवृत्ति है, उसी तरह से प्रियतम की स्थिति-गति-प्रवृत्ति में अपनी स्थिति-गति-प्रवृत्ति हो! अपनी कामना स्वतन्त्र कुछ नहीं। प्रभु की कामना में अपनी कामना मिला दे। प्रभु के मन में अपना मन मिला दे। अपना अस्तित्व खो दे। यही गोपाङ्गना-भाव है। गोपाङ्गनाओं ने ऐसा ही किया। प्रभु ने गोपाङ्गनाओं को आत्मसात् कर लिया। प्रियतम भगवान् भोक्ता हैं और प्रिय भक्त उनका भोग्य।[13]

'तथापि तव भोग्याहं भोक्तासित्वं महेश्वर'

हे महेश्वर? यद्यपि हम और आप वस्तुतः एक हैं, फिर भी हम भोग्य हैं और आप हमारे भोक्ता।

कहने का तात्पर्य यह है कि "**सविता गोभिः रसं भुङ्क्ते**" सूर्य्य अपनी रश्मियों से रस का संभोग करते हैं। यहाँ रश्मि के द्वारा रस की सूर्य्य के साथ अभेदापत्ति ही भोग है। भोक्ता भोग्य को अपने साथ तादात्म्य कर लेता है। अनुकूल-प्रतिकूल विषयों के एवं तज्जन्य सुख-दुःखों के साक्षात्कार को ही भोग कहा जाता है। यह साक्षात्कार जड़ मन, बुद्धि और अहङ्कारादि से असम्भव है; अतः स्वप्रकाश चैतन्य से ही समस्त विषयों का साक्षात्कार या भोग सम्पन्न होता है। अतएव बौद्ध-बोध से भिन्न एक अपौरुषेय-बोध मानने की अपेक्षा पड़ती है। जैसे जपाकुसुमादि द्वारा लोहित स्फटिक पर प्रतिबिम्बित पुरुष में भी उसी लौहित्य का भान होता है, वैसे ही श्रोत्रादि इन्द्रिय प्रत्युपस्थापित शब्द-स्पर्शादि विषयों के आकार से आकारित वृत्तिमदन्तःकरण के आरोपित सम्बन्ध से चिदात्मा में विषयाकारता बन जाती है। बस, इस तरह असङ्ग में परम्परया विषय-सम्बन्ध, प्रकाशकता या भोक्तृता बनती है। सभी विषयों का मुख्य भोक्तृत्व चिदात्मा में ही बनता है, तथा च सभी कान्तास्पर्शादि सुख के भी मुख्य भोक्ता अन्तरात्मा

---

१३. गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामपि देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडने नेह दोषभाक्॥
(भागवत १०. ३३. ३६)

श्रीकृष्ण ही हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अधिदेव सभी भोग के साधन हैं। जैसे सब मनों का अभिमानी होने से चन्द्र के स्पर्श से किसी साध्वी का पातिव्रत नहीं बिगड़ता, वैसे ही सर्वान्तरात्मा श्रीकृष्ण का संस्पर्श किसी के भी पातिव्रत का विध्वंसक नहीं है।

इस तरह जीव एकमात्र श्रीभगवान् का ही भोग्य है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक प्रभु ही जीव का 'स्वात्मतादात्म्यापादन' करते हैं। जीव भगवान् का भोग्य बनकर भगवद्भावापन्न होता है। जीव को भगवत्साधर्म्य की प्राप्ति होती है। यहाँ इससे भी आगे की बात है। हमने कहा कि गोपाङ्गनाएँ तो तरंग हैं। तरंग कुछ बहिरङ्ग वस्तु है। गङ्गाजल में तरङ्ग, गङ्गाजल से बहिरङ्ग है। गङ्गाजल की शीतलता, पवित्रता, मधुरता अन्तरङ्ग है। आनन्दसिन्धु श्रीश्यामसुन्दर हैं और उनके माधुर्यसार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री देवी श्रीराधा हैं। उनका श्रीकृष्ण से सर्वाङ्गीण सम्मिलन है। एक भी अङ्ग का पार्थक्य नहीं है। मन-से-मन, प्राण-से-प्राण, तन से-तन, रोम-से-रोम, अन्तरात्मा-से-अन्तरात्मा का सर्वथा सम्मिलन है। क्षण भर का भी वियोग नहीं है। इसलिए इस लीला के सामने **'उत्तस्थुरारात् सहसाऽऽसनाशयात्'** की बात फीकी पड़ गयी। यहाँ तो—

> **अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं**
> **हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्।**
> **श्यामानुरागमद विह्वल मोहनाङ्गी**
> **श्याममणिर्जयति कापि निकुञ्ज सीम्नि ॥**
> (राधासुधानिधि ४६)

"प्रियतम के अङ्क (गोद) में विराजमान होने पर भी अचानक हा मोहन ! इस प्रकार मधुर प्रलाप करती हुई (एवं) लालजी के अनुराग में मद से विह्वल मनोहर अङ्गवाली नित्यकिशोरी निकुञ्ज भवन में सबसे ऊपर विराजमान हैं।"

प्रियतम अङ्क में हैं। सर्वांगीण सम्मिलन है। मन-से-मन, अन्तःकरण से-अन्तःकरण, प्राण-से-प्राण, अन्तरात्मा-से अन्तरात्मा उलझे हुए हैं। इतने पर भी **'हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्'** श्रीजी कह रहीं हैं— 'हा, मदनमोहन !', कोई सुनता है तो कहता है (कि) "इस विरहिणी को जन्म-जन्मान्तर में, युग-युगान्तर में, कल्प-कल्पान्तर में कभी प्रियतम का सम्मिलन नहीं हुआ है। जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर की विरहिणी अपने प्राणनाथ के विरह जन्य तीव्र ताप से सन्तप्त होकर कहती है, हा मदनमोहन !" ऐसा क्यों ? श्यामानुराग मद विह्वलता के कारण। जैसे मधु मादक होता है, वैसे ही श्यामानुराग-मद मादक होता है। श्यामसुन्दर मदनमोहन के द्वारा ही श्यामा के सम्पूर्ण श्री-अङ्ग अन्तःकरण, अन्तरात्मा समलंकृत हैं। अरे भाई ! क्या दिव्य वसन-भूषण

से अङ्गों का अलङ्कार होता है ? जिनके अङ्ग-अङ्ग में प्रेममद छाया हुआ है, रोम-रोम में प्रेम का मद छाया हुआ है, षोडश वर्षीया नायिकाओं में श्रेष्ठ, उन सुन्दरियों में मणिस्वरूपा श्यामा निकुञ्ज देवी का शृङ्गार श्यामसुन्दर के अतिरिक्त और क्या होगा ? ऐसी श्रीजी सर्वांगीण मिलन में विरह जन्य तीव्र वेदना का अनुभव कर रही हैं। यह अद्‌भुत स्वरूप है। असल में तो एक प्रकार का यह प्रेमोन्माद है। कहीं आनन्दसिंधु से माधुर्यसार-सर्वस्व जुदा (वियुक्त) होता है ? जुदा ही नहीं होता तो विप्रलंभ कहाँ ?

नित्य-निकुञ्ज में वृषभानुनन्दिनी स्वरूप महाभाव परिवेष्टित शृङ्गार-रस स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द नित्य ही रसाक्रान्त रहते हैं। जैसे कि सन्निपात ज्वर से आक्रान्त पुरुष जिस समय शीतल-मधुर जल का पान करता है, ठीक उसी समय में पूर्ण तीव्र पिपासा का भी अनुभव करता है, वैसे ही नित्य निकुञ्जधाम में जिस समय प्रिया-प्रियतम पारस्परिक परिरम्भणजन्य रस में निमग्न होते हैं, उसी समय में तीव्रातितीव्र वियोगजन्य ताप का भी अनुभव करते हैं। अनन्त का परस्पर मिलन अनन्तकाल तक बना रहता है, पर पिपासा बढ़ती जाती है, उत्तरोत्तर अनन्त माधुर्यामृत की अनुभूति होती रहती है। अद्‌भुत प्रेमोन्माद में श्रीकृष्ण और वृषभानुनन्दिनी को सम्प्रयोग में भी विप्रयोग और विप्रयोग में भी सम्प्रयोग की स्फूर्ति होती है। सदा मिले रहने पर भी ऐसा विदित होता है कि कल्प-कल्पान्तर से मिले हो नहीं—

"तुम मुख चन्द्र चकोरी मेरे नयना।
अरबरात निशिदिन मिलिवे को मिलेइ रहत मानो कबहु मिले ना।

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम ॥

* श्रीहरि: *

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

चतुर्थ-पुष्प

१. योगीन्द्र दुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि कृतार्थमानी

भगवान् श्यामसुन्दर मदनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन-योगीन्द्र दुर्गमगति हैं। बड़े-बड़े योगीन्द्र इनकी गति का पूर्ण ज्ञान पाने में असमर्थ हैं। शिव, सनक, नारद, शुकादि योगीन्द्र हैं। उनके लिये भी दुर्गम गति (प्राप्ति) जिनकी है, ऐसे हैं मधुसूदन। शिवादि योगीन्द्रगण भी मृग्य मधुसूदन के अनुग्रह से ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, अपने साहस-प्रयत्न से नहीं। भगवान् भावमात्र से द्रवित होकर योगीन्द्रों को कृतार्थ करने वाले हैं। ऐसे योगीन्द्र-दुर्गमगति-मधुसूदन भी कृतार्थ-मानी हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि योगीन्द्र जिनका अनुग्रह चाहते हैं, वे श्री-लालजी भी जिनके अनुग्रह की अभिलाषा करते हैं, जिनको दुर्लभ मानते हैं, वे हैं श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी। योगीन्द्रों को कृतार्थ करने वाले वे देव श्रीकृष्ण-चन्द्र यहाँ श्रीराधारानी के प्रसङ्ग से अपने आपको कृतार्थ मानते हैं।

इस तरह, ऐश्वर्य को लघु बनाकर स्वसंवेद्य सुखोपलब्धि के लिए माधुर्य में निमग्न मधुसूदन की रसिक शेखरता और श्रीमती राधारानी वृषभानुनन्दिनी के परम सौभाग्योत्कर्ष की आह्लादकता को द्योतित करने के अभिप्राय से **'योगीन्द्र दुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि कृतार्थमानी'** कहा गया है।

'योगीन्द्राणामपि दुर्विवेचनीया गतिः स्वरूपं रतिर्वा यस्य'

श्रीनिकुञ्ज-लीला में विशुद्ध प्रेम-विलास की ही महिमा है। जिन-जिन कामादि मायिक विलासों को योगीन्द्र हेय मानते हैं, वे यहाँ स्वतः ही निवृत्त हैं। स्वयं को कृतार्थ मानने वाले मधुसूदन यहाँ (श्रीनिकुञ्ज-लीला में) श्रीवृषभानु-नन्दिनी नित्य-निकुञ्जेश्वरी के क्रीड़ामृग-से परिलक्षित होते हैं; अतः वे योगीन्द्रों के लिए दुर्गमगति हैं। अभिप्राय यह है कि श्रीमुकुन्द योगीन्द्रों के लिए भी दुर्गम गति, रति, स्वरूप स्थिति वाले होकर भी अपने आपको इस प्रकार कृतार्थ मानते

हैं, यह परम विस्मयजनक है। **'योगीन्द्र दुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि कृतार्थमानी'** का यह व्यंग्यार्थ है। वस्तुत: नित्य-निकुञ्ज की अद्भुत महिमा से महिमान्वित श्री-मधुसूदन और उनकी प्राणेश्वरी श्रीराधारानी का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रसमयस्वरूप इससे अभिव्यञ्जित होता है।

'योगिनां संयोगिनां श्रृङ्गार्यभिमानिनां महाविषयिणामिन्द्रा: परमभोगिनो विलासि प्रभवस्तेषामपि दुर्गमा दुरूहा दुष्प्राप्या गतिर्विलासरीतिर्वा रसिकता यस्येति।'

योगीन्द्र का अर्थ ले लिया भोगीन्द्र। योगी अर्थात् संयोगी, अपने आपको श्रृङ्गारी माननेवाले महाविषयी व्यक्तियों के भी जो इन्द्र हैं, जो भोगी या विलासी लोगों के नायक हैं, वे ही योगीन्द्र हैं। ऐसे भोग-परायण व्यक्तियों के लिए भी मधुसूदन की गति-परमगति-विलासरीति-अनन्य रसिकता दुर्गम-दुर्लभ-दुरूह है। उन योगीन्द्रों में स्वसुख-सुखित्व का प्राधान्य है। यहाँ स्वसुख-सुखित्व का स्पर्श ही नहीं है। यहाँ तो तत्सुखसुखित्व की मधुसूदन में पराकाष्ठा है; फिर भला योगीन्द्रों के लिए भोग-पुरन्दर भगवान् दुर्गम गति क्यों न हों?

"योग: संयोगरस:", 'अति तृषित प्रियस्य योजनमेव योग:' तत्र इन्द्रा: सखीजना: यूथेश्वर्यो ललिताद्या वा, यथा कविरेव कवीन्द्र इति वत् तेषामपि दुर्गमरहस्य इति।"

संयोगात्मक, विप्रलम्भात्मक (वियोगात्मक) श्रृङ्गाररस-द्विदलात्मक है। श्रृङ्गार में वियोग तो लेशमात्र भी सहा नहीं जाता। यही कारण है कि ऐसी स्थिति में योग का अर्थ संयोगरस मान्य है। उस रस के आचार्य सखीजन योगीन्द्र हैं। ललितादि यूथेश्वरीवृन्द अत्यन्त तृषित प्रिय का प्रियाजी से योग कराती हैं, इसमें वे अत्यन्त कुशल हैं, अत: इन्द्र (श्रेष्ठ) हैं। असम्भव को सम्भव कर देने के कारण मधुसूदन द्वारा प्रशंसा प्राप्त करती हैं। जैसे कवि ही कवीन्द्र कहलाते हैं, वैसे ही योगी ललितादि सखीजन ही योगीन्द्र कहलाती हैं। उनके लिए भी मधुसूदन का रहस्य दुर्गम है। कभी-कभी तृषित 'प्रिय' प्रियाजी के मान को भङ्ग कर मिलने का कोई ऐसा अद्भुत उपाय करते हैं, जिसे जानकर ललिता भी चकित रह जाती हैं।

प्रिया-प्रियतम का संयोजन 'योग' है। वस्तुत: प्रिया-प्रियतम दो हैं ही नहीं। रस विशेष की अभिव्यक्ति के लिए एक वस्तु ने दो का रूप धारण किया एक में ही द्वित्व का प्रादुर्भाव हुआ है—

एक ईश: प्रथमतोद्विधारूपो बभूव स:।
एका स्त्री विष्णुमाया या पुमानेक: स्वयं विभु:॥

(नारदपञ्चरात्रे २. ३. २४)

२. श्रीराधाकृष्ण में स्वाभाविक भेदाभेद की स्थितिः

सम्प्रदायों में निम्बार्क-सम्प्रदाय द्वैताद्वैत सम्प्रदाय है। कई लोग औपाधिक भेदाभेद मानते हैं, पर इनके यहाँ औपाधिक भेदाभेद नहीं, स्वाभाविक भेदाभेद है। **'द्वा सुपर्णा सयुजासखाया'**(मुण्डक ३.१.१) आदि भेदवाली श्रुतियाँ हैं और 'तत्त्वमस्यादि' (छा० ६. ८. ७) अभेद वाली श्रुतियाँ हैं। दोनों को सार्थकता स्वाभाविक भेदाभेद मानने पर सध जाती है। चिदचिद् भिन्नाभिन्न परमतत्त्व जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। **'सुवर्णं कुण्डलम्'** इस प्रयोग के अनुसार सुवर्ण स्वरूप ही कुण्डल है, अतः सुवर्ण और कुण्डल का अभेद है। सुवर्ण जानने पर भी **'किमिदं'** ऐसी कुण्डल विषयिणी जिज्ञासा होती है। इसलिये सुवर्ण और कुण्डल का भेद भी है। सुवर्ण के अधीन कुण्डल की स्थिति एवं प्रवृत्ति होने से अभेद है। इस तरह कार्य-कारण का भेदाभेद सिद्ध होता है।

पयोव्रती (दुग्धाहारी) दधि नहीं भक्षण करता, दधिव्रती दूध से बचता है, गोरसव्रती दोनों का ही भक्षण करता है। इस तरह व्यवहार पार्थक्य से भेद होता है। ठीक ऐसे ही चिद्रूप भोक्तृवर्ग अचिद्रूप भोग्यवर्ग परम तत्त्व के अधीन ही स्थिति-प्रवृत्ति वाले हैं; अतः भोक्ता-भोग्य दोनों ही परमतत्त्व से अभिन्न हैं। व्यवहार में विरुद्ध-धर्म देखने में आते हैं; अतः भिन्न भी हैं।

श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहासों में जीव और ब्रह्म के भेद और अभेद, दोनों परक वाक्य हैं। केवल अभेद मानने पर भेद वाक्यों की सार्थकता नहीं सधती, केवल भेद मानने पर अभेद वाक्यों की निरर्थकता सिद्ध होती है, भेदाभेद मानना ही इस मत में उपयुक्त है। इसके अनुसार वस्तु-स्थिति यह है कि ब्रह्म सब का आत्मा है; अतः सब जड़-चेतन ब्रह्मात्मक है—

'सर्वात्मा' (कैवल्यो० १६), **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'** (भगवद्गीता १०. २७), **'इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च ॥'** (महाभारत विष्णु सहस्रनाम १३६), ब्रह्म व्यापक है और जड़-चेतन उसके व्याप्य हैं, इसलिए भी जड़-चेतन का ब्रह्म से अभेद है—**'सर्वं समाप्नोसि ततोऽसि सर्वः'** (भगवद्गीता ११. ४०),**'सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः'** (विष्णु० १. १९. ८५), ब्रह्म स्वाधीन है और जड़-चेतन उसके अधीन, अतः जड़-चेतन का ब्रह्म से अभेद है। **'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः'** (बृह० ४. ४. २२), सर्व-सर्वात्मा में, व्याप्य-व्यापक में और स्वतन्त्र-अस्वतन्त्र में अभेद सम्बन्ध रहता है। जो वस्तु जिसके अधीन स्थिति, प्रवृत्ति वाली होती है, उससे उसका अभेद होता है। छान्दोग्य के प्राणेन्द्रिय संवाद में भी यही बात कही गयी है—**'न वै वाचो न चक्षूंसि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षतेप्राणा इत्त्वेवाचक्षते'**—(वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन नहीं कहे जाते हैं, प्राण ही कहे जाते हैं, छांदोग्य ५. १. १५) अर्थात् वाक्, चक्षु, मन प्राणाधीन हैं; अतः प्राण से इनका अभेद है।

ऐसा मानने पर अभेद प्रतिपादक वचन सार्थक होते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की परमेश्वर के स्वरूप और स्वभाव से विलक्षणता है, अतः भेद प्रतिपादक वचन भी सार्थक होते हैं—**'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'** (श्वेता० ६. १३), **'भेदव्यपदेशाच्च'** (ब्रह्मसूत्र १. १. १७), **'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः'** (ब्रह्मसूत्र १. २. ३), **'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च'** (ब्रह्मसूत्र १. २. ४), **'पत्यादिशब्देभ्यः'** (ब्रह्मसूत्र १. ३. ४३)

'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृह० १. ४. २), **'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद'** (बृह० २. ४ ६), आदि जो भेद-निषेधक-वचन हैं, वे केवल परमात्मा से भिन्न स्वतन्त्र वस्तु का निषेध करते हैं। इस प्रकार भेद और अभेद वाक्यों का तुल्यबल होने से उनमें परस्पर बाध्य-बाधक-भाव संभव नहीं। समन्वय की रीति यही है कि चेतन और अचेतन का ब्रह्म से स्वाभाविक भेद और अभेद सम्बन्ध है।

इस दृष्टि से अनादि-दम्पती श्रीराधा-कृष्ण में भी स्वाभाविक भेदाभेद रूप ललित-सम्बन्ध सिद्ध होता है। श्रीराधा-माधव परस्पर में अत्यन्त अभिन्न हैं, फिर भी भिन्न-से प्रतीत होते हैं। जैसे प्रेम के सरोवर में उत्पन्न हुए कमल के एक नाल में दो फूल लगें, उनमें एक श्याम और दूसरा गौर हो। यही भाव **'एक प्राण दो देह'** आदि से व्यक्त होता है। उनके अन्तःकरण-मन एक हैं, केवल देह दो। उन दो में भी सदा यही उत्कण्ठा रहती है, कि हम दोनों एक दूसरे में मिलकर एक हो जाँय। प्रेष्ठ सखी के सामने श्रीव्रजेन्द्रनन्दन ने कई वार अपनी इस लालसा को प्रकट किया है। अञ्जन, मृगमद, माला बनकर भी ऐक्य प्राप्ति की लालसा प्रकट की है। यह उनकी लालसा पूरी भी हुई है—

'दोऊ मिलि एकै भये श्रीराधावल्लभ लाल'

दोनों एक-दूसरे के अन्तरङ्ग स्वरूप हैं,परस्पर एक-दूसरे की अन्तरात्मा हैं। अमृत और मधुरिमा के समान दोनों एक ही हैं। वेदान्ती गुण-गुणी का तादात्म्य मानते हैं। इसीलिये सत्ता-आनन्द-रूप श्रीवृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण दोनों एक हा हैं। एक ही सदानन्दरूप भगवान् गौरतेज श्याम-तेजरूप राधा-माधवउभयस्वरूप में प्रकट हुए हैं।

इस तरह श्रीराधाकृष्ण दोनों-दोनों के भाव-स्वरूप और दोनों-दोनों के रस-स्वरूप हैं। दोनों की अखण्ड जोड़ी है। प्रातीतिक वियोग होता है दोनों में, वास्तविक नहीं। इसीलिए हम राजनीति के प्रसंग में कहा करते हैं कि नीति के प्रतीक जनकनन्दिनी सीता और धर्म के प्रतीक श्रीरामचन्द्र राघवेन्द्र हैं। उन दोनों की अखण्ड जोड़ी बनी रहनी चाहिए। धर्म विहीन राजनीति न बने और राजनीति विहीन धर्म न बने। जैसे हमारे मन्दिरों में श्रीराम-सीता के अखण्ड जोड़े की पूजा होती है; राधा-कृष्ण, गौरी-शंकर, लक्ष्मी-नारायण के अखण्ड जोड़े की पूजा होती है, ऐसे ही हमारे राष्ट्ररूपी मन्दिर में नीति-धर्म का अखण्ड जोड़ा

बना रहे। 'नीति' धर्म नियन्त्रित हो और 'धर्म' नीति सहकृत हो। केवल धर्म से, केवल नीति से सुख-शान्ति नहीं। श्रीराम-सीता के समान धर्म और नीति का अखण्ड जोड़ा बना रहे। श्रीसीता-राम के अखण्ड जोड़े को रावण ने तोड़ने का प्रयास किया; परन्तु **'एक लख पूत सवा लाख नाती'** वाला रावण जहन्नुम में चला गया। सोने की लङ्का मिट्टी में मिल गयी। रावण की बहन सूर्पणखा औंधी खोपड़ी वाली थी। उसने भी दोनों के जोड़े को अलग करने की कोशिश की। सोचा—'हम (धर्म के प्रतीक) राम को गले लगावेंगी और (शान्ति के प्रतीक) सीता को खा जायेंगी। फलस्वरूप उसकी कान-नाक काट ली गयीं। जिस किसी ने इस जोड़े को व्यवधान किया, उसके लिए खतरा-ही-खतरा रहा। तभी तो कहा है—

गौर तेजो विना यस्तु श्याम तेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे ॥
(सम्मोहन तन्त्रे, गो० सहस्रनाम १७)

"गौरतेज-श्रीराधा-सीतादि के विना, जो श्यामतेज-श्रीकृष्ण-रामादि का समर्चन-जप अथवा ध्यान करता है,हे शिवे ! वह पातकी होता है।"

३. प्रिया-प्रियतम की विशुद्ध-प्रीति में संगम-विरह की चमत्कृति

तो यह सीता-राम राधा-कृष्ण के प्रातीतिक वियोग की कहानी है, वास्तविक वियोग तो इसमें होता ही नहीं। संयोग-वियोग की बड़ी समस्या है। संयोग-दशा में संसारी व्यक्तियों में उत्कृष्ट उत्कण्ठा में कमी आती है। प्रियतम से मिलने पर उत्कृष्ट उत्कण्ठा में कमी आती है। प्रियतम-सम्मिलन के अभाव में (वियोग में) उत्कृष्ट उत्कण्ठा होती है। इसलिए सज्जनों ने कहा है—

आहारे विरतिः समस्त विषयग्रामे निवृत्तिः परा
नासाग्रे नयनं यदेतदपरं यच्चैकतानं मनः।
मौनं चेदमिदं च शून्यमखिलं यद्विश्वमाभाति ते
तद्ब्रूयाः सखि! योगिनी किमसि भोः किंवा वियोगिन्यसि ॥
(कस्यचित्; श्रीपद्यावली २३८)

"हे सखि राधे ! तुम्हारी आहार में रुचि नहीं, संसारिक समस्त विषयों की ओर से उत्कृष्ट निवृत्ति है, तुम्हारे नेत्र नासिका के अग्रभाग में लगे हुये हैं, तुम्हारा मन भी एकनिष्ठ हो रहा है। तुमने जो मौन धारण कर रखा है, इससे तो सारा संसार ही सूना-सा प्रतीत होता है। हे सखि राधे ! ऐसी स्थिति में कहो तो सही, तुम योगिनी हो या वियोगिनी ?"

सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य।
एकः स एव सङ्गे त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥
(कस्यचित्; श्रीपद्यावली २३९)

"हे सखि ललिते ! संयोग और वियोग इन दोनों के विकल्प में तुम मुझसे यदि पूछो कि कौन श्रेष्ठ है, तो मैं संयोग की अपेक्षा उनके वियोग को ही श्रेष्ठ बतलाऊँगी; क्योंकि संयोग में तो वह प्राणनाथ एक ही दीखता है, परन्तु वियोग में तो त्रिभुवन भी तन्मय प्रतीत होता है।"

संजाते विरहे कयापि हृदये सन्दानिते चिन्तया
कालिन्दीतटवेतसीवनघनच्छायानिषण्णात्मनः ।
पायासुः कलकण्ठकूजितकला गोपस्य कंसद्विषो
जिह्वाविजिततालुमूर्च्छितमरुद्विस्फारिता गीतयः ॥
(कस्यचित्; श्रीपद्यावली २४०)

"श्रीराधा विषयक विरह के उपस्थित होने पर, किसी विशिष्ट चिन्ता द्वारा चित्त के आक्रान्त होने पर, श्रीयमुनातीरवर्ति बेतों के वन की घनी छाया में बैठे हुये, कंसनाशक गोपरूप श्रीकृष्ण की कोकिल कूजित सदृश मनोहर जिह्वा से आवर्जित, तालु से मूर्च्छित, वायु द्वारा वृद्धि को प्राप्त मुरली-ध्वनि की परम्परा आप श्रोताओं की रक्षा करे।"

सङ्गम विरह विकल्पे वरमिह
विरहो न संगमस्तस्याः ।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि
तन्मयं विरहे ॥
(साहित्य दर्पण १०. ७)

"श्रीकृष्ण के उद्‌गार-संगम और विरह दोनों विकल्प रूप से प्राप्त हों तो दोनों में विरह ही वर-उत्तम है, वरण करने योग्य है। संगम में वह रमणी अकेली रहती है और विरह में सारा त्रिभुवन ही तन्मय हो जाता है।"

भगवान् वरदान देने को खड़े हैं, 'वरदान माँग लो सङ्गम या विरह का ?' ऐसा कह रहे हैं। चाहो तो संगम का वरदान माँग लो, कभी वियोग होगा ही नहीं। अखण्ड संगम ही बना रहेगा। ऐसी स्थिति में तुम विरह ही माँगो; क्योंकि विरह में प्रियतम के संगम की उत्कृष्ट उत्कण्ठा होती है।

दुर्योधन को भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन होता था। उसे कुछ स्वाद आता था क्या ? कुछ भी नहीं। इसलिये प्रीति-उत्कण्ठा के विना सङ्गम में कोई मिठास नहीं। उत्कण्ठा युक्त व्यक्ति के लिए विरह में सारा संसार ही प्रियतममय बन जाता है। यह विरह का चमत्कार है—

"जित देखूँ तित श्याममयी है ।
श्याम कुंज वन यमुना श्यामा ।
श्याम गगन घन घटा छई है ॥

सब रंगन में श्याम भरो है।
लोग कहत यह बात नई है ।।

मैं बौरी कि लोगन ही की।
श्याम पुतरिया बदल गयी है ।।

चन्द्रसार रवि सार श्याम है।
मृगमद श्याम काम विजयी है ।।

नीलकण्ठ को कण्ठ श्याम है।
मनो श्यामता बेल बई है ।।

श्रुति को अक्षर श्याम देखियत।
दीप शिखा पर श्यामतई है ।।

नर देवन की कौन कथा है।
अलख ब्रह्म छबि श्याममयी है ।।"

न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते ।।
(उज्ज्वल नीलमणि शृ० भेद ३)

"विप्रलंभ के (विरह के) विना संभोग (संयोग) पुष्ट नहीं होता, जिस प्रकार रंजित-वस्त्र को पुनः रंगने से वह अत्यन्त रक्त प्रतीत होता है।"

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ।।
(अमरुशतक लीला १००)

राधापुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा।
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा ।।
राधा खलु क्षिति तले गगने च राधा।
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी ।।
(विदग्धमाधवम् ५. १८)

विरह में अद्भुत चमत्कार होता है, अद्वैतवाद चरितार्थ होता है। कहते हैं कि श्रीश्यामसुन्दर को श्रीराधारानी के विरह में प्रासाद में, दिशा-उपदिशाओं में, गली-कूचों में, श्रीराधा की ही प्रतीति होती है। मन की दशा विचित्र हो जाती है। पुष्पदन्त कहता है—

न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि
(शिव महिम्न स्तोत्रम् २६)

"मैं वह तत्त्व ही नहीं जानता कि जो आप न हों, जिसमें आप प्रतीत न हों !"

तो विरह में अद्भुत चमत्कार है। इतनी उत्कण्ठा होती है, उत्कट प्रीति होती है कि सारा विश्व ही प्रियतम बन जाता है। इसलिये भक्त कहता है—

'सङ्गम विरह विकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य'
(पद्यावली २३९)

तो निष्कर्ष निकला कि विप्रलम्भ में उत्कट उत्कण्ठा होती है, मिलन में कमी आ जाती है। असमञ्जस है कि जिस समय उत्कट उत्कण्ठा होती है, उस समय प्रियतम नहीं और जिस समय प्रियतम होते हैं, उस समय उत्कट उत्कण्ठा नहीं। उत्तम बात तो यह है कि उत्कण्ठा में प्रियतम मिले रहें और प्रियतम के सम्मिलन में उत्कण्ठा बढ़ती रहे। ऐसा प्रेम दुनियाँ में नहीं है; परन्तु यहाँ तो—

तुव मुखचन्द्र चकोरी मेरे नैना।
अरबरात मिलिवेको निशि-दिन
मिलई रहत मन कबहुँ मिलैना।।
भगवत रसिक रसिक की बातें
रसिक विना कोई समझि सकै ना।।

सदा मिले रहने पर भी प्रीति में कभी कमी परिलक्षित होती ही नहीं। सम्मिलन-दशा में वियोग की प्रतीति होती है—

अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं
हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्।
श्यामानुराग मदविह्वल मोहनाङ्गी
श्यामामणिर्जयति कापि निकुञ्ज सीम्नि।।
(राधासुधानिधि ४६)

"प्रियतम की गोद में विराजमान होने पर भी अचानक हा मोहन ! इस प्रकार मधुर-प्रलाप करती हुई एवं लालजी के अनुराग में मद से विह्वल मनोहर अङ्गों वाली कोई अनिर्वचनीय नित्य किशोरी निकुञ्ज-भवन में सबसे ऊपर विराजमान हैं।"

प्रियतम अङ्क में विराजमान हैं, सर्वांगीण सम्मिलन है। अन्तरात्मा-से-अन्तरात्मा का, प्राण-से-प्राण का, हृदय-से-हृदय का सम्मिलन है। मनसा, वाचा,

कर्मणा, सम्पूर्ण सम्मिलन है। तो भी प्रियतम के वियोग का अनुभव हो रहा है। 'हा मोहन !' कह रही हैं। कोई सुने तो यही कहे कि इस विरहिणी को जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर में प्रियतम का संस्पर्श प्राप्त ही नहीं हुआ। ऐसा क्यों ? श्यामानुराग में लोकोत्तर चमत्कार है। श्यामानुराग-मद से प्रत्येक अङ्ग कण-कण विह्वल है। ऐसी 'श्याममणि' षोडश-वर्षीया प्रधान नायिकाओं में मणिस्वरूपा अर्थात् परम उत्कृष्ट श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी हैं। वे श्यामसुन्दर से सदा मिले रहने पर भी मानो कभी मिली ही न हों, ऐसा अनुभव करती हैं। संसार में ऐसा कोई दूसरा उदाहरण नहीं यही एक उदाहरण है।

विरह का उदाहरण है चक्रवाक और चक्रवाकी। ये दिन में किसी तरह मिल भी जाते हैं जो रात्रि में एक सरोवर के इस पार तो दूसरा उस पार। दुर्दैव के दुर्विपाक से दोनों रात्रि में एक-दूसरे से वियुक्त रहते हैं; विरहजन्य तीव्र-ताप का अनुभव करते हैं।

संयोग का उदाहरण है सारस। सारस-पत्नी लक्ष्मणा का सारस के साथ संयोग रहता है। दोनों के सम्बन्ध में विलगाव नहीं होता। यदि विलगाव हुआ तो दोनों मर जाते हैं।

लोक में प्रसिद्ध है—

कैतव रहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥[14]
(वैष्णवतोषिणी भागवत टीका १०. ३१. १)

"कैतव रहित—निष्काम-प्रेम मनुष्य लोक में होता ही नहीं है, यदि हो जाय तो फिर विरह कहाँ ? यदि ऐसा होने पर भी विरह हो जाय तो फिर जीवन ही कहाँ ?"

दुनियाँ में कैतव रहित प्रेम दुर्लभ, मानो रहता हो नहीं। यदि कैतव रहित प्रेम हो तो विरह कहाँ ? कदाचित् विरह हो जाय तो जीवन कहाँ ? यही कारण है कि यदि सारस और लक्ष्मणा का वियोग होता है तो दोनों मर जाते हैं। इस दृष्टि से सारस-पत्नी लक्ष्मणा का मर जाना ठीक ही है।

---

१४. कइ अव रहिअम्पेम्मणहि होइ माणषे लोए।
जइ होइ कस्स विरहो विरहे हो तस्मि को जिअई ॥
(बृहत्तोषिणी भागवत टीका १०. ३१. १)

'कैतव रहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषेलोके' इति न्यायेन
दयितस्य विरहे दयिता न जीवेयुः ॥
(वैष्णवतोषिणी १०. ३१. १)

लक्ष्मणा पूछती है चक्रवाकी को—"चक्रवाकी ! तेरा तो हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है। भादों की अमावस्या की अँधियारी रात हो चली, घनघोर घटा उमड़ रही, दामिनी दमक रही, दादुर ध्वनि चारों ओर सुहावनी लग रही, तू नदी के इस पार, तेरा प्रियतम उस पार। तू कालरात्रि जैसी रात्रि को बिता देती है। तेरा हृदय फट नहीं जाता ? फिर, तू गीली भी नहीं, सूखी आँखें लेकर प्रियतम से मिलने जाती है, तेरा हृदय फट नहीं जाता ?"

चक्रवाकी उत्तर देती है—"लक्ष्मणे ! तू ठीक कहती है, सचमुच मेरा तो हृदय वज्र से भी ज्यादा कठोर है। पर सखि ! ऐसे विप्रलम्भजन्य तीव्रताप के पश्चात् प्रियतम के सम्मिलन से जो सुख होता है, तुम उससे परिचित नहीं हो, क्योंकि तुम तो विप्रलम्भ (वियोग) होते ही मर जाती हो।"

भक्तों ने कहा है कि विप्रलम्भजन्य तीव्रताप से सन्तप्त होकर मृत्यु की गोद में जाकर विश्राम पाने की कामना यह तो पलायन है, पलायन। चाहिए यह कि विप्रलम्भजन्य तीव्रताप को सहो। धैर्य के साथ सहो। सहने के बाद जो प्रियतम-सम्मिलन का सुख है, वह लोकोत्तर है। आतप के विना छाया का स्वाद ही क्या ? बुभुक्षा (भोजन की इच्छा) उत्कट न हो तो मधुर-मनोहर पक्वान्न के पाने का स्वाद क्या ? विप्रलम्भजन्य तीव्र ताप न हो तो प्रियतम के सम्मिलन का सुख कैसा ?

कह ही चुके हैं कि बड़ी समस्या है, संसार में ! जहाँ प्रियतम का विश्लेष है, वहीं उत्कट उत्कण्ठा है। जब विरह है, तब उत्कट उत्कण्ठा है, लेकिन प्रियतम नहीं और संयोग है, तब उत्कट उत्कण्ठा नहीं; क्योंकि उत्कण्ठा तो विरह में ही होती है। संभोगकाल में विप्रलम्भ नहीं। विप्रलम्भ न होने से उत्कट उत्कण्ठा नहीं।

यह कमी संसार के प्रेम में रहती है। केवल प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्ण के विशुद्ध प्रेम में चकवा-चकवी के विप्रलम्भ जन्य तीव्रताप से अनन्तकोटि गुणित ताप है और सारस पत्नी लक्ष्मणा की प्राप्त संश्लेषजन्य आनन्द से अनन्त कोटि गुणित आनन्द है। ऐसी स्थिति में द्वैत है, अद्वैत है, स्वाभाविक द्वैताद्वैत है या औपाधिक भेदाभेद है या अचिन्त्य भेदाभेद है, क्या है ? कुछ कहने में नहीं आता। दोनों में कुछ लौकिक वैधर्म्य है।

४. अनिर्वचनीय प्रिया-प्रियतम में अनुपम-छवि-वैधर्म्य की स्थिति

एकं काञ्चन चम्पकच्छवि परं नीलाम्बुदश्यामलं
कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहिः ॥
किञ्चैकं बहुमानभङ्गि रसवच्चाटूनि कुर्वत्परम्
वीक्षे क्रीडतिकुञ्ज सीम्नि तदहो द्वन्द्वं महामोहनम् ॥
(श्रीराधासुधानिधि १६९)

"अहह ! एक तो स्वर्ण-चम्पक के समान कान्तिवाला, दूसरा नीलनीरद के समान श्याम वर्ण, एक काम से अत्यन्त चंचल, दूसरा बाहर से अनुकूल नहीं प्रतिकूल, एक तो बहुत प्रकार की मान परिपाटी से पूर्ण, दूसरा प्रेम से अनुनय-विनय करने वाला, इस प्रक र महामोहित करने वाला वह युगल रसिक निकुंज प्रान्त में क्रीड़ा कर रहा है, क्या मैं उसे देखूंगा।"

"एक की छवि तप्त सोने-जैसी है, सुवर्ण-सी दीप्त है। कोटि-कोटि तडिच्छवि श्रीअङ्ग में है। दूसरे की छवि नीलाम्बुद श्यामल है।" इस प्रकार समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है। निरन्तर इसी का निदिध्यासन करना आवश्यक है। निदिध्यासन से-निरन्तर "रट" से शब्द के अनुसार अर्थ (वस्तु) मन में प्रस्फुरित होता है। वेदान्तों में शब्दानुविद्ध और दृश्यानुविद्ध समाधि का वर्णन है—

समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाथवा बहिः।
सविकल्पोनिर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि॥
दृश्यशब्दानुभेदेन स विकल्पः पुनर्द्विधा।
कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम्॥
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः।
असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः॥
अस्मीति शब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः।
स्वानुभूतिरसावेशाद्दृश्यशब्दाद्यपेक्षितुः॥
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थित दीपवत्॥
(सरस्वती रहस्योपनिषत् २५-२८३)

"सविकल्प और निर्विकल्प भेद से दो तरह की समाधि होती है। हृदय में अथवा बाहर इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। सविकल्प समाधि भी दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध भेद से दो प्रकार की होती है। दृश्य के योग से आत्मा को साक्षी कहते हैं। काम-क्रोधादि चित्त में स्फुरित होने वाले दृश्य हैं। उनका साक्षी आत्मा है। इस प्रकार की चिन्तनधारा दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है। 'आत्मा असङ्ग सच्चिदानन्द स्वरूप स्वप्रकाश और द्वैत रहित है। वही मैं हूं।' यह शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है। स्वानुभूति रसके योग से दृश्य और शब्द दोनों का आलम्बन बिना लिए जो समाधि होती है, वह निर्विकल्प है।

'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृहदारण्यको० ४. ४. १९)

'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्योपनिषत् ६. २. १)

आदि जो वेदान्त के शब्द हैं, ये शुद्ध परमात्म-तत्त्व को प्रस्फुरित करते हैं। इनके आधार पर तत्त्व को प्रस्फुरित करने का यत्न 'शब्दानुविद्ध समाधि है। इसी तरह श्रीराधारानी का मंगलमय दिव्य स्वरूप मनमें प्रस्फुरित हो, इसके

लिए 'एकं काञ्चन चम्पकच्छवि परं नीलाम्बुदश्यामलम् ।' आदि शब्दों का बार-बार आवर्तन आवश्यक है । यहाँ के रसिक महानुभावों के एक-एक शब्द में लोकोत्तर चमत्कार है । इन्होंने परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम परतत्त्व का अनुभव किया है । वही रस स्वरूप परब्रह्म अनुभूयमान होकर शब्द-ब्रह्म रूप को धारण करके रसिकों के दिव्य पदों के रूप में स्फुटित हुआ है । जिसका गायन यहाँ के रसिक-वृन्द समाज में करते हैं । इन रसिकों के मुख से उन पदों को सुनो तो अद्भुत चमत्कार होता है । अपने आप पुस्तक लेकर बैठो तो वैसा चमत्कार नहीं । रसिकों के मुख से समाज सुनो तो अद्भुत स्वाद आता है । रस-रूप-वस्तु सामने आती है । उसी में मन उलझ जाता है । समाज समाप्त हो जाने के बाद भी उसी में देर तक मन रमा रहता है ।

यही तो शब्दानुविद्ध समाधि का स्वरूप है । इसके द्वारा मन में एकाग्रता आती है । रसतत्त्व का स्फुरण होता है । उस महामोहन द्वन्द्वात्मक रसतत्त्व का जिसके सम्बन्ध में हम कहा करते हैं कि अनन्तकोटि सूर्यमण्डल या अनन्त-कोटि चन्द्रमण्डल या अनन्तकोटि विद्युन्मण्डल के समुद्रों का मन्थन करने पर जो दिव्य-निर्मल-निष्कलंक-पूर्णतम चन्द्रमा का प्राकट्य होगा उसकी छवि के तुल्य श्रीजी के अङ्गों की छवि है । श्रीकृष्णचन्द्र में जो श्रीराधारानी विषयक सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक-उद्बुद्ध-उद्वेलित-उभयविध शृङ्गाररस का महासमुद्र है, उससे जो आविर्भूत निर्मल-निष्कलंक पूर्णचन्द्र, वे ही हैं श्रीराधारानी । फिर उनमें अद्भुत मोहकता क्यों न हो ?

इसी तरह से श्यामतेज की छवि भी अनुपम है । श्रीराधारानी म जो श्रीकृष्ण विषयक सम्प्रयोगात्मक विप्रयोगात्मक-उद्बुद्ध-उद्वेलित-उभयविध शृङ्गार-रस महासमुद्र है, उससे अभिव्यक्त निर्मल-निष्कलंक पूर्णचन्द्र हैं श्रीकृष्ण-चन्द्र । सजल नीलजलद तुल्य श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द तो आनन्दरस-अनुराग-रसवर्षी हैं, प्रेमानन्द-परमरस वर्षी हैं, कोई अद्भुत सुधामय जलद हैं ।

सम्मिलित गौरतेज और श्यामतेज का लोकोत्तर महत्त्व है । अकेले श्याम तेज की शोभा नहीं है । दामिनी के बिना नीलाम्बुद की शोभा कहाँ ? नीलाम्बुद की शोभा दामिनी से होती है । मिथिला वाले कहते हैं—

सरसों के कली सीया ज्योति महान हे ।
तीसी के फूल दुलहा रंग सुहान हे ॥

दामिनी कुछ नीरस है । सरसों की कली स्निग्ध है । तीसी अतसी (अलसी) को कहते हैं । उसकी बड़ी विचित्र छवि होती है । बाल-सूर्य की रश्मियों से देदीप्यमान अलसी (तीसी)[१५] के पुष्प में अद्भुत चमत्कार होता है । सायं

१५. चेतो मदीयमतसी कुसुमावभास स्मेराननं स्मरति गोपवधू किशोरकम् ।'
(कृष्ण कर्णामृत २. २४)

चार-पाँच बजे भी उसकी शोभा मोहक होती है। चम्पक सुवर्णवर्ण होता है। सुकोमल होता है। उसकी दीप्ति अद्‌भुत चमत्कारी होती है।

'कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहिः' । (राधासुधानिधि १६६)

एक में वाम्य है और दूसरे में दाक्षिण्य[१६]। गौरतेज में वाम्य है और श्यामतेज में दाक्षिण्य।

५. वाम्य-दाक्षिण्य सन्निविष्ट अनुपम युगल ज्योति

श्यामतेज सम्मिलन के लिए उत्कण्ठित है, गौरतेज **'नैवानुकूलं बहिः'** भीतर से अनुकूल; किन्तु बाहर से प्रतिकूल है। वाम्य में बड़ी सरसता है, अद्‌भुत मधुरिमा है। जैसे वेदों में **'नेति-नेति'** (बृहदारण्यकोपनिषत् ४. २. ४) वाक्यों का महत्त्व है; जो भी दृश्य है, उसका निषेध करके सर्वाधिष्ठान अखण्डबोध का अनुभव किया जाता है; वैसे ही वाम्यभाव में भी 'नेति-नेति' का अद्‌भुत महत्त्व है।

मानवती यह चाहती है कि हमारे श्रीनन्दनन्दन को यह पता न चले कि हम उन्हें चाहती हैं—**'नेति-नेति वचनामृत बोलत'**। वे ऐसा सोचती हैं कि 'स्वप्न में भी हम यह प्रकट न होने देंगी कि हम उन छवीले श्याम पर मुग्ध होकर मनको उन्हीं में रमाये रखती हैं। ठीक ही है—

'गु त प्रेम सखि सदा दुरइये। कुञ्ज गलिन में अइये जइये।'

प्रेम में टोना लग जाता है, उसे अवश्य छिपाना चाहिए। जब चिन्तामणि पत्थर-जैसी वस्तु भी छिपा कर रखी जाती है, तब प्रेम का तो उससे कहीं अधिक महत्त्व है।

अतसी पुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम्।
चतुर्भुजं महाविष्णुं पूरकेण विचिन्तयेत्॥
(ध्यानविन्दूपनिषत् ३०)

अब्जपत्रमधः पुष्पमूर्ध्वनालमधोमुखम्।
कदलीपुष्पसंकाशं सर्ववेदमयं शिवम्॥
(ध्यानविन्दूपनिषत् ३३)

१६. अतिरक्ततया नार्यां त्यक्तान्यललनास्पृहः।
सीतायां रामवत्सोऽयमनुकूलः प्रकीर्तितः॥
राधायामेव कृष्णस्य सुप्रसिद्धानुकूलता।
तदालोके कदाप्यस्य नान्यासङ्गः स्मृतिं व्रजेत्॥
(उज्ज्वल नीलमणि नायक भेद २२-२३)

नेति नेति सुधासूक्ति शोभितं वीक्ष्य विह्वलः ।
मूल्यं विनैव स्वात्मानं विक्रीय वशगोऽभवत् ॥
वामता दुर्लभत्वं च स्त्रीणां या च निवारणा ।
तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम् ॥
(रुद्र; उज्ज्वल नीलमणिः हरिप्रिया प्रकरण १९)

यत्र निषेध विशेषः सुदुर्लभत्वं च यन्मृगाक्षीणाम् ।
तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्यते हृदयम् ॥
(विष्णु गुप्त संहिता, उज्वलनी० हरि० २०)

इत्यादि स्थलों में इस वाम्यता का महत्त्व बतलाया गया है । मानिनी में वह मान स्वभाव सिद्ध होता है । माननी के मान में गड़बड़ी होने से सब गड़बड़ी हो जाती है ।

६. परस्पर सन्निविष्ट श्रीराधा-माधव और श्रीमद् वृन्दावन माधुरी

ललिता-विशाखादि परम अन्तरंग सखियाँ हैं । ये कोई बहिरङ्ग नहीं हैं । हमने पहले ही कहा था कि पूर्णानुराग-रससार-सरोवर-समुद्भूत सरोज वृन्दावनधाम है । उसमें जो पीले-पीले केसरें हैं, वे गौराङ्गी गोपाङ्गनाएँ हैं । केसरों में जो पराग है, वे हैं श्यामसुन्दर मदनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन । पराग में जो मकरन्द है, वह है श्रीराधारानी का हृदय वृन्दावनधाम । यह कितना चमत्कार है ? श्रीवृन्दावनधाम में श्रीराधारानी या श्रीराधारानी में श्रीवृन्दावन धाम ! एक भक्त कहता है—'गङ्गे ? तुम्हारे कण-कण में अनन्त-अनन्त शिव दिखाई देते हैं । अनन्त चाँद दिखाई देते हैं । कहाँ तक कहें ? तुम्हारे कण-कण में न जाने कितनी तू है !' माने गङ्गा में अनन्त कण हैं । एक-एक कण में शिव को प्राप्त कराने (शिव बनाने) की योग्यता है । शिवजी के सिर पर गङ्गा हैं । इस तरह गङ्गा में शिव हैं । शिव में गङ्गा । इसी तरह वृन्दावनधाम में राधारानी हैं और राधारानी में वृन्दावनधाम । श्रीवृन्दावनधाम की ऐसी महिमा है । तभी तो कहा है—

'रे मन वृन्दा विपिन निहार ।
यद्यपि मिले कोटि चिन्तामणि तदपि न हाथ पसार ।
विपिन राज सीमा सो बाहर हरि हू को न निहार ।
जै श्रीभट्ट धूरि धूसरि तन यह आशा उर धार ॥'

विपिनराज-सीमा के बाहर-आयें श्रीकृष्ण हों तो भी मत निहारो । दायें हों तो निहारो । अर्थात् श्रीवृन्दावन के श्रीकृष्ण को निहारो ।

वस्तुतः श्रीराधारानी का हृदय ही है श्रीवृन्दावन धाम । श्रीराधा-सुधानिधि में एक श्लोक है—

गौराङ्गे म्रदिमा स्मिते मधुरिमा नेत्राञ्चले द्राघिमा
वक्षोजे गरिमा तथैव तनिमा मध्ये गतौमन्दिमा ।
श्रोण्याञ्च प्रथिमा भ्रुवोः कुटिलिमा बिंबाधरे शोणिमा
श्रीराधे हृदि ते रसेन जडिमा ध्यानेऽस्तु मे गोचरः ।।
(श्रीराधासुधानिधि ७४)

"हे श्रीराधे ! आपके गौर-अङ्गों की मृदुलता, मन्द हास्य की माधुरी, नेत्रप्रान्त की विशालता, उरोजों की गुरुता तथा कटिप्रदेश की कृशता, चाल की मन्दता और नितम्बों की स्थूलता, भृकुटी की वक्रता, अधरों की लालिमा तथा आपके हृदय में रस की जो स्तब्धता है, वह मेरे ध्यान का विषय हावे ।"

इन सब दृष्टियों से श्रीवृन्दावन उज्ज्वल रस है । उसमें गौर-श्याममय तेज विहार करते हैं ।

गौरश्याममयं तेजो युग्मकं क्रीडतेमुदा ।
वलद्वयात्मकं नित्यं वनेऽस्मिन्नुज्ज्वलेरसे ।।

आनन्द वृन्दावन चम्पू में लिखा है—

'निखिलगुण वृन्दावनं वृन्दावनं नाम वनम्' (१. १७)

वृन्दावन माने **'सकल गुण वृन्दावनम्'** सकल गुणगणों का वृन्द । **'वृन्दाया यौवनं वृन्दावनम्'** वृन्दावन वृन्दा का यौवन है । अर्थात् वृन्दा का देदीप्यमान स्वरूप ही है ।

'व्रजाङ्गना वृन्दस्य वनं जीवनं वृन्दावनम्'

व्रजाङ्गना वृन्द का जीवन ही वृन्दावन है ।

'वृन्दस्य गुण समूहस्य, गुणिसमूहस्य अवनं यस्मात् तद्वृन्दावनम्', 'भक्त वृन्दानां अवनं यस्मात् । लोकोत्तर कल्याण गुणगणानां अवनं यस्मात् तद् वृन्दावनम्' ।

अर्थात् रसिकवृन्द, गुणवृन्द; लोकोत्तर कल्याण-गुणगण, गुणिवृन्द का संत्राण-रक्षण जिससे है, वह है श्रीवृन्दावन ।

इस तरह श्रीराधारानी का हृदय ही है श्रीवृन्दावन । हृदय में दो अवस्थाएँ हैं—एक उन्माद और दूसरी मूर्च्छा । श्रीचैतन्य महाप्रभु में ये दोनों अवस्थाएँ होती थीं । श्रीराधारानी की उन्मादावस्था तो सखिवृन्द गौराङ्गी-गोपाङ्गनाजन हैं और जो मूर्च्छावस्था जडिमा है, वही श्रीवृन्दावनधाम है—

परिपूर्ण परप्रेम्णो जाड्यं चैतन्यमेव च ।
अवस्था द्वितयी व्यज्यतेऽनुक्रमेण तु ।।

जाड्यं रसमयं यच्च तद् वृन्दावनमेव हि ।
चैतन्यमेव तत्सख्यस्तत्प्रेमतरलाशयाः ।।

( )

पूर्णानुराग में मधुर मिलन की आशा होती है। जहाँ अभी प्रियतम का मिलन स्वप्न का महल है, उस पूर्वानुराग में लोकोत्तर माधुर्य होता है। दूसरे लोग विरहजन्य तीव्रताप से तप्त होते हैं, पूर्वानुराग में तो सुख का अनुभव करते हैं, पर श्रीराधारानी तो पूर्वानुराग में ही उग्रताप का अनुभव करती हैं। जैसे बर्फ की पुतली आतप से पिघलने लगती है, वैसे ही पिघलने लगती हैं। पूर्वानुराग के तीव्रताप से द्रवीभूत हो जाती हैं। मिलने पर भी लोकापवाद के कारण डरती हैं।

"बलिहारी करौं ब्रज में बसिवो ।
जहँ पानी में आग लगावें लुगाई ।।"

"इत मत निकसे चौथ को चन्दा तोहे
देखे ते कलंक मोहि लग जायगो ।"

दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रया भूयसी
गुरुक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौः स्थ्यं गता ।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये
न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः ।।

(आनन्द वृन्दावन चम्पूः ८. ४२)

"अहो ! दुर्लभजन में रति, लज्जा का प्राबल्य, परवश शरीर, कुलीन-वंश में जन्म, इतने पर भी गुरुजनों की विषमयी उक्तियों से मति और भी विकल हो जाती है। अहो ! फिर भी क्या यह परम दुर्मर प्राणी नहीं जीता ? जीता तो है ही।"

इस तरह सम्मिलन में भी लोकापवाद के डर से विगलित हो जाती हैं।

७. अनुपम चमत्कृति से युक्त प्रेम की कुटिल गति

आश्चर्य है, अखण्ड दाम्पत्य है, श्रीराधा-कृष्ण का। वस्तुतः वियोग सम्भव नहीं। नित्य मिलन है, परन्तु प्रेम की कुटिल गति में अखण्ड दाम्पत्य का विस्मरण हो जाता है। यह प्रेम की कुटिल गति है—

अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभाव कुटिला भवेत् ।
अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति ।।

(उज्ज्वल नीलमणि मानः ६३)

"सर्प की भाँति प्रेम की गति स्वभावतः कुटिल होती है; अतः हेतु किंवा हेतु के अभाव में भी नायक-नायिका के मान का उदय होता है। इस मान में अवहित्था आदि व्यभिचारी भाव सफल होते हैं।"

यही कारण है कि निज सौभाग्य को भूलकर तडित् के सौभाग्य को देखकर उस पर मोहित होकर कहने लगती हैं—

अयि तडित्त्वमसौ क्व नु किं तपः
कियदहो कृतवत्यसि तद्वद ।
यदिममम्बुधरं हरिवक्षस-
स्तुलितमालिगता रमसे सदा ।।
(गोपालचम्पू, पूर्व० १७. ४४)

"मेघ को देखती हुई श्रीराधिका की भावना यह है कि हे सखी, विद्युत् ! आ हा हा ! तुम बताओ तो सही। किस स्थान पर, कितने परिमाण का कौन-सा तप कर चुकी हो ? क्योंकि श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल के समान श्यामवर्ण-वाले इस जलधर को प्राप्त कर सदा क्रीड़ा करती हो ?"

तडितः पुण्यशालिन्यः सदा या घनजीवनाः ।
तेन सार्धमदृश्यन्त नादृश्यन्त च तं विना ।।
(गोपालचम्पू पूर्व० १७.५२)

"सदा श्यामघन ही जिनका जीवन है, वे बिजलियाँ ही पुण्यशालिनी हैं; क्योंकि जो श्यामघन के साथ ही दिखाई देती हैं; किन्तु उसके विना कदापि नहीं दीखतीं।"

प्रेमी का जीवन प्रियतम है। जब भी तड़ित् दीखती हैं, तब अम्बुधर (घन) उनके साथ रहता है। प्रियतम नहीं तो ये भी नहीं, प्रियतम है तभी इनकी सत्ता है। कौन प्रेमी सर्वोत्तम ? वही जिसकी प्रियतम की सत्ता में सत्ता, प्रियतम नहीं तो वह भी नहीं।

इस तरह गोपाङ्गनाएँ अपने सौभाग्य को भूल जाती हैं। वे धरित्री के सौभाग्य को देखकर उस पर लोट-पोट हो जाती हैं। गोपाङ्गनाएँ-सखियाँ जो गौरतेज और श्यामतेज श्रीराधा-माधव के परस्पर सम्मिलित अनन्त-सौन्दर्य-दर्शन से महिमान्वित हैं, धारित्री से पूछती हैं—

किन्ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।।
(भागवत १० ३०. १०)

"हे सखि भूमि ! बतलाओ, बतलाओ, छिपाओ नहीं, तुमने कौन-सी

तपस्या से यह लोकोत्तरता प्राप्त की है ? सचमुच में तुम बहुत पुण्यशालिनि हो। तुम्हारा अद्‌भुत सौभाग्य है। तुम्हारे अङ्ग तृण, गुल्म लता और तरुओं से रोमाञ्चकण्टकित हो रहे हैं ? निश्चय ही तुम्हें प्रियतम श्यामसुन्दर के पादारविन्द के संस्पर्श प्राप्त हुए हैं। विना प्रियतम के पादारविन्द के संस्पर्श किये ऐसा अद्‌भुत रोमाञ्च-कण्टकित तुम्हारे अङ्ग भला कैसे हो सकते हैं ? केशव के मंगलमय चरणारविन्द के स्पर्श से ही इस प्रकार का उत्सव आविर्भूत होता है। बताओ तो सही, तुम्हें किस अनुपम प्रभाव से ऐसा सौभाग्य मिला है ? हम भी वही तप करके तुम्हारे जैसा सौभाग्य अर्जित करेंगी। जिस देश, जिस काल में जहाँ तुमने जैसी तपस्या की है, हमें भी उसे बताओ, हम भी उसी को करेंगी।"

धरती बेचारी कहती है—"अरी गोपियो ! सचमुच में तुम बहुत भोली-भाली हो। ये गुल्म, लता और तरु हमारे अङ्ग पर तो रहते ही हैं। ये स्वाभाविक हैं।"

गोपियाँ कहती हैं—"धरित्री ! तुम सचमुच में प्रीति के गोपन में बहुत निपुण हो। तभी तो वास्तविकता को दुराना चाहती हो। पर, हम तो इतना जानती हैं कि विना प्रियतम के पादारविन्द विन्यास के तुम्हारे ये अङ्ग-प्रत्यङ्ग रोमाञ्चकण्टकित कैसे हो सकते हैं ?"

धरित्री कहती है—"सखियों ! हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग तो पहले से ही रोमाञ्चकण्टकित हैं। तुम्हारे श्यामसुन्दर तो अभी सात-आठ वर्ष के ही हैं। फिर उनके पादस्पर्श से हम रोमाञ्चकण्टकित हुई हैं, ऐसा कैसे कहती हो ?"

गोपियाँ कहती हैं—

अप्यङ्‌घ्रिसम्भव उरुक्रम विक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन।
(भागवत ०. ३० १०)

"आपके रोमाञ्चकण्टकित श्रीअङ्ग तो आपके किसी उग्रतप को सूचित करते हैं। आत्म संतापन, पीडन भी एक उग्र तप है। हम ऐसा मानती हैं कि जब श्रीवामनावतार में प्रभु ने महाविराट् रूप में अपने चरण से तुम्हारा स्पर्श किया, उस समय तुम दबी, तुम्हारा उत्पीडन हुआ। यह एक तपस्या हुई। आनन्दोद्रेक-रोमाञ्चोद्‌गम श्रीवामन से उत्पीडित होने पर ही सम्भव है। अथवा रसातल में विलीन तुमको हमारे प्रभुने श्रीवाराह अवतार रूपसे (तुम्हारा) उद्धार किया, तभी से तुम रोमाञ्चकण्टकित हो ! वाराह भगवान् के द्वारा निपीडन रूप तप का ही यह विचित्र रोमाञ्च रूप फल होगा। लेकिन सखी! तुम तो माधुर्यभाव-भावित परिलक्षित होती हो। श्रीवामनादि का स्पर्श तो ऐश्वर्य वाला है। सखि वसुधे ! हम तो ऐसा मानती हैं—

हमारे प्रभु की महिमा ही तुम्हारे जीवन में झलक रही है। यह तो

हमारे प्रियतम की ही महिमा है जो अमृतमय निज मुखचन्द्र से विनिर्गत वेणुगीत-पीयूष के पान से 'स्थावर' जङ्गम और 'जङ्गम' स्थावर हो जाते हैं। वृक्ष भी हृष्यत्वक्-रोमाञ्चवाले हो जाते हैं। यह तुम्हारे लोकोत्तर उत्पुलकोत्सव अवश्य उन्हीं की कृपा का प्रसाद है। सखि ! तुम भाग्यशालिनी हो। हम तो भाग्यविधुरा हैं। तुम ऐसी महाभाग्यवती हो कि हमारे श्यामसुन्दर कभी श्रीवामन रूप से तो कभी वाराहरूप से तुम्हारा आलिङ्गन करते हैं और साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र यशोदानन्दन, आनन्दकन्द-रूप से भी सदा तुमसे संयुक्त रहते हैं। हमसे, गोपालों से, अपने प्रिय सखाओं से वे वियुक्त हो जाते हैं, पर तुमसे कभी वियुक्त नहीं होते। सचमुच तुम स्वाधीनभर्तृका हो।'[१७]

८. महाभाव परमोत्कर्षतर्षिणी राधा और योगीन्द्र दुर्गमगति श्रीमधुसूदन

इस तरह प्रेम में विचित्र बात हो जाती है। प्रेमी अपने प्रेम को भूल जाता है। दूसरे के प्रेम को देखकर ललचाता है। तभी तो बड़े-बड़े महानुभाव अपने को कुटिल, खल, कामी मानते हैं। अपना अत्यधिक अपकर्ष घोषित करते हैं।

'मो सम कौन कुटिल खल कामी।'

सन्त लोग बनावटी बात नहीं बोलते। छल-बल से दुनियाँ को धोखा देने की बात नहीं करते। उनके मन में जैसी प्रतीति-स्फूर्ति होती है, वैसी ही बात कहते हैं। प्रेम की अवस्था ही ऐसी है। **जहाँ प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, वहाँ अपने में निम्नता दिखाई देती है। जहाँ निम्नता होती है, वहीं प्रेम होता है। यह प्रेम का स्वभाव है। पानी बरसा, कहाँ टिकेगा ? जहाँ खाली जगह होगी। पहाड़ की चोटियों पर पानी टिक सकेगा क्या ? जिनका हृदय घमण्ड से भरा हुआ है, वहाँ प्रेम तत्त्व प्रकट होगा या टिकेगा क्या ?** इन सब दृष्टियों से उनका स्वभाव ही ऐसा है कि इधर ये अनन्त प्रेम को अनन्त सौभाग्य को भूल जाती हैं और उधर श्यामसुन्दर उन्हें (श्रीमानिनी श्रीजी को) मनाने में अपनी (उनकी) सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता की तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। उनकी सर्वज्ञा, सर्वशक्तिमत्ता, काम नहीं देती। समझ में नहीं आता कि कैसे क्या करें ?

पूर्वानुरागगलितां मम लम्भनेऽपि
लोकापवादवलितामथमद्वियुक्तौ ।
दावानलज्वलित जातिवनी सदृक्षा-
मेतां कथं कथमहंबत सान्त्वयानि ॥
(श्रीगोपालचम्पू द्वि० पू० ८)

---

१७. स्वायत्तासन्नदयिता भवेत्स्वाधीनभर्तृका (उज्ज्वलनीलमणिनायिका भेदाः ८६½); स्वायत्तः—स्वाधीनः आसन्नो निकटवर्तीदयितो यस्याः सा ॥

"अर्थात् यह तो मेरे पूर्वानुरागमें ही गलितहो चुकी हैं और मेरे सम्मिलन में लोकापवाद से दलित होती हैं। विप्रयोग में तो ये दावानल ज्वलित जातिवनी के समान हो जाती हैं। इन्हें मैं कैसे सान्त्वना दूँ ?"

श्रीकृष्ण ने कहा—'ललिते ! क्या करें ! श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी को हम किस तरह सान्त्वना दें ? पूर्वानुराग सबके लिए सुखद होता है। किसी दुलहिन को दूल्हा से मिलने की जो कल्पना होती है, वह तो पहले वैकुण्ठ से भी ऊँची लगती है। बाद में जो हो सो हो। पूर्वानुराग की कल्पना, पूर्वानुराग का सुखद स्वप्न वह तो बड़ा अद्भुत होता है; परन्तु यहाँ तो पूर्वानुराग वैसे हो गलित हो चुका है, जैसे पुत्तलिका (पुतली) आतप से संतप्त होकर द्रवीभूत हो जाती है।"

ललिता—"श्यासुन्दर! फिर मिल जाओ।", श्रीकृष्ण—"मिलने पर भी लोकापवाद के कारण वे डरती हैं। मेरा वियोग होते ही इतनी भयङ्कर स्थिति हो जाती है, जैसे यूथिका, मल्लिका, मालती को लताएँ दावानल से ज्वलित होकर समाप्त हो जाती हैं, वैसे ही मेरे विप्रलम्भ में इनकी दशा हो जाती है। बोलो, इनको मैं सान्त्वना दूँ तो कैसे दूँ ? मोक्ष चाहें तो मोक्ष भी दे दूँ, परन्तु इन्हें ये सब बिल्कुल चाहिए ही नहीं।"

कारण क्या है ? यही न कि **प्रेम देव जिसको स्पर्श करते हैं, वह कुछ और ही हो जाता है। सर्वज्ञ अल्पज्ञ हो जाता है और अल्पज्ञ सर्वज्ञ। सर्वशक्ति अल्पशक्ति हो जाता है और अल्पशक्ति सर्वशक्ति। यह सब अटपटी बातें बन जाती हैं।** इसी कारण श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी को मनाने-उनसे मिलने में श्यामसुन्दर की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, कुछ काम नहीं करती है। उस समय योगीन्द्र ललिता-विशाखादि सखियाँ कुछ-न-कुछ योजना रचकर प्रिया-प्रियतम को मिला देती हैं। इसलिए **'योगः संयोजनं'** प्रिया-प्रियतम का संयोजन योग है। मानभङ्ग करके प्रिया-प्रियतम का मेल करा देना 'योग' है। ऐसे संयोजन-योग को जानने वाले योगियों में जो इन्द्र तुल्य हैं, परम उत्कृष्ट हैं, ऐसे योगीन्द्रों को भी कभी श्रीश्यामसुन्दर की बात समझ में नहीं आती, **'योगीन्द्र दुर्गमगतिर्मधुसूदनः'** योगीन्द्र ललितादि भी कभी उपाय करते-करते थक जाती हैं, समझ में नहीं आता कि प्रियाजी का मान भङ्ग कर उनसे श्यामसुन्दर को कैसे मिलाऊँ ! तब श्रीश्यामसुन्दर रस-रीति की, प्रेम की, अनुरागोद्रेक की कोई ऐसी विचित्र बात आविर्भूत करते हैं कि सम्मिलन हो जाता है। योगीन्द्र भी जिसे जानकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। तो योगीन्द्रों को भी जिस प्रेम की अद्भुत रस-रीति परिपाटी गति' का ज्ञान नहीं है, उसको प्रादुर्भूत करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र **'योगीन्द्र दुर्गमगति'** हैं। इस अभिप्राय से भी मधुसूदन को **'योगीन्द्र दुर्गमगतिः'** कहा गया है।

मूल बात यह है कि श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन और उनकी प्राणेश्वरी-

हृदयेश्वरी राधारानी ये दोनों अभिन्न हैं। देखने में द्वन्द्व हैं पर हैं वस्तुतः अद्वन्द्व-अद्वैत-अभिन्न ही। अभिन्न होते हुए भी भिन्न-से परिलक्षित होते हैं। श्रीराधा-कृष्ण का जोड़ा द्वन्द्व महामोहन है। दुनियाँ में द्वन्द्व मोहन नहीं होता। राग-द्वेष का द्वन्द्व, क्षुधा-पिपासा का द्वन्द्व, शीत-उष्ण और सुख-दुःख का द्वन्द्व कहाँ सुखदायी होता है? ये द्वन्द्व सुखदायी नहीं; लेकिन यह द्वन्द्व (श्रीराधा-कृष्ण की जोड़ी) सुखदायी है। जिसके मन में यह द्वन्द्व प्रकट हो गया उसका परम कल्याण हो गया। ऐसा अद्भुत द्वन्द्व जिसमें एक काञ्चन-चम्पकच्छवि है और दूसरा नीलाम्बुद-श्यामल है। एक गौरतेज है, दूसरा श्यामतेज। इस प्रकार श्रीराधा-कृष्ण का द्वन्द्व महामोहन है, परम मोदक-आह्लादक-आनन्द प्रदायक है।

६. युगल छवि में तन्मय रसिकवृन्द के आस्वादन की पद्धति

यहाँ के महानुभाव ऐसे राधा-माधव युगल स्वरूप के प्रतिपादक पदों का गान करते हैं और तन्मय हो जाते हैं। ऐसा नहीं कि एक बार पढ़कर अर्थ जानकर छोड़ देते हैं। बार-बार आस्वादन करते रहते हैं। शब्दानुविद्ध भाव-समाधि लाभ करते हैं। उनके मन की पुनः पुनः तैलधारावत् अविच्छिन्न गति होती है। किसी वस्तु को एकबार देख लेना और बात है और त्राटक लगाकर उस वस्तु में तन्मय हो जाना महत्त्वपूर्ण है। देखते ही हैं, पानी बरसा और बह गया। यदि पानी को बहने नहीं दिया, रोक लिया, नियन्त्रित कर लिया तो भाखड़ा जैसा बाँध बन गया। उससे कई नहरें निकाली गयीं। बिजली तैयार की गयी। देश हरा-भरा और प्रकाश से भरपूर हो गया—समृद्ध और चमाचम हो गया। पानी बरसा और नियन्त्रित नहीं किया—बहने दिया तो वह निःसार है। यदि बहने नहीं दिया अवरुद्ध किया तो सार है। आपने सुना है, दुर्योधन के निन्यानवे भाई मारे गये। गया माँ गान्धारी के पास प्रणाम करके बोला, "माँ आपके निन्यानवे बेटे मारे गये। मैं सौवाँ हूँ, वह भी मरने जा रहा हूँ।"

गान्धारी बोली—"अच्छा बेटा! तू नहाकर पूरा नंगा होकर के मेरे सामने खड़ा हो जा। मैं तुझे अपने नेत्रों से निहार दूँगी। तेरा अङ्ग वज्र का हो जायेगा। श्रीकृष्ण (विष्णु) का चक्र कुछ नहीं करेगा, शिव का त्रिशूल कुछ नहीं बिगाड़ेगा, इन्द्र का वज्र कुछ नहीं करेगा। भीम के गदे की तो बात ही क्या है?"

कहते हैं, जिस दिन गान्धारी ने सुना कि मेरे (उसके) पति अन्धे हैं, उसने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली। उसने सोचा—'जब मेरे पति संसार नहीं देखते तो मैं भी संसार देखकर क्या करूँगा?'

तो दुर्योधन चला नहाने। कृष्ण को पता लग गया। वह छलिया आ गया सामने। कहने लगा, "ऐ क्या बात है, अरे माँ के सामने नंगा होकर खड़ा होने जा रहा है, सोच कि तू कोई तीन महीने का बच्चा है? यही बात है तो

धर्मराज युधिष्ठिर के पास जा। उनके चरणों में मस्तक रख। वे तुझे अभय दान दे देंगे।"

दुर्योधन ने सोचा—'वोहो! इस छलिये को सब बात मालूम हो गयी। पर मुझे तो जाना माँ के पास ही है। कैसे जाऊँ, यह बात दूसरी है। चलो इन्हीं से उपाय पूछ लूँ!"

दुर्योधन ने कहा—"तो महाराज! आप ही बतावें क्या करूँ?'

भगवान् ने कहा—"जाना ही है तो एक फूल का लंगोटा बाँध ले। वह कोई वस्त्र तो है नहीं। बस, तुम्हारा काम भी हो जाय और मर्यादा भंग भी न हो?"

बेचारा बहकावे में आ गया! फूल का लंगोटा लगाकर माँ गान्धारी के पास गया गान्धारी ने दासी से कहा—"तू मेरी आँखों की पट्टी खोल दे। दासी ने पट्टी खोल दी। गान्धारी ने देखा। कहा "बेटा! तुझे रास्ते में कृष्ण मिल गया होगा? जा तेरा सारा अङ्ग वज्र हो गया। अब भीम की गदा कुछ नहीं करेगी। पर उतना अङ्ग कच्चा है, जितने में फूल का लंगोटा तूने पहन रखा है, वहीं पर भीम की गदा लगेगी और तू मरेगा।"

तो क्या बात है? हमारी भी आँखें हैं, आपकी भी आँखें हैं और गान्धारी की भी आँखें थीं। गान्धारी की आँखों में चमत्कार क्यों था? इसलिए न कि उसने नेत्रों की शक्ति को विखरने नहीं दिया था? इसी प्रकार वाणी की शक्ति विखरती रहती है। लोग अण्ड-बण्ड बोलते रहते हैं। जो वाणी की शक्ति को विखरने से रोक लेते हैं, वे जो कहते हैं, वही होता है। यदि वे घट को पट कह दें तो घट पट हो जाय। नहुष को अजगर (सर्प) कह दिया ऋषि ने तो नहुष तत्काल अजगर हो गया। जो वाणी की शक्ति को विखरने नहीं देता, उसकी वाणी में क्रियाफलाश्रयत्व होता है।[१८] वह जो कहता है, वही होता है। इसी तरह श्वास-प्रश्वास विखरता रहता है। प्राणायाम करके इसको विखरने से रोको। प्राणायाम का अभ्यास करो। आपने सुना होगा कई लोग अपनी छाती पर हाथी को चढ़ा लेते हैं। हमारे एक महात्मा हैं उन्होंने भी ऐसा किया है। उन्होंने हाथी चढ़ा लिया। बड़ी-बड़ी शिलाएँ रखवाते थे। प्राणायाम के एक अंश का चमत्कार है। इसी तरह मन बहुत महत्त्वपूर्ण चीज है, उसकी शक्ति विखर रही है, मन से हम जैसी-तैसी वस्तुओं का चिन्तन करते रहते हैं, इन्द्रियों की शक्ति भी विखर रही है। ये शक्तियाँ बिखरने न पावें। शक्तियों को नियन्त्रित करें। नियन्त्रण में चमत्कार है। गान्धारी की दृष्टि का चमत्कार आपने सुना। कई व्यक्ति काले बिन्दु का चिन्तन करते हैं। कई शालग्राम का चिन्तन करते हैं। जिस प्रकार

---

१८. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् (यो० द० २. ३६)

आँखों का त्राटक होता है, उसी प्रकार मन का भी त्राटक होता है। भगवान् के मधुर-मनोहर मुखचन्द्र पर मन का, नेत्रों का त्राटक, प्रभु के मङ्गलमयी पादारविन्द नखमणि-चन्द्रिका पर मन का नेत्रों का त्राटक; इसी तरह श्रीराधारानी की मङ्गलमयी पादारविन्द नखमणिचन्द्रिका पर मन का, नेत्रों का त्राटक ! श्रीराधारानी की नखमणि-चन्द्रिका का क्या कहना ?

श्रीराधारानी कौन हैं, जिनकी पादारविन्द-नखमणि चन्द्रिका का चिन्तन करना है ? मानो आनन्द-समुद्र का मन्थन किया, उस आनन्दसिन्धु के मन्थन से प्रादुर्भूत निर्मल-निष्कलंक पूर्णतम पूर्णचन्द्र ! जिसके सामने राकाचन्द्र कुछ भी नहीं। ऐसे दिव्य श्रीजी के पादारविन्द का मधुर-मनोहर मुखचन्द्र का चिन्तन ! उसी पर आँखों का त्राटक। त्राटक लगाने से तो दीर्घकाल पर्यन्त उसी वस्तु का स्फुरण होता रहता है। नहीं तो एक सेकेण्ड में मन अनेक वस्तुओं का चिन्तन कर डालता है। यही चञ्चलता-विकलता है। इस पर नियन्त्रण चाहिए। धीरे-धीरे कम वस्तुओं का चिन्तन करो, मन इधर-उधर न भटके। एक सेकेण्ड में एक ही वस्तु का चिन्तन करो। यही एकाग्रता है।

हम मन से अनेक वस्तुओं का चिन्तन न करें। श्रीमहावाणियों के जो शब्द हैं, श्रीराधासुधानिधि, श्रीचतुरासीजी के जो शब्द हैं, श्रीमद्भागवतजी के जो शब्द हैं, उनके एक-एक शब्द को लेकर उनके अर्थस्वरूप प्रिया-प्रियतम-भगवान् के स्वरूप की हो स्फूर्ति हो। उन्हीं के सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य में हमारा मन रम जाय, आँखों का त्राटक बन जाय। देखो ! जीवन में लोकोत्तर चमत्कार आता है कि नहीं ? 'हाथ कंगन को आरसी क्या ?' करके देखो; करने से ही स्वाद आयेगा। 'मिश्री मिठी है या नहीं?' इस पर कितनी भी युक्ति-प्रयुक्ति करो, अन्त में खाने से ही पूरा अनुभव होगा। इसी तरह से इस रस के अनुभव करने का प्रयास करो।

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम ।।

* श्रीहरिः *

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

पञ्चम-पुष्प

१. रसाक्रान्त रससार-सर्वस्व श्रीराधा-माधव

यस्याः कदापि वसनाञ्चल खेलनोत्थ
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी ।
योगीन्द्र दुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवोदिशेऽपि ॥
(श्रीराधासुधानिधि १)

श्रीवृषभानुनन्दिनी के वसनाञ्चल खेलन से समुत्पन्न, अतएव अपने को परम धन्य समझने वाला पवन (वायु) भी जब कभी श्रीनन्दनन्दन के स्पर्श का विषय होता है तो वे इतने मात्र से भी अपने को परम कृतार्थ मानते हैं। यह स्थिति उन मधुसूदन भगवान् की है, जिनको प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र तरसते रहते हैं। वह तो दिशा भी वन्दनीय है, जहाँ श्रीवृषभानु भूपतनया का वसनाञ्चल-सञ्चार होता है।

अर्थात् जिस राधारानी वृषभानुनन्दिनी के वसनाञ्चल समुत्थ पवन से योगीन्द्र-मुनीन्द्र दुर्गमगति भगवान् मधुसूदन अपने आपका परम कृतार्थ मानते हैं, उन राधारानी की जो दिशा है, उसे भी प्रणाम करते हैं।

जैसे सन्निपातज्वर ग्रस्त रोगी को जितना-जितना शीतल-सुगन्धित जलपान करने को मिलता है, उतनी-उतनी पिपासा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, वैसे ही भक्त लोग जितना-जितना भगवान् के मङ्गलमय पादारविन्द का सेवन करते हैं, मकरन्द पान करते हैं, उतनी-उतनी पिपासा भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥
(भागवत १०. ३२. ७)

कोई सौभाग्यशालिनी निमेषवर्जित नयनोंसे मुखाम्बुजसौरभका आस्वादन करती है। जैसे सन्त लोग अनादिकाल से भगवान् के पादारविन्द के सौन्दर्यामृत का, माधुर्यामृत का, सौरस्यामृत का, सौगन्ध्यामृत का, पान करते हैं, अर्थात् रसास्वादन करते हैं। रसास्वादन करने वाले रसिक अभी तक तृप्त नहीं हुए; क्योंकि दुनियाँ के और सब रस फीके पड़ जाते हैं, नीरस हो जाते हैं, पर यह रस कभी नीरस नहीं होता, इसमें उत्तरोत्तर अनन्त-गुणित माधुर्यामृत अनुभूत होता रहता है।

श्यामसुन्दर मदनमोहन राधारानी के मंगलमय अङ्ग के सौगन्ध्यामृत-लावण्यामृत का अनादिकाल से निरन्तर आस्वादन करते आ रहे हैं, तो भी सदा अतृप्त रहते हैं। पिपासा, उत्तरोत्तर लोकोत्तर तृष्णा-प्रतिक्षण नव-नव होती ही जाती है। यद्यपि प्रियाजी का नित्य सम्मेलन है, फिर भी दुर्लभता प्रतीत होती है।

इधर श्रीराधारानी के सम्बन्ध में भी यही बात है। वे निरन्तर प्रियतम श्यामसुन्दर के मङ्गलमय माधुर्यामृत का रसास्वादन करती हैं, मुखचन्द्र के अधरामृत (अधरसुधा) का निरन्तर आस्वादन करती है, तो भी उनमें इस प्रकार की दुर्लभता की प्रतीति होती है—

दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी
गुरुक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौःस्थ्यं गता।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनाऽन्वये
न जीवति तथापि किं परम दुर्मरोऽयं जनः॥
(श्रीआनन्द वृन्दावन चम्पू ८.४२)

"अहो! दुराप (दुर्लभ) जनमें रति और लज्जा का प्राबल्य? परवश शरीर कुलीनवंश में जन्म, तत्रापि गुरुजनों की विषमयी उक्तियों से मति और विकल होती जाती है। अहो! फिर भी क्या यह परम दुर्मर प्राणी, नहीं जीता? जीता ही तो है?"

जैसे रङ्क को चिन्तामणि दुर्लभ है, वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन श्रीराधारानी के लिये दुर्लभ है। भला ऐसा क्यों? इसलिये कि अवस्थाएँ अलग-अलग आती हैं। राधारानी वृषभानुनन्दिनीमें वाम्य रहता है। कभी-कभी दाक्षिण्य अवस्था भी आ जाती है। इसलिए भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय में भिन्न-भिन्न भक्तों ने भिन्न-भिन्न रूप से उनके माधुर्यामृत का वर्णन किया है। इसलिये गौड़िया सम्प्रदाय में ही नहीं, इसमें (राधावल्लभ में) भी समय-समय पर दाक्षिण्य की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि होती है। जहाँ नायिका अपने प्राणनाथ प्रियतम के अत्यन्त अनुकूल होकर रहे, वहाँ दाक्षिण्य समझना चाहिए। वाम्य में माधुर्य अधिक है, तथापि प्रकृति-स्वभाव है, समय-समय पर दाक्षिण्य भी आता ही है। जैसे गङ्गा-

जी की तरंगें कभो आकाश से बातें करने लगती हैं और कभी पाताल से, वैसे ही भावके समुद्र में कभी ज्वार और कभी भाटा प्रकार की अवस्थाएँ आती रहती हैं। इसी दृष्टि से कभो ऐसा भी प्रतीत होता है, **"दुरापजनवर्तिनी"**।

"हमारी रति-प्रीति ऐसे दुर्लभ श्यामसुन्दर में है, जैसे रङ्क की दुर्लभ चिन्तामणि में। प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर का दर्शन हमारे लिए बड़ा दुर्लभ है। जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर के पुण्य-पुञ्ज से कभी उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो भी जाय तो यह लज्जा उनके दर्शन में बाधा डालती है। नेत्रोन्मीलन नहीं होने देती। प्रियतम सम्मुख ही विराजमान हैं, उनके दर्शन का सौभाग्य भी प्राप्त है; परन्तु भूयसी (बहुत) लज्जा के कारण उनके मुखचन्द्र के दर्शन के लिए नेत्र खुलते ही नहीं। कथञ्चित् लज्जा का अपसारण करके प्रियतम के मुखचन्द्र का, सौगन्ध्यामृत-लावण्यामृत का आस्वादन करने भी लगती हूँ तो गुरूक्ति विष-वर्षण से (गुरुजनों के असह्य तानों से) मति अत्यन्त घायल हो जाती है। परवश स्त्री-शरीर और कुलीन वंश में जन्म के कारण प्रियतम-दर्शन और सम्मिलनमें पर्याप्त प्रतिबन्ध है दर्शन और सम्मिलन न सही प्राण-वियोगरूप मरण ही सही, पर वह भी तो सुलभ नहीं, जीवन दुर्मर जो ठहरा ?"

यह भी एक लीला है। योगमाया शक्ति ने यह लीला व्यक्त की है। व्रजवासी गोपों को महाराज गर्गाचार्य ने यह विश्वास दिला दिया कि तुम्हारी इन गौराङ्गी गोपाङ्गनाओं ने अगर श्रीकृष्ण का स्पर्श प्राप्त कर लिया तो सौ वर्ष के लिए श्रीकृष्ण के विप्रलम्भजन्य तीव्रताप का अनुभव अवश्य हो करेंगी। इसलिए सभी गोप बाधक होने लगे। वे अब ध्यान रखने लग गये कि उन्हें कहीं श्यामसुन्दर के दर्शन न हो जाँय।

कारण यह था कि श्रीकृष्ण सबके परम प्यारे थे। व्रजवासी गोपों को उनका वियोग और व्रजवालाओं को हो, यह उन्हें अभीष्ट न था। इसलिए ननान्दा (ननद) और सगे-सम्बन्धी सब श्रीकृष्ण-सम्मिलन के विरोधी बन गये। श्रीराधा-रानी के सामने भी बड़ी समस्या आ गयी। सोचने लगीं—"एक तो दुर्लभ श्री-कृष्ण में प्रीति. दूसरी लज्जा की भरमार ? फिर विषवर्षिणी गुरूक्तियाँ, स्वभाव से ही परवश स्त्री-शरीर और कुलीन खानदान में जन्म ? नीचे-ऊँचे पैर पड़ने पर कुल को कलङ्क लगने का डर ? अहा ? कितना दुर्मर यह प्राणी है ? इस स्थिति में तो मर जाना ही श्रेयस्कर है; परन्तु हजार प्रयास के बाद भी मरना कहाँ सुलभ ? सर्वथा दुर्लभ ही है। मिलने और मरने दोनों में ही विवशता है।"

कई भक्तों ने कहा है **'मधुरं वैवश्यमेव प्रेम्णो लक्षणम्'** **प्रेम क्या है ? मधुर-वैवश्य, आन्तरमधुर-वेदना। आमतौर पर विवशता मधुर नहीं होती, स्वतन्त्रता ही मधुर होती है।**

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुख दुःखयोः ॥
(मनुस्मृति ४. १६०)

मधुर वैवश्यं प्रेमतत्त्वम्, यस्य स्पर्शवशात्
भगवानपि वैवश्येन स्वं विस्मरति ॥
(भक्तिरसार्णव, रसस्वरूप विमर्श पृ० ११४)

यो हि यस्मिन् रज्यते, स तत्परवशो भवति। प्रेमप्राखर्यातिशय-तारतम्येन पारवश्य-तारतम्यमपि अतिशेते (भक्ति० पृ० १६६), पारतन्त्र्यं स्त्रीत्वं स्वातन्त्र्यं पुंस्त्वमितिरीत्या पूर्णस्वतन्त्रस्य भगवत एवैकस्य पुंस्त्वम्, तदन्येषां तु पारतन्त्र्येण स्त्रीत्वमेव ॥ (भक्तिरसार्णव पृ० १७०)

"मधुर-वैवश्य प्रेमतत्त्व है। जिसके स्पर्शवश भगवान् भी विवश हो स्वयं को भूल जाते हैं।"

"जो जिसमें अनुरक्त होता है, वह उसके परवश होता है। प्रेमोत्कर्ष के अतिशय-तारतम्य से परवशता में भी तारतम्य होता है।"

"पारतन्त्र्य क्या है ? स्त्रीत्व। स्वातन्त्र्य क्या है ? पुंस्त्व। इस रीति से जो पूर्ण स्वतन्त्र भगवान् ही एकमात्र 'पुरुष' सिद्ध होते हैं, उनसे अन्यों में तो पारतन्त्र्य होने से स्त्रीत्व ही सिद्ध होता है।"

दुःख किसको प्रिय होता है ? लेकिन यहाँ जो विवशता है, वह बड़ी प्रिय है। ऐसा क्यों ? कृष्ण नाम के श्रवण और उनके दर्शन की उत्कण्ठा से इस मधुर विवशता की प्राप्ति हुई है।

व्रीडां विलोडयति लुञ्चति धैर्यमार्य-
भीतिं भिनत्ति परिलुम्पति चित्तवृत्तिम्।
नामैव यस्य कलितं श्रवणोपकण्ठे
दृष्टः स किं न कुरुतां सखि ! मद्विधानाम् ॥
(श्रीआ० वृन्दावनचम्पू अष्टमस्तवकः ३८)

"हे सखि ! जिसका केवल नाम ही हम जैसी अनुरागियों के कानों के निकट जाते ही लज्जा को लोट-पोट कर देता है—भस्म कर देता है, धैर्य को नोच लेता है—दूर कर देता है। वृद्धजनों से होने वाले भय को टूक-टूक कर देता है, चित्तवृत्ति को चारों ओर से छिन्न भिन्न कर देता है। तब ऐसी स्थिति में वह दृष्टिगोचर होकर क्या नहीं करेगा, इसको कौन कह सकता है ?"

जिनका मङ्गलमय नाम कानों में आकर कुलाङ्गना सुलभ लज्जा का विलोडन कर डालता है, धैर्य का लुञ्चन कर देता है, सखि ! कहीं उनके दर्शन

हो जाँय तो क्या होगा ? मैंने तो जब से "श्रीकृष्ण" ऐसा सुमधुर नाम सुना है तब से अपना सर्वस्व इस नाम पर ही न्यौछावर कर दिया है।"

२. धन्यातिधन्य पवन से कृतार्थमानी योगीन्द्र दुर्गमगति मधुसूदन

जिस प्रकार राधारानी को श्रीकृष्ण का दर्शन दुर्लभ प्रतीत होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण को भी श्रीराधारानी का दर्शन दुर्लभ प्रतीत होता है। राधारानी के सौन्दर्यामृत, सौरस्यामृत, लावण्यामृत, सौगन्ध्यामृत के आस्वादन करने के लिए प्रतिक्षण मदनमोहन श्यामसुन्दर लालायित-उत्कण्ठित ही रहते हैं, स्वयं को सतत अतृप्त ही अनुभव करते हैं। यद्यपि उन्हें राधाजी नित्य ही प्राप्त हैं, फिर भी श्रीजी को प्राप्त करने की उत्कण्ठा बनी ही रहती है, उत्तरोत्तर कोटिगुणित तृष्णा बढ़ती जाती है। 'श्रीजी की स्मृति किसी व्याज से होती रहे' ऐसा चाव बना ही रहता है। इसीसे कहा गया है—

"धन्यातिधन्य पवनेन कृतार्थमानी"।

'धनमर्हतीति धन्यः' जैसे धन दुर्लभ होता है, तद्वत् पवन दुर्लभ है, परमपूर्ण-परम श्रेष्ठ है। जैसे कुशल शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ **'कुशान्-लातीति कुशलः'**, नाना प्रकार के तृणों में विवेचन करके कुश ग्रहण है, परन्तु 'विवेचनार्थ' को बाधित करके 'निपुणतामात्र' विवक्षित है, इसी तरह (वैसे) धन का लाभ-कारी अर्थ विवक्षित है। यहाँ श्रीराधारानी के दिव्यातिदिव्य पराग-मकरन्द संस्पृष्ट पवन का स्पर्श-लाभ होते ही उनके वक्षोज के पराग-मकरन्द का स्मरण हो आता है। यही लाभ है—

धन्यपदस्य यौगिकत्वे तु धनयोग्यं धन्यमिति निरुक्त्या लाभकारीत्यर्थः, तादृशस्य सर्वस्पृहणीयत्वात् श्रेष्ठपुण्यशीलाद्यर्थप्रसिद्धेः यथा कुशलेत्यस्य विवेचकत्वार्थबाधेन निपुणार्थरूढ़िः लाभोऽत्र स्वजीवातुतद्वक्षोरुहादिसङ्गस्मरणम् ॥

(रसकुल्या १)

कृष्णसार मृग के साथ आयी हुई हरिणियाँ जब श्यामसुन्दर का दर्शन करती हैं, तब उनके नेत्रों का दर्शन कर श्रीराधारानी के नेत्रों का उन्हें स्मरण हो आता है और वे (भगवान्) इसी को अपनी पूजा मान लेते हैं। इससे मूढ़मति होने पर भी इन हरिणियों को—कृष्ण-मृग पत्नियों को, धन्य माना गया है। श्रीकृष्णचन्द्र अपने मङ्गलमय मुखचन्द्र पर वेणु धारण करते हैं। अपने मुखचन्द्र के अधर-सुधारस से उसे वेणुनादामृत के रूप में पूरित करते हैं। उस वेणु गीतामृत को हरिणियाँ सुनती हैं। जैसे कुलांगना सती-साध्वी पति को भी भवद्दर्शन के लिए प्रेरित कर साथ ले जाती हैं या अपने पतियों का अनुगमन करके स्वयं ही उनके साथ मन्दिर में भगवद्दर्शन के लिए जाती हैं, वैसे ही निजपति कृष्णसार मृगों के साथ आकर ये हरिणियाँ वेणु-गीतामृत से आकृष्ट होकर प्रणयपूर्ण नेत्रों से श्यामसुन्दर मदनमोहन को निहारती

हैं, इसलिए मूढ़ मानी जाने पर भी धन्य हैं। **पूजा वही जो प्रियतम मान लें। प्रियतम न मानें तो छप्पनों भोग से, अरबों की सम्पत्ति से भगवान् की पूजा करे, कौड़ी काम की नहीं। प्रभु जिसे प्रेम से, स्नेह से ग्रहण कर लें, वही सबसे बड़ी पूजा।** जिस प्रकार भक्त को अपने भगवान् की स्मृति आनन्द देती है, उसी प्रकार श्रीहरि को अपनी प्रियतमा श्रीराधारानी की स्मृति, उनके वक्षोज की स्मृति, वक्षोज के पराग और मकरन्द की स्मृति आनन्दित करती है, इसी से वे स्वयं को कृतार्थ मानते हैं। उसी को लाभकारी मानते हैं।

वक्षोज चालन की चञ्चलता श्यामसुन्दर ने की। अभिक्षेप करके अपाकरण की चेष्टा की। अञ्चल के हलचल से वक्षोज संलग्न पराग का अनुभव श्यामसुन्दर को हुआ। जिससे उन्होंने स्वयं को कृतार्थ माना।

२. श्रीराधा-वसनाञ्चल-खेलनोत्थ धन्यातिधन्य पवन

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि विलासान्त में श्रम अधिक हुआ श्यामसुन्दर को। प्रियतम के मस्तक पर स्वेद-विन्दु देखकर परम करुणामयी प्राणेश्वरी प्रियतमा राधारानी अञ्चल से हवा करने लगीं। सदा-वाम्यभाव में रहने वाली आज वाम्य को छोड़कर दाक्षिण्यभाव से—अविरुद्ध होकर के, अञ्चल से पवन (हवा) करने लगीं। वाञ्छित लाभ से भी अधिक लाभ हुआ; अतः कृतार्थ माना। वसनाञ्चल खेलनोत्थ पवन को **'धन्योऽस्ति', 'अति धन्योऽस्ति' माना।**

ऐसी अवस्था बहुत दुर्लभ है। श्रीराधारानी आसज्य हैं और श्यामसुन्दर आसक्त। आसक्ति के विषय को आसज्य कहते हैं। ऐसे आसज्य-सेव्य की सेवा में श्रीश्यामसुन्दर सदा समासक्त रहते हैं। तब कहाँ अवसर है कि राधारानी हवा करें? यह तो तभी सम्भव है, जब वे सेविका हों। तभी बात बनें। इसलिए कहा **'कदापि'**। ऐसा सौभाग्य तो कभी-कभी ही सध पाता है। जब वाम्य का अवरोध होकर दाक्षिण्य का आविर्भाव श्रीजी में होता है, तब कहीं वे सहृदय होकर के वसनाञ्चल खेलन से उत्थ पवन का स्पर्श कराकर, श्यामसुन्दर के श्रम का अपनोदन कर उन्हें कृतार्थ-मानी बनाती हैं।

श्यामसुन्दर और सखिवृन्द की ओर से यह कल्पना है। वरवशीकरण की भावना सखियों में तो स्वभाव से ही होती है। इसके लिये वे अनेक कौतुक किया करती हैं। जब श्रीकृष्ण का विवाह हुआ, तब श्रीराधारानी की अद्भुत पादुका को उत्तम वस्त्र से आवृत कर सखियाँ ले गयीं और कहा—"श्यामसुन्दर? इसे प्रणाम करो।"

श्यामसुन्दर ने कहा—"कौन है यह?"

सखियाँ—"श्यामसुन्दर? यह देवता है।"

पहले से ही नन्दबाबा के घर की सखियों ने श्यामसुन्दर को सिखा रखा था, 'वहाँ कोई ऐसी-वैसी देवी-देवता को प्रणाम मत करना ।'

श्रीकृष्ण—'क्यों नहीं करेंगे ?'

नन्दगाँव की सखियाँ—'करने से वर बहू के वश में हो जाता है । इसलिए मत करना ।'

श्यामसुन्दर ने मन-ही-मन सोचा—'हम तो ईश्वरता से पिण्ड छुड़ाकर परवश होना चाहते हैं । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता, सर्वशक्तिमत्ता से पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं, यदि वरसाने[१९] की सखियों के कहने पर उस देवता को प्रणाम करने से ही यह काम बन जाय, तब तो बहुत ही उत्तम । हम तो अवश्य ही उसे प्रणाम करेंगे ।'

वरसाने की सखियों के कहने पर श्यामसुन्दर ने उस देवता को प्रणाम किया । सखियों ने सोचा, 'अच्छा हुआ, हमने जो वरवशीकरण के लिए कार्मण (टोटका) किया वह तो सफल हुआ । अब तो श्यामसुन्दर सदा ही हमारी स्वामिनी श्रीजी के वश में रहेंगे ।'

सखियों ने सोचा—'हमारा टोना तो सफल हुआ, लेकिन उसे सफल बनाने में श्रीजी के अञ्चल के खेलन से उत्थ इस पवन ने बड़ा काम किया ।'

उन्होंने पवन से कहा—"जो काम हम नहीं कर सकीं, वह काम तुमने कर दिखाया, इसलिए पवन ? तुम धन्य-धन्य हो । तुम रासेश्वरी की दिव्य रासस्थली से उत्पन्न हुए हो, तुम्हारे स्पर्श से श्यामसुन्दर अपने आपको कृतार्थ मान

---

१९. यह स्थान मथुरा से ३५ मील (करीब ५६ कि० मी०) है । इसका प्राचीन नाम बृहत्सानु, ब्रह्मसानु या वृषभानुपुर है । यह पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की ह्लादिनीशक्ति एवं प्राणप्रियतमा नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा-किशोरी की पितृभूमि है । यह लगभग दो सौ फुट ऊँचे एक पहाड़ की ढाल पर बसा हुआ है, जो दक्षिण-पश्चिम की ओर चौथाई मील तक चला गया है । इसी पहाड़ी का नाम बृहत्सानु या ब्रह्मसानु है । इस पहाड़ी को साक्षात् ब्रह्माजी का स्वरूप मानते हैं (जिस प्रकार नन्दगाँव की पहाड़ी को शिवजी का एवं गिरिराज गोवर्द्धन को विष्णु का स्वरूप माना गया है) । इसके चार शिखर ही ब्रह्माजी के चार मुख माने गये हैं । इन्हीं शिखरों में से एक पर मोरकुटी (जहाँ श्यामसुन्दर मोर बनकर श्रीराधाकिशोरी को रिझाने के लिये नाचे थे), दूसरे पर मानगढ़ (जहाँ श्यामसुन्दर ने मानवती किशोरी को मनाया था), तीसरे पर विलासगढ़ (जो श्रीजी का विलासगृह है) तथा चौथे शिखर पर दानगढ़ है (जहाँ प्रिया-प्रियतम की दानलीला सम्पन्न हुई थी) ।

रहे हैं, यही तो वधू के वश में होने का चिह्न है। इससे हम तो यही समझती हैं कि हमारा जो टोटका (कार्मण) है, वह पूर्ण रूप से सफल हुआ है। श्रीमधुसूदन जिनकी महिमा अपरम्पार है, जिनकी गति अर्थात् स्वरूप-महिमा-विलास शिव-सनकादिकों के लिये भी दुर्लभ है, मानो दुर्विवेचनीय है, ऐसे अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण श्रीकृष्ण भी जिस पवन के स्पर्शमात्र से अपने आपको परम कृतार्थ मानते हैं, इससे बढ़कर के वधू के परवश हो जाने का दूसरा उदाहरण और क्या हो सकता है ?"

४. राधा-माधव भावरसभावित मति का अद्भुत महत्त्व

योगीन्द्र दुर्गमगति मधुसूदन हैं। योगीन्द्र वही होता है, जो कामादि पर पूर्ण विजय प्राप्त करता हो, विषय विलास से पूर्ण विरक्त होता हो—

बाह्य स्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ।।

(भगवद्गीता ५. २१)

सारे विषय का बोधक यहाँ स्पर्श है। **'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय'** (भगवद्गीता २.१४) यहाँ पर भी स्पर्श का अर्थ विषय है। मात्रा माने इन्द्रियाँ, स्पर्श माने विषय, अर्थात् विषयों का जो इन्द्रियों के साथ संयोग-सम्बन्ध वही मात्रा-स्पर्श है।[२०] बाह्य-स्पर्श से जिसका मन अनासक्त है, विषय-प्रपञ्च से जो सर्वथा अतीत है, कामादि दोषों से जो अत्यन्त विरक्त-विनिर्मुक्त है, भगवद्भक्ति-भगवद्योग सम्पन्न है, उसी को परम सुख की प्राप्ति होती है। ऐसे योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी जिनकी गति को समझने में असमर्थ हैं, वीतराग हो करके जिनका भजन करते हैं; वे हैं, श्रीकृष्णचन्द्र। **वीतराग होकर के भी प्राणी में यदि भक्ति नहीं, प्रीति नहीं, तो वीतरागता कुछ भी नहीं। क्या करें उस वीतरागता को लेकर, चूल्हे में डालें ? वीतरागता का मतलब क्या ? संसार से वैराग्य और भगवान् में अनुराग।** दो जगह राग नहीं हो सकता, या तो भगवान् में होगा या संसार में। संसार में पर-वैराग्य होने पर भगवान् में राग हो गया, तभी भगवत्प्रबोध होगा। या यों कहो कि भगवद्भजन करने पर ही भक्ति-विरक्ति भगवत्प्रबोध (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति होगी—

---

२०. मात्रा आभिर्मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, मात्राणां स्पर्शाः शब्दादिभिः संयोगास्ते शीतोष्णसुखदुःखदाः शीतमुष्णं सुखं दुःखं च प्रयच्छन्तीति। अथवा स्पृश्यन्त इति स्पर्शा विषयाः शब्दादयः।

(शाङ्करभाष्य, गीता २.१४)

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ।।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ।।
(भागवत ११. २. ४२, ४३)

हम वीतराग हो करके, आप्तकाम-पूर्णकाम-परमनिष्काम हो करके जिन भगवान् को भजते हैं, वे भगवान् तो श्रीराधारानी के क्रीड़ामृग हैं—

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम् ।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम् ।।

"अहो ! आश्चर्य ! मैं तो उस प्रेम-बन्धन का वन्दन करता हूँ, जिससे बँधकर सबको मुक्ति देने वाला और स्वयं नित्यमुक्त ब्रह्म भी भक्तों का खिलौना बन जाता है।"

"भगवान् अनन्त ब्रह्माण्डनायक हैं, चाहें तो अनन्त-अनन्त प्राणियों को एकक्षण में मुक्ति दे दें। वेदान्ती उनका हाथ नहीं पकड़ेगा। 'भगवान् चाहें तो आज ही अभी सबको मुक्ति दे दें', यह बात तो वेदान्त-सम्मत ही है। वे 'कर्तुंमकर्तुंमन्यथाकर्तुं' समथ हैं। वे चाहें तो अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्डों के अनन्त-अनन्त प्राणियों को एक क्षण में मुक्त कर सकते हैं, मुक्ति देकर। 'नहीं', ऐसा वेदान्ती नहीं कह सकते हैं। कैसे कह सकते हैं ? 'हाँ' ऐसा ही वेदान्ती बोल सकते हैं। ऐसे नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त भगवान् को जो पूर्णकाम-निष्काम-वीतराग होकर के भजते हैं, तो वे भजें। हम तो उनकी नहीं, मुक्ति की नहीं, उस प्रेम-बन्धन की वन्दना करते हैं, जिसमें बँधकर पूर्ण ब्रह्म गोपाङ्गनाओं का क्रीड़ामृग हो गया है; वह पूर्ण ब्रह्म जो श्रीराधारानी के अञ्चलोत्थ पवन को धन्यातिधन्य कह कर उसकी प्रशंसा करते अघाता नहीं है, उसके स्पर्श से स्वयं को कृतार्थ मानता है। ऐसा क्यों ? क्या रहस्य है इसका ? परम सूक्ष्मज्ञ होने पर भी इसका निर्णय करने में हम असमर्थ हैं।"

श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीराधारानी की जो परस्पर प्रीति है, वह विषय-प्रपञ्च से बिलकुल विलग है। विषय और विषयी का यहाँ प्रवेश ही नहीं। श्रीहित हरिवंश महाप्रभु अपने ग्रन्थ 'राधासुधानिधि' में लिखते हैं—

अलं विषयवार्त्तया नरककोटि वीभत्सया
वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः ।
परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः
परन्तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु ॥
(राधासुधानिधि ८३)

"कोटि-कोटि नरकों से भी घृणास्पद विषय भोगों की चर्चा रहने दो। वेदों की चर्चा का परिश्रम भी व्यर्थ है। अहो ? कैवल्य पद से तो भय लगता है। यदि परमेश्वर के भजन में शुकादि उन्मत्त हैं तो उनसे मुझे क्या ? मेरा मन तो श्रीराधा के चरण-कमल-रस में निमग्न हो जाय !"

कल्पवृक्ष की महिमा अद्भुत है। ऐसे ही अमृतकुण्ड की अपार महिमा है। चिन्तामणि की महिमा का क्या कहना ? परन्तु ये सब विषय हैं। न कल्पवृक्ष की वार्ता करो, न अमृतकुण्ड की चर्चा करो, न चिन्तामणि की, विषयवार्त्ता से विरत रहो। व्यर्थ की चर्चा से क्या काम ? **'अलं विषयवार्तया'**, इन विषयों को छोटा नरक मत समझो। कुम्भीपाक रौरवादि अत्यन्त भयंकर कोटि-कोटि नरक के तुल्य हैं ये। अपार-अपार कष्ट भोगना हो तो इन लौकिक-पारलौकिक विषय-वार्ता में रमो। ये कोटि नरकों से भी वीभत्स हैं।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाचीहृदि वर्त्तते ।
तावत्प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥
(पद्मपुराण ५ पातालखण्ड ७७. ६३)

"भोग-मोक्षादि की वासना-पिशाची के हृदय में रहते हुए भला भगवत्प्रेमसुख की उपलब्धि कैसे हो सकती है ?"

'वृथा श्रुतिकथाश्रमः' श्रुतिकथा का बहुत महत्त्व है। आप लोगों के लिए श्रुतिकथा अत्यन्त लाभकारी हैं, परन्तु ये अपनी ऊँची दृष्टि से बोलते हैं। कितना ऊँचा इनका हृदय है ? श्रुतियों में ही आया है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्तिमूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥
(मुण्डकोपनिषद् १. २. ७)

ये यज्ञरूप अदृढ़ नाव नवइयाँ हैं। इन छोटी-मोटी नाव-नवइयों से अपार भवसागर को पार करना सम्भव नहीं। होमादिको 'अवर' कहा गया है। इन अनुपम सर्वोच्च स्थिति की अपेक्षा इन्हें 'अवर' कहना उपयुक्त ही है।

मानो किसी ने कहा—'तो वेदान्त का चिन्तन कर लिया करो।'

बोले, 'उससे क्या होगा ?'

उत्तर मिला—'कैवल्य मिलेगा।'

बोले—"कैवल्य ! कैवल्य से तो डर लगता है। "**निरालंब मन इत-उत धावे**" कैवल्य में तो कुछ है ही नहीं। कुछ दिखाई ही नहीं देता। वहाँ तो प्रियतम का दर्शन सम्भव ही नहीं। अरे ! जहाँ हमारी लाड़ली प्यारी स्वामिनी श्यामा ही नहीं, वहाँ जाकर, उसे पाकर, हम क्या करेंगे ? कैसे रहेंगे ? ऐसे कैवल्य से हम क्या साधेंगे ?", "**वत विभेमि कैवल्यतः**"।

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते।
चरण सरोज हंसकुल सङ्गविसृष्ट गृहाः॥
(भागवत १०. ८७. २१)

'**परेशभजनोन्मदाः**'—कौन कह सकता है कि श्यामसुन्दर सामान्य व्यक्ति हैं ? योगीन्द्र दुर्गमगति मधुसूदन परेश हैं। इनके भजन में रमना कोई सामान्य बात है क्या ? लेकिन कहने वाले के हृदय को देखो ! कितना ऊँचा उनका हृदय है, जो परेश भजन में रमना भी पसन्द नहीं करते। सोचो, कितनी ऊँची स्थिति है ? भजनानन्द की कितनी अद्‌भुत महिमा है ? शिव-सनक-शुकादि भगवान् के भजन में लोकोत्तर आनन्द लेते हैं। निरन्तर परेश पुरुषोत्तम की कथा-सुधा में उन्मत्त रहते हैं। फिर भी ये अपनी दृष्टि से कहते हैं—"परेश के भजन में जो रमे हैं, वे रमे रहें, हमें क्या मतलब ? हम तो यही चाहते हैं कि श्रीराधा-रानी के मंगलमय पादपद्मपराग में हमारा मन सदा रमा रहे। सदा के लिए निमग्न रहे। हमें और कुछ नहीं चाहिए।"

कहने का मतलब यह है, कि सारे विषय प्रपञ्च से जो ऊँचे उठे हैं, विषयवार्ता को जो कोटि-कोटि वीभत्स नरक के तुल्य मानते हैं, नन्दनवन, कामधेनु, चिन्तामणि, अमृतकुण्डों से—इन्द्रादिसुखों से वीतराग हैं, कैवल्य से भी जो निरपेक्ष हैं, यहाँ तक कि परेश भजन में शुकादि के समान उन्मत्त रहने से भी जो निरपेक्ष हैं, उन्हें तो केवल राधादास्य चाहिये। श्रीराधा-विहार-विपिन में निवास चाहिए।

एक बार गोपाङ्गनाओं को लोगों ने कहा—'चलो मथुरानाथ के दर्शन कर आयें', बहुत आग्रह करने पर वे गयीं। जिस समय उन्होंने वहाँ श्यामसुन्दर की आभा-प्रभा-शोभा के साथ ही उनका विलक्षण प्रभाव देखा तो लम्बा-चौड़ा घूँघट काढ़ा और बोलीं 'ये तो हमारे श्यामसुन्दर नहीं हैं ?' वे अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण, श्रीमन्नारायण परात्पर परमेश्वर से आकृष्ट नहीं हुईं। वहीं से लौट आयीं।

'राधिका पदरसे मनोमज्जतु'

इस व्रज की रस-रीति से भजन करने वालों का क्या लक्ष्य है ?

'मेरे प्राणनाथ श्रीराधा, सपथ करौं तृण छिए'

पूछा—'श्यामसुन्दर से कोई नाता है कि नहीं ?'

बोलीं—हाँ है तो, वे राधारानी के प्रियतम हैं, इसलिए हम प्रणाम करती हैं।[२१] मुख्य नाता तो श्रीराधारानी से है। कहा भी है—

गौर तेजो बिना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत्पातकी शिवे ।।

(गोपालसहस्रनाम १७)

गौरतेज—श्रीराधारानी की आराधना छोड़कर श्यामतेज (श्रीकृष्ण) की आराधना की भी जाय तो भी श्यामतेज की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। कदाचित् प्राप्ति हो भी जाय तो भी मानो 'आनन्दसिन्धु' की प्राप्ति होने पर केवल विन्दु की प्राप्ति हुई। अचिन्त्य अनन्त सिन्धु से केवल एक विन्दुकी प्राप्ति-जैसी ही श्री-राधा बिना कृष्ण की प्राप्ति है। श्यामसिन्धु के आस्वादन के लिए श्रीवृन्दावन का सेवन करते हुए श्रीराधारानी की पाद-पद्म-रेणु की आराधना आवश्यक है।

रहौ कोऊ काहू मनहिं दिये।
मेरे प्राणनाथ श्रीराधा, शपथ करौं तृन छिये ।।
जे अवतार कदम्ब भजत हैं, धरि दृढ़ व्रत जु हिये।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा, वन-विहार-रस पिये ।।
खोये रतन फिरत जे घर घर, कौन काज असि जिअन जिये।
'हित हरिवंश' अनत सचु नाहीं, बिन या रजहिं लिये ।।

अनाराध्यराधा पदाम्भोजरेणूननाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान् कथं श्यामसिन्धोरसस्यावगाहः ।।

(श्रीजीव गोस्वामी)

---

२१. परकीयाभिमानिन्यस्तथा तस्य प्रिया जनाः।
प्रच्छन्नेनैव भावेन रमयन्ति निज प्रियम् ।।
राधिकानुचरीं नित्यं तत्सेवन परायणाम्।
कृष्णादप्यधिकं प्रेम राधिकायां प्रकुर्वतीम् ।।
प्रीत्याऽनुदिवसं यत्नात्तयोः संगमकारिणीम्।
तत्सेवनसुखाह्लाद भावेनातिसुनिर्वृताम् ।।
(पद्मपुराण ४ पातालखण्डे ८३. ८, ९, १०)

"श्रीराधारानी के चरणकमलों के पराग की आराधना किये विना, उनके श्रीचरण-कमलों से अङ्कित वृन्दावन का आश्रय लिये विना, उनके भाव से गम्भीर चित्तवाले रसिकभावुकों—महानुभावों की सम्भावना किये विना, श्याम-सिन्धु के रस का अवगाहन कैसे हो सकता है?"

श्रीराधारानी के चरणारविन्द से अलंकृत वृन्दाटवी का जिसने सेवन नहीं किया, राधाभाव में सरावोर रसिकों से जिसने संभाषण नहीं किया, वह परमानन्द सुधासिन्धु का रसास्वाद कैसे कर सकता है? श्याम रंग में कैसे रंग सकता है? यह वृन्दावन की भूमि श्रीराधारानी के मंगलमय पादारविन्द के विन्यास से समलंकृत है। यहाँ जहाँ-जहाँ श्रीजी के पादारविन्द का विन्यास होता है, वहाँ-वहाँ श्रीवृन्दादेवी अपने हृदय को प्रफुल्लित कर देती हैं। यहाँ के रसिक श्रीजी के मङ्गलमय पादारविन्द के विन्यास से समलंकृत वृन्दाटवी में निवासकर राधा-कृष्ण-भावरस में निज मति को भावित रखते हैं, स्वयं इसी से अहर्निश विभोर रहते हैं।

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्त विनिश्चयम्।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परामता॥
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥
(श्रीवल्लभाचार्य प्रकटिता सिद्धान्तमुक्तावली १, २)

'भज सेवायाम्' धातुसे भक्ति शब्द की सिद्धि होती है—**'भजनं भक्तिः।'**, भजन-सेवन को भक्ति कहते हैं। कायिकी, ऐन्द्रियिकी, मानसी सेवाओं में मुख्य-सेवा मानसी ही है। प्राणी को सदा मानसीसेवा करनी चाहिये। मानसीसेवा सर्वोत्कृष्ट है। चित्त की कृष्णोन्मुखता—कृष्ण में तन्मयता सेवा है। इसकी सिद्धि के लिये तनुजा और वित्तजा करनी चाहिये। कायिकी, वाचिकी आदि सेवा करते-करते अन्तमें मानसीसेवा सध पाती है। **'विजातीयप्रत्ययनिरासपूर्वक सेव्या-काराकारित मानसीवृत्तिप्रवाह' ही मानसी सेवा है।** जिस प्रकार समुद्रोन्मुखी गङ्गा का अखण्ड प्रवाह चलता है, उसी प्रकार भगवदुन्मुखी मानसी वृत्तियों का प्रवाह चलना 'मानसी सेवा है' है। जैसे सगुण-साकार-सच्चिदानन्द भगवान् के आकार से आकारित वृत्ति का प्रवाह होता है, वैसे ही वेदान्तवेद्यनिर्गुण, निरा-कार, निर्विकार, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भगवान् की स्वरूपविष-यिणी वृत्तियों का भी प्रवाह होता है। इस प्रकार की मानसीसेवा से भगवत्प्राप्ति होती है—भगवत्साक्षात्कार द्वारा अतिशीघ्र ही गुणमय प्रपञ्च की निवृत्ति (बाध) होती है।

क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते
कृष्णभाव रस भाविता मतिः।

तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलं
जन्मकोटि सुकृतैर्न लभ्यते ।।
(विल्वमंगल, पद्यावली १४)

"श्रीकृष्णरस-भक्ति-भावितमति दुर्लभ है। यदि वह मिल सके तो उसे खरीदना ही जीवन का साफल्य है; परन्तु उसका मूल्य भी केवल लौल्य-व्याकुलता है। वह भी करोड़ों जन्मों के सत्कर्मों से किसी सौभाग्यशाली को प्राप्त होता है। कारण तो स्पष्ट है, प्राणी को भगवान् की प्राप्ति में अविद्या, लज्जा और अहंकारादि का व्यवधान रहता है।"

५. 'होली'—रसाभिव्यक्तिकी अद्भुत सहेली

आप जानते ही हैं, यहाँ होली होती है। होली में क्या होता है, बरसाने वाली राधारानी रंग बरसाती हैं। किस पर ? सब पर। कौन-सा रंग ? कृष्ण रंग, कृष्ण का प्यार। रंग क्या है ? 'रञ्जते अनेन इति रंगः', 'जिससे हृदय रंग जाय'। यह जो बाह्य रंग है, आन्तर रंग का ही प्रतीक है। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द में जो राधारानी का प्यार है, राधारानी किसी पर रंग डालती हैं, तो मानो उसी को डालती हैं, उस कृष्णचन्द्र विषयक प्रीति को ही बरसाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी राधारानी विषयक प्रीति है, राग है, उसी को बरसाते हैं। दोनों एक-दूसरे के प्रति प्रीति रंग को इतना डालते हैं कि मानो रंग-वृष्टि से बादल रंग जाता है, आकाश रंग जाता है, सम्पूर्ण जगत् रंग जाता है।

आप यह जानते हैं, यह जगत् क्या है ? यह जगत् मन का विलास है, सारा विश्व-प्रपञ्च मनोमात्र है।

यत्र यत्र मनोदेही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम् ।।
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन् ।।
(भागवत ११. ९. २२, २३)

यदा मन उपादाय यद् यद् रूपं बुभूषति।
तत्तद् भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः ।।
(भागवत ११. १५. २२)

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ।।[२२]
(भागवत ११. ७. ७)

"यदि प्राणी स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से भी जान-बूझकर एकाग्ररूप से अपना मन किसी में लगा दे तो उसे उसी वस्तु का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।"

"राजन्! जैसे भृङ्गी एक कीड़े को ले जाकर दीवार पर अपने रहने की जगह में बन्द कर देता है और वह कीड़ा भय से उसी का चिन्तन करते-करते विना देहत्याग किये वही हो जाता है।"

"जिस समय योगी मन को उपादान बनाकर किसी देवता आदि का रूप धारण करना चाहता है तो वह अपने मन के अनुकूल वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसका कारण यह है कि उसने अपने चित्त को मेरे साथ जोड़ दिया है।"

"इस जगत् में जो कुछ मन से सोचा जाता है, वाणी से कहा जाता है, नेत्रों से देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियों से अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है। स्वप्न की तरह मन का विलास है, मायामात्र है, ऐसा समझो।"

"जाग्रत् अवस्था में, स्वप्नावस्था में प्रपञ्च का उपलम्भ होता है। सषुप्ति और समाधि में प्रपञ्च का उपलम्भ (उपलब्धि) नहीं होता। इसका कारण क्या है? जाग्रत्-स्वप्न में मन स्पन्दित होता है, कलनायुक्त होता है, ग्राह्य-ग्राहक भाव को प्राप्त होता है। जब कि सुषुप्ति-समाधि में कलनायुक्त नहीं होता, ग्राह्य-ग्राहक भाव को प्राप्त नहीं होता। सुषुप्ति में मन सुप्त-विलीन हो जाता है और समाधि में विस्मृत। इससे सिद्ध होता है कि सारा जगत् मन का विलास है; **यदि हमारा मन श्यामा-श्याम के रंग में रंग गया तो सारा जगत् ही हमारे लिये श्यामा-श्याममय हो गया। यही तो होली है, जिसमें पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड श्यामा-श्याम के रंग में रंग जाय। ऐसा होने पर फिर क्या**

---

२२. मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।
(माण्डूक्यकारिका ३. ३१)

सर्वं मन इति प्रतिज्ञा। तद्भावेभावात्तदभावेऽभवात्, इति अन्वय-व्यतिरेकलक्षणमनुमानम्।
(शाङ्करभाष्य)

विमतं मनोमात्रं तद्भावे नियतभावत्वात्,
यथा मृद्भावे नियतभावो मृन्मात्रो घटादिः ।।
(आनन्दगिरि)

रह जाय ? सम्पूर्ण संसार ही आनन्दसिन्धु हो जाय। भीतर-बाहर अनन्त अखण्ड निर्विकार आनन्द-ही-आनन्द अवशिष्ट रह जाय।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में 'धर्म बोधिनी' नामक पुस्तक (ग्रन्थ) है। उसमें बतलाया गया है कि आनन्दसिन्धु में भवसिन्धु की कल्पना है। भवसिन्धु क्या है, आनन्दसिन्धु का एक विलास। जिसके लिए वह प्रकट हो गया, वह निहाल हो गया। निरावरण अग्नि के सम्पर्क से जैसे सावरण काष्ठ में अग्नि प्रकट हो जाती है, सर्वत्र आनन्ददर्शी रसिकों के सम्पर्क से वैसे ही अरसिकों में रस अभिव्यक्त हो जाता है। श्याम रंग-श्याम रस सर्वत्र भरपूर है। अखण्ड अनन्त अचिन्त्य परमानन्द सुधासिन्धु श्याम हैं और माधुर्य-सार सर्वस्व श्रीराधा। जहाँ-जहाँ आनन्दसिन्धु वहाँ-वहाँ माधुर्यसार सर्वस्व राधा-रानी। असीम अनन्त आनन्द और असीम अनन्त ही माधुर्य। कोई कमी तो है नहीं। उसी में हमारा प्रपञ्च है। यह प्रपञ्च यदि श्याम रंग में रंग गया तो बात बन गयी। श्रीराधारानी और उनकी सखीवृन्द, श्रीश्यामसुन्दर और उनके सखा-वृन्द अबीर-गुलाल की वर्षा करते हैं। उनके द्वारा प्रकृति, महत्, अहं, पञ्चतन्मात्र और षोडशविकार ये सभी रंग जाते हैं। जन-जन रंग जाता है। सम्पूर्ण जगत् ही रंग जाता है। जगत् का बाह्य रूप बाधित हो जाता है। ऐसे क्यों ?

श्रीराधारानी निरावरण माधुर्य-सार-सर्वस्व हैं। श्रीश्यामसुन्दर निरावरण परमानन्द सुधासिन्धु हैं। इनके हस्तारविन्द के संस्पर्श से रंग भी तद्रूप (निरावरण ब्रह्मरूप) ही हो जाता है। उसके योग से प्राणियों का मन भी निरावरण ब्रह्मरूप हो जाता है। इस प्रकार सरलता और सरसता पूर्वक ब्रह्मात्म-भावापत्ति हो जाती है।

इन सब दृष्टियों से विचार करने पर विदित होता है कि अति सुलभ में भी दुर्लभता की प्रतीति होती है। प्रिया के लिए प्रियतम और प्रियतम के लिए प्रियाजी (प्रियतमा श्रीराधारानी) अति सुलभ हैं, फिर भी लीला-विशेष के विकास के लिए, रस विशेष की अभिव्यक्ति के लिए, परस्पर अति दुर्लभ और समासक्त परिलक्षित होते हैं। इसलिये—

जेहिकर मनु रम जाहि जहँ तेहि तेहि सन काम ॥
(रामचरित मानस १. ८०)

'तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र सलग्नम् ॥

इनमें (श्रीराधाकृष्ण में) रति-अनुरक्ति-प्रीति नहीं है, तो समझो रोग है। अध्यात्मतत्त्वविदों के पास जाओ, चिकित्सा कराओ। जैसे 'क्षुधा-पिपासा लगनी ही चाहिए, प्यास नहीं लगती, भूख नहीं लगती तो रोग है' ऐसा समझकर चिकित्सा कराते हो, वैसे ही यदि संसार में रहकर, मन पाकर, बुद्धि पाकर,

इन्द्रिय पाकर, प्राण पाकर, प्रभु में अनुरक्ति नहीं, प्रीति नहीं, प्रभु सम्मिलन की चटपटी (चाह, चाव) नहीं तो समझो रोग है। जब इनके लिए मन व्याकुल हो जाय, मिले बिना रहा न जाय, तब अनन्त पुण्य-पुञ्जों का उदय मानना चाहिए। तभी प्रभु मिलते हैं।

'ठीक है, महाराज ? पर वह पुण्य कहाँ ढूँढ़ें ?'

वृन्दावन धाम की रज का स्पर्श करने से, यहाँ के रसिक भक्तों के पादारविन्द-रज-स्पर्श करने से, व्रज-रज को मस्तक पर लगाने से, भक्तों के दर्शन से, पुण्योदय मानना चाहिये। इन्हीं सब पुण्यों से लौल्य-व्याकुलता की प्राप्ति होती है। व्याकुलता मिली, मन में चटपटी हुई, तो फिर देर नहीं।

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम॥

* श्रीहरिः *

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

षष्ठ-पुष्प

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य ।
सद्योवशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि ।।

(राधासुधानिधि ३)

"जो ब्रह्मा, रुद्र, शुक, नारद, भीष्म द्वारा सहसा नहीं देखे जाते, उन 'श्रीकृष्ण' को तत्काल वश में करने वाले 'वशीकरण चूर्ण' के समान अनन्त शक्तियों वाली श्रीराधिकाजी की चरण-धूलि का मैं स्मरण करता हूँ ।"

१. प्रीति-रस-रीति की अद्भुत कहानी

श्रीराधासुधा-निधि में यह कहा गया है कि ब्रह्मा, रुद्र, शुक, नारद, भीष्मादि महामुनीन्द्र जो परम भागवत हैं, उनके लिए भी परम पुरुष सर्वेश्वर सर्वाधिष्ठान भगवान् 'श्रीकृष्ण सहसा आलक्षित नहीं होते । उन्हीं भगवान् को 'सद्यः'—तत्काल वश में कर लेनेवाला जो चूर्ण है, वह है, श्रीराधारानी के दिव्याति-दिव्य मङ्गलमय चरणारविन्द की रज । जो इस रज का सेवन करता है, परमेश्वर अपने आप उसके वश में हो जाते हैं । परमेश्वर के मिलने से विषमता खो जाती है । जो समता बड़ी अद्भुत वस्तु है, वह इस मार्ग से भी मिल जाती है ।

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः'

(भगवद्गीता ५. १९)

जो सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक भगवान् हैं, वे रस-रीति से अत्यन्त सुलभ-साधारण-से हो जाते हैं । कहते हैं—**'प्रेम देवता जिसको छू लेता है, वह कुछ-का-कुछ हो जाता है ।** अल्पज्ञ सर्वज्ञ हो जाता है और सर्वज्ञ

अल्पज्ञ हो जाता है। 'अल्पशक्तिमान्' सर्वशक्तिमान् हो जाता है, 'सर्वशक्तिमान्' अल्पशक्तिमान् हो जाता है। 'परिच्छिन्न' व्यापक हो जाता है. 'व्यापक' परिच्छिन्न हो जाता है। इस तरह, प्रेम देवता के स्पर्श से कुछ-का-कुछ हो जाता है। प्रेम रंग में रंगे हुए प्रेमी के लिए सम्पूर्ण संसार ही प्रेमास्पद प्रियतम हो जाता है।

२. उड़त गुलाल लाल भये अम्बर

यह जो होली होती है, इसमें रंग क्या है? जिसके द्वारा जगत् रंग जाता है। 'उड़त गुलाल लाल भये अम्बर' अम्बर माने आकाश। गुलाल के उड़ने से आकाश लाल हो गया। उपलक्षण है आकाश, इस सारे भौतिक प्रपञ्च का। इस भौतिक जगत् की भौतिकता मिट जाती है। इसमें ब्रह्मात्मकता का आविर्भाव होता है। राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी की आराधना करनेवाले उनका ध्यान करते हैं—

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुरत्
तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम्।
पाणिभ्यामलिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं
सौम्यां रत्नघटस्थ रक्तचरणां ध्यायेत्परामम्बिकाम्॥
(श्रीललितासहस्रनामावलिः, ध्यानश्लोकः)

अतिमधुरचापहस्तामपरिमितामोदबाणसौभाग्याम्।
अरुणामतिशयकरुणामभिनवकुलसुन्दरीं वन्दे॥
(श्रीललितात्रिशती ध्यानम् १)

'सिन्दूरारुणविग्रहां' सिन्दूर के समान अरुण-विग्रह है भगवती का। वह अरुणिमा क्या है? अतिशय करुणा। देवी आर्द्र हैं, **'आर्द्रां'** (श्रीसूक्त ३) कठोरता तो उनमें है ही नहीं। जीवों पर असीम करुणा है। उसी से हर समय आर्द्र हैं। **'तृप्तां तर्पयन्तीं'** (श्रीसूक्त ४), 'जो स्वयं तृप्त हैं और सबको तृप्त करती हैं।'

जो स्वयं तृप्त है, वही अन्यों को तृप्त कर सकता है।

जो परम तृप्त हैं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर का जिन्हें सन्निधान प्राप्त है जो अनन्त ब्रह्माण्डजननी ऐश्वर्य-माधुर्य की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी भगवती का भी सर्वोत्तमसार-सर्वस्व हैं, वही श्रीराधारानी हैं। सर्वेश्वर भी जिनके पादारविन्द रज की आराधना करते हैं, उनसे बढ़कर किसकी तृप्ति हो सकती है? उनका तर्पण होने पर सारे संसार का तर्पण हो जाता है।

'लौहित्यमस्य विमर्शः'

लौहित्य क्या है, विमर्श! भगवान् का स्वरूप माना है, **'अखण्ड-बोध'**। ऐसा बोध जो निर्विशेष है, जिसमें कोई विशेषण नहीं है। घटज्ञान, पटज्ञान तो

सविशेष ज्ञान है, विशेषण युक्त है। निर्विशेष कहाँ है ? अखण्ड-बोध में लौहित्य है विमर्श ! सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य परमात्मा तो हैं प्रकाशात्मक शिव, उनमें जो विमर्श आया वही है, लौहित्य। लौहित्य माने सविशेष ज्ञान, तत्तद्वस्तु-ज्ञान-प्रपञ्च-ज्ञान।

श्रीकृष्ण करुणावरुणालय हैं। उन्होंने जीवों को संसार में भेजा है। क्यों ? कर्मों के अनुसार फलोपभोग के लिए। माँ के हृदय में करुणा रहती है, यद्यपि कभी-कभी वह बालक के हाथ में खिलौना पकड़ाकर खेलने के लिए छोड़ देती है, दयार्द्र होकर उसका ध्यान फिर भी रखती है। समीप ही रहती है। ताकि बालक पर कभी अड़चन पड़े तो सीधे वह माँ की (उसकी) गोदी में आ जाय ! भगवान् ने जीवों को कर्मफलोपभोग के लिए संसार में भेजा अवश्य है, परन्तु अपने तक आने का अमोघ संबल दे कर भेजा है। वह है, 'प्रेम'। प्रेम हरेक प्राणी में है। ऐसा कोई जीव नहीं जिसमें प्रेम नहीं। बड़े-से-बड़े राक्षस में भी प्रेम होता है, अन्यत्र (अन्य के प्रति) न सही; किन्तु अपनी पत्नी में, अपने बच्चों में, अपने सुख में। प्रेम-विहीन संसार में कोई है ही नहीं। यदि जीव चाहे तो प्रभु में प्रेम कर प्रभु तक पहुँच सके।

जब यह सिद्ध है कि प्रेम-विहीन कोई है नहीं, तब प्रेम को जगत्कारण सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा मानना चाहिए। कारण ही कार्य में अनुस्यूत होता है। है कोई सुवर्णाभूषण जिसमें सुवर्ण अनुस्यूत न हो ? है काई मृद्घट, जिसमें मृत्तिका अनुस्यूत न हो ? है कोई जल-तरङ्ग, जिसमें जल अनुस्यूत न हो ? है कोई कार्य, जिसमें कारण (उपादान) अनुस्यूत न हो ? जो भी कार्य होगा, उसके भीतर-बाहर-मध्य में कारण अनुस्यूत होगा। 'प्रेम' जगत् कारण है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन प्रभु में प्रेमास्पदता है. प्रेमरूपता है; अतः कारण विधया प्रत्येक कार्य में वह अनुस्यूत है। अणु-अणु परमाणु-परमाणु में प्रेमतत्त्व विद्यमान है। एक परमाणु दूसरे परमाणु से स्नेह (प्रेम) विना कैसे मिले ? एक परमाणु जब दूसरे परमाणु से मिलता है तब स्नेह या प्रेम से ही मिलता है। पति-पत्नी, पिता-पुत्र सभी स्नेह (प्रेम) से ही जुड़े हैं। विना स्नेह के कोई किसी से जुड़ता है क्या ? सारा सम्बन्ध स्नेहमूलक है। सारा विश्व-प्रपञ्च स्नेह के आधार पर जुड़ा है। सारा संसार स्नेह का ही परिणाम-उल्लास-विलास-विकास है। स्नेह सबमें अनुस्यूत है।

प्रेम क्या है ? महानुभावों ने कहा है जिसमें सभी रस, सभी भाव, उन्मज्जित-निमज्जित हों, वह रस-सिन्धु ही 'प्रेम' है—

सर्वेरसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः॥

(चैतन्य चन्द्रोदय ३.८)

इस तरह प्राणिमात्र के पास प्रेम है। जब प्राणी को घबराहट हो तो इसी प्रेम का सहारा पकड़कर भगवान् के मङ्गलमय अङ्क में पहुँच जाना चाहिए।

देखो, प्रेम का अद्‌भुत प्रभाव। आज होली के दिन में जिनकी बड़ी-से-बड़ी आपस में दुश्मनी होती है, मिट जाती है। रंग प्रेम ही है। आज के दिन जब व्यक्ति घर से बाहर मिलने चलते हैं तो यह नहीं देखते कि यह गरीब है या अमीर? यह शत्रु है या मित्र? गरीब हो चाहे अमीर, शत्रु हो चाहे मित्र, सबसे बड़े प्रेम से गले लगाकर मिलते हैं। आज का दिन शत्रुता खोने का है। सबसे प्रेमपूर्वक मिलने का है। छूआछूत मानने वाले भी आज के दिन धर्मशास्त्र के अनु-सार चाण्डाल से मिलते हैं। बाद में नहा धो लें, जो कुछ करना हो करें? धर्म-शास्त्र में आज के दिन चाण्डाल-स्पर्श का विधान है। सारी भावनाओं को दूर करके अखण्ड ब्रह्मात्म-भाव की बात है।

राधा-कृष्ण-प्रिया-प्रियतम अनन्त ब्रह्माण्डनायक-सर्वेश्वर-सर्वशक्तिमान्-सर्वाधिष्ठान-आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र और उनकी आह्लादिनी शक्ति प्रेमात्मक हैं। वे ही सर्वरूपों में विलसित हो रहे हैं। प्रेमदेव ही भोक्ता-भोग्य और प्रेरयिता के रूप में प्रकट हो करके लीला कर रहा है।

श्रीकृष्ण के साथ ग्वाल-बाल और श्रीराधारानी के साथ उनकी सखि-वृन्द के रूप में प्रेम ही क्रीड़ा कर रहा है। श्यामसुन्दर के प्रेम में ही सारा अन्तः-करण, अन्तरात्मा रोम-रोम रंगा हुआ है। प्रेम जहाँ होता है, वहाँ कोई अन्तर नहीं होता। किसी प्रकार के भेद-भाव का अवकाश नहीं रहता। किसी प्रकार के भेद-भाव की कल्पना तक नहीं रहती। अग्नि सब जगह है, कोई काष्ठ ऐसा नहीं, जिसमें वह नहीं। हरेक काष्ठ में अग्नि है। काष्ठ में अग्नि प्रकट करने के लिए उस काष्ठ से सम्बन्ध जोड़ दो, जिसमें वह प्रज्वलित-प्रकट है। अव्यक्त अग्निवाले काष्ठ का व्यक्त अग्निवाले काष्ठ से सम्बन्ध जुड़ते ही उसमें भी अग्नि का प्राकट्य हो जाता है। श्यामसुन्दर और उनकी प्राणेश्वरी राधारानी में प्रेम प्रकट है।

अन्यत्र प्रेम, प्रेम का आश्रय और उसके विषय में भेद है। पर यहाँ नहीं। जो प्रेम है, वही उसका आश्रय है और वही उसका विषय है। ऐसी स्थिति में इन्होंने (प्रेमात्मक-प्रियतम श्रीराधा-माधव ने) जिसे छू दिया, वही शुद्ध प्रेम हो गया। रंग-रोली-अबीर—ये सब वस्तुएँ इनके स्पर्शमात्र से शुद्ध प्रेमरूप हो जाती हैं। ये सब सांसारिक पदार्थ भगवत्संस्पर्श मात्र से भगवत्स्वरूप हो जाते हैं। गन्धक को पारद से घोटें, तो कुछ काल के बाद गन्धक जैसे पारद (पारा)-रूप हो जाता है, वैसे ही पूर्ण के सम्बन्ध से अपूर्णवस्तु पूर्ण हो जाती है प्राकृत वस्तु अप्राकृत हो जाती है।

आप जानते हैं दुनियाँ में तृष्णा निन्दनीय है। कौन-सी तृष्णा? दुनियाँ

की तृष्णा। दुनियाँ की तृष्णा निन्दनीय होती है। पर, आपको यदि भगवत्-सम्मिलन की तृष्णा हो तो बड़ी उत्तम है, निन्दनीय नहीं है। भगवान् के मुखचन्द्र की तृष्णा, पादारविन्द-नखमणि-चन्द्रिका की तृष्णा, इतनी उत्तम है कि इसके ऊपर लाखों वैराग्य, लाखों ज्ञान को राई-नोन की तरह झोंक दें! इसके सामने इनका कोई अर्थ-महत्त्व नहीं। इसलिए यह तृष्णा बड़ी कीमती चीज है। बड़े भाग्य से मिलती है। इस तरह यहाँ तृष्णा के विषय का अद्भुत चमत्कार है कि जिसके योग से तृष्णा जो व्यक्ति को भवसागर में डुबोने-वाली वस्तु है, वह तारने-वाली बन जाती है। इसी प्रकार भगवत्संस्पृष्ट वस्तु की महिमा बढ़ जाती है। इसी दृष्टि से भगवद् धाम की अद्भुत महिमा है। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती लिखते हैं—

यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः
आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति ।।
(श्रीवृन्दावन महिमामृत शतक १७. ४३, ८३)

कोई चाहे पापी हो, पुण्यात्मा हो, देवता हो, राक्षस हो, वृन्दावन धाम में प्रविष्ट होकर के सद्यः (तत्काल) आनन्दघन हो जाता है, सद्घन हो जाता है, चिद्घन हो जाता है।

जैसे लवण की खान में जो भी वस्तु पड़ जाती है, थोड़े दिनों में वह लवण बन जाती है, वैसे ही वृन्दावन आनन्द की खान है, इसमें जो कोई प्रविष्ट होता है, वह तत्क्षण आनन्दघन हो जाता है। यह बात दूसरी है कि सभी व्यक्ति को उस आनन्दघनता की अनुभूति तत्काल नहीं हो पाती। अपने में आनन्दघनता के प्राकट्य को व्यक्ति तत्काल अनुभव नहीं कर पाता, ठीक वैसे ही जैसे आनन्द-घन श्रीकृष्ण को यशोदारानी आनन्दघन नहीं समझ पाती थीं। जैसे लौकिक माता अपने लौकिक-प्राकृत बालक को बाँध देती हैं, वैसे ही माँ यशोदा ने भगवान् श्रीकृष्ण को ओखली से बाँधा।

बबन्ध प्राकृतं यथा' (भागवत १०. ९. १४)

यशोदारानी को यह नहीं मालूम पड़ा कि मैं अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक को बाँध रही हूँ। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति ने भगवान् को बाँधने के उपक्रम को देखकर सोचा, 'अरे! हमारे देखते-देखते यह अज-अनन्त-अपरिच्छिन्न को बाँधेगी? हमारे प्रभु को ही बाँधेगी?'

इधर यशोदा ने हठ कर लिया—'कहाँ तक नहीं बँधेगा। आखिर हमारा लाला ही तो है? इसे बाँधकर रहूँगी।'

दोनों का टण्टा पड़ गया। दुनियाँ भर की रस्सी बटोरते-बटोरते बाँधने की कोशिश की, पर दो अंगुल छोटी-दो अंगुल कम।

'द्वयंगुलोनमभूत्तेन','तदपि द्वयंगुलं न्यूनं' (भागवत १०. ९. १५, १६) दो अंगुल कम क्या ? आचार्य लोग कहते हैं—

'भक्त का परिश्रम पूरा हो जाय और भगवान् की अनुकम्पा उछल जाय, तो दो अंगुल की कमी पूरी हो जाय ! भक्तजन-परिश्रम अभी पूरा नहीं हुआ और भगवदनुकम्पा का अभी आविर्भाव नहीं हुआ, यही बाँधने में देरी है।

तो बाँधते-बाँधते नन्दरानी थक गयीं। हाँफने लगीं, गर्म-गर्म श्वास श्यामसुन्दर के श्रीअङ्ग में लगा और मैया के माथे की पसीना की बूँद भी श्रीअङ्ग पर पड़ी। भक्तजन-परिश्रम पूरा हो गया। भगवान् का ध्यान गया, 'माँ का परिश्रम पूरा हो गया।', अनुकम्पा प्रकट हो गयी। दो अंगुल की कमी पूरी हो गयी। जैसे साधारण बालक को उसकी माँ बाँध देती है, वैसे ही अनन्त-अखण्ड अपरिच्छिन्न श्यामसुन्दर को माँ यशोदा ने बाँध दिया।

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत्स्वबन्धने ॥

(भागवत १०. ६. १८)

अत्र परिश्रममिति कृपयेत्येताभ्यां द्वयङ्गुलन्यूनतासमाहिता भक्तनिष्ठा-भजनोत्था श्रान्तिस्तद्दर्शनोत्था स्वनिष्ठा कृपाचेति द्वाभ्यामेव भगवान् बद्धो भवेत् ते द्वे यावन्नाभूतां तावदेव द्वयंगुलन्यूनता आसीत् तयोरुद्भूतयोस्तु बद्धोऽभूदिति प्रेम्णा स्वबन्धनप्रकारः स्वमातरि स्वयमुदाहृतो भगवतेति ज्ञेयम् ॥

(श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिकृत सारार्थदर्शिनी, भा० १०. ६. १८)

इस तरह वृन्दावन की दिव्यता, यहाँ के निवासियों की दिव्यता मालूम नहीं पड़ती। सिद्धान्त यह है कि श्रीवृन्दावन धाम के आकाश, वायु, सूर्य, चन्द, तारा, ये सब प्राकृत नहीं, अलग (विलक्षण) हैं। इसी तरह, श्रीकृष्ण भी प्राकृता से अलग हैं। जो वृन्दावन धाम में प्रविष्ट हो गये वे भी प्राकृत नहीं रह गये, दिव्य आनन्दघन हो गये। केवल प्राकट्य में देर है। जब उसका (सच्चिदानन्दरूपता का) प्राकट्य होगा, तब आनन्द-सत्-चित् -घनता जगमगा उठेगी।

अवधूत गीता में लिखा है—

न हि मोक्षपदं नहि बन्धपदं नहि पुण्यपदं न हि पापपदम् ।
न हि पूर्णपदं न हि रिक्तपदं किमु रोदसि मानस सर्वसमम् ॥

(अवधूतगीता ५. १९)

"मोक्षपद नहीं है और बन्धपद भी नहीं है, पुण्यपद नहीं है और पापपद भी नहीं है, इसलिये हे मन ! तू रुदन क्यों करता है, यह सब सम है॥"

न बन्ध है, न मोक्ष है, न पुण्य है, न पाप है। एकमात्र अनन्त-अखण्ड-

निर्विकार-पूर्णतम पुरुषोत्तम और उनका वह अखण्ड प्रेम है। इससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जब तक उसका (भगवत्-तत्त्व का) प्राकट्य नहीं होता, तब तक सब प्राकृत-जैसा है। उसी के प्राकट्य के लिए महायज्ञों-यज्ञों का अनुष्ठान, अङ्गन्यास करन्यास, भूत-शुद्धि-भूशुद्धि, षडध्व-शोधन,[२३] नामजप गङ्गा-यमुना-स्नान, श्रीवृन्दावनधाम में निवास, रसिक सन्तों का सम्पर्क, सत्सङ्ग आदि का आलम्बन है। श्रीराधा-कृष्ण-आनन्द-स्वरूप हैं! इनमें आनन्द का पूर्ण प्राकट्यहै। इनके संस्पर्श की देर है। इनके स्पर्श से सब चिन्मय हो जाता है। चिन्मय के स्पर्श से सब में चिन्ययता आती है। ब्रह्मात्मता आती है। सारा प्रपञ्च चिन्मय हो जाता है। उसकी लौकिकता, प्राकृतता, भौतिकता बाधित हो जाती है। उसमें अलौकिकता अप्राकृतता और अभौतिकता का आविभाव हो जाता है। अनन्तता अखण्डता-ब्रह्मात्मता-रसात्मकता का आविर्भाव होता है। यही होली की लीला का रहस्य है।

३. 'प्रीति' आनन्दसिन्धु में भवभीति को दूर करने की अद्‌भुत रसरीति

अज्ञान के कारण ही सारा संसार 'संसार' बना हुआ है। ज्ञान से सारा संसार ब्रह्म हो जाता है। राधावल्लभीय सिद्धान्तों में भी कई जगह ऐसा आता है कि आनन्दसिन्धु में भवसिन्धु की कल्पना हो रही है। हमारे यहाँ आनन्दसिन्धु में भवसिन्धु का विभ्रम है। आनन्दसिन्धु का साक्षात्कार होने पर भवसिन्धु का पता ही नहीं चलता। इस दृष्टि से विचार करने पर आनन्दसिन्धु का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी दृष्टि से सारा विश्व प्रेम के रंग में रंग जाय! अन्तःकरण-अन्तरात्मा, अणु-अणु, परमाणु-परमाणु, सब कुछ प्रेम के रंग में रंग जाय तो वस्तुओं का अलग से अस्तित्व (सत्ता) खतम हो जाय। ब्रह्मातिरिक्त और कुछ न रह जाय? **'जित देखूँ तित श्याममयी है'**, 'जिधर देखता हूँ, उधर श्याम-ही-श्याम है', यह स्थिति चरितार्थ हो जाय!

लोग कहते हैं—सफेद, काली, हरी, लाल सभी प्रकार की वस्तुएँ हैं। लेकिन जिस भक्त का हृदय श्यामरङ्ग में रङ्ग गया, वह कहता है, 'सब कुछ श्याम-ही-श्याम है। श्याम के अतिरिक्त दूसरी वस्तु है ही नहीं।'

मतलब क्या है—अन्तःकरण लाक्षा (लाख) के समान कठोर द्रव्य है। वह तापक द्रव्य के योग से कोमल या द्रवीभूत होता है। जैसे द्रवीभूत लाक्षा में निःक्षिप्त हिंगुल, हरिद्रा आदिरङ्ग स्थायी-भाव को प्राप्त होता है, वैसे ही द्रवी-

---

२३. अध्वषट्कं सञ्चित्य—(१) कलाध्वानं शोधयामि, (२) तत्त्वाध्वानं शोधयामि, (३) भुवनाध्वानं शोधयामि, (४) वर्णाध्वानं शोधयामि, (५) पदाध्वानं शोधयामि, (६) मन्त्राध्वानं शोधयामि।

(ग्रन्थकारकृत श्रीविद्यारत्नाकरः, पूर्णाभिषेकः पृ० ३४२)

भूत अन्तःकरण पर अभिव्यक्त भगवान् ही 'भक्ति' कहे जाते हैं। भगवान् के गुण-गण श्रवण से चरित्रनायक पूर्णतम प्रभु का स्वरूप प्रकट होता है। पुनश्च उनके प्रति स्नेहादि प्रादुर्भूत होता है। स्नेहादि से चित्त में द्रवता होती है। स्नेहास्पद पदार्थ का उसमें संस्कार उत्पन्न होता है। अतएव पुनः-पुनः उसका स्मरण होता है। उपेक्षणीय वस्तु के संस्कार नहीं होते। उसका कारण यही है कि राग के आस्पद या द्वेष के आस्पद पदार्थ को ग्रहण करता हुआ, चित्तरागादि से द्रवीभूत होता है।

इसीलिए उसके संस्कार हो जाते हैं। उपेक्षणीय वस्तु के ग्रहण के समय में चित्त द्रवीभूत नहीं होता, क्योंकि वह तापकभाव नहीं है। प्रेमी कहते हैं कि भगवान् के उत्कट स्नेह से चित्त को इतना द्रुत करें कि वह गङ्गाजल के समान निर्मल, कोमल तथा द्रवीभूत हो जाय? तब उसमें भगवान् का स्थायी-रूप से प्राकट्य होता है।

अर्थात् भगवान् के गुणों के श्रवण से भगवान् में द्रवीभूत चित्त की वृत्तियों का ऐसा प्रवाह चलता है, जैसा कोमल-निर्मल-द्रवीभूत-गङ्गाजल का प्रवाह समुद्र की ओर चलता है। जिस समय द्रवीभूत चित्त में पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु का प्राकट्य होता है, उस समय ही स्थिर भक्ति कही जाती है। जैसे लाख की टिकिया पर मुहर का अक्षर अंकित करने के लिए भी अग्नि के सम्बन्ध से उसे कुछ कोमल किया जाता है, क्योंकि कठोर लाख पर मुहरके अक्षर अंकित नहीं होते, वैसे ही कठोर अद्रुत चित्त पर भगवान् के स्वरूप-चरित्र-गुण तथा अन्यान्य सदुपदेश अंकित नहीं होते।

गङ्गाजल के समान कोमल, द्रवीभूत अन्तःकरण में भगवान् का प्राकट्य होने से फिर भगवान् भी निकलने में समर्थ नहीं होते। जैसे रङ्ग भी चाहे तो भी लाक्षा से वियुक्त नहीं हो सकता, वैसे ही यदि भगवान् भी चाहें तो वे भक्त के द्रवीभूत चित्त से निकल नहीं सकते। जैसे लाक्षा भी चाहे तो रङ्ग से वियुक्त नहीं हो सकता, वैसे भक्त भी यदि चाहे तो भी भगवान् से वियुक्त नहीं हो सकता।

श्याम रंग में रंगा हुआ अन्तःकरण जब आँखों के द्वारा निकल कर रूप-दर्शन करता है, तब वह श्यामसुन्दर के श्याम रंग में ही रूप को रंग देता है; फलतः श्याम रंग का ही उसे दर्शन होता है। कानों से जब निकलकर अन्तःकरण शब्द-श्रवण करता है, तब वह श्याम रंग में ही शब्द को रंग देता है; फलतः श्याम शब्द का ही उसे श्रवण होता है। तात्पर्य यह है कि श्याम रंग में रंगा हुआ मन तत्तद्-इन्द्रिय का रूप धारण कर तत्तद्-विषय को श्याम-रूप ही बना देता है। ऐसी स्थिति में श्याम के अतिरिक्त भक्त न तो कुछ देखता है, न सुनता है और न कुछ जानता ही है। कैसे? जैसे कि लाल बल्ब (शीशा) के योग से

लाल प्रकाश की अभिव्यक्ति होती है और मकान का सारा पदार्थ लाल ही दिखाई देता है। नियम यह है कि प्रकाशक प्रकाश्य को प्रकाशन करता हुआ अपने रंग का ही प्रकाशन करता है। अगर लाल रंग वाला प्रकाश है तो वह घट-पटादि सब वस्तुओं को अपने रंग में लाल ही दिखाता है। इसी रीति से यदि हमारा मन श्यामसुन्दर के रंग में रंग गया तो सारा जगत् श्यामरूप में ही हमारे प्रति स्फुरित होता है। ऐसा अन्तःकरण जिस वस्तु का स्पर्श करेगा, उसको श्याम ही बना देगा। फिर तो ऐसा ही अनुभव होगा कि दूसरा रूप नहीं, दूसरा गन्ध नहीं, दूसरा रस नहीं, श्याम रूप, श्याम गन्ध, श्याम रस ही सर्वत्र है। श्याम की दिव्य छटा ही सर्वत्र परिलक्षित होती है। श्यामभाव से भावित चित्त हो जाय तो दिन-रात श्याम का ही चिन्तन हो! सचमुच में यह बड़ी ऊँची स्थिति है।

४. 'वशीकरण' श्रीराधारानी की चरण-रेणु

तो अस्तु! मूल प्रसंग पर आ जाँय! **'सद्योवशीकरण चूर्णमनन्त शक्तिम्'** (राधासुधानिधि), श्रीराधारानी के चरण-कमलों में जो धूलि है, वह श्यामसुन्दर को वश में करने वाली है। भला, वह धूलि कौन-सी है? कह सकते हैं कि व्रज-रज है। लेकिन इस व्रज के रज में अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग रूप से भेद है। आप यहाँ देखते हैं, करील का वृक्ष है। उसमें काँटे हैं। यहाँ का जल भी खारा है। गर्मी के दिनों में गर्म-गर्म हवा बहती है। बहिरङ्ग दृष्टि से ऐसा अनुभव होता है। अन्तरङ्ग-स्थिति कुछ और ही है। किसी ने प्रियाजी से कहा—'इस शिखर पर चढ़ जाओ तो तुम्हारे प्राणनाथ प्रियतम श्यामसुन्दर का तुम्हें दर्शन हो जाय!'

दोपहर का समय, गर्मी के दिन। बारह बजे, एक बजे, डेढ़ बजे, कितनी गर्मी होती है? लेकिन प्रेम में गर्मी की प्रतीति कहाँ? प्रियाजी प्राणनाथ मदन-मोहन के दर्शन करने के लिए निरावरण पाद-पद्मों से चढ़ गयीं। कमल से भी कोटि गुणित सुकोमल उनका चरणारविन्द है। कमल की कोमल पंखुड़ियों के गड़ने का डर रहता है। पङ्कज-पराग कितना कोमल होता है? वह भी जिनके चरणारविन्द में चुभता है, वही श्रीराधारानी कोमल चरणारविन्दों से पर्वत पर चढ़ी जा रही हैं। शिखर पर पहुँच जाती हैं। पर्वत-शिखर भी सूर्यकान्त मणि का। जो सूर्य की रश्मियों से अग्नि के रूप में प्रज्वलित होता है। उस अग्नि तुल्य शिखर पर श्रीजी के चरणारविन्द विराजमान हैं। उनको लगता है, मानो बड़ा ही शीतल, सुकोमल कमल है। शिखर की तिग्मता कुछ भी प्रतीत नहीं होती। उनको तो वह कोई अद्भुत-दिव्य कमल मालूम पड़ता है। उसी पर विराजमान होकर श्यामसुन्दर के मुखचन्द्र की आभा-प्रभा का दर्शन कर रहीं हैं।

वस्तु स्थिति यह है कि जहाँ-जहाँ प्रियाजी के पादारविन्द का विन्यास होता है, वहीं(वहाँ-वहाँ ही)'वृन्दा' भगवती अपना हृदय-कमल प्रफुल्लित कर देती

हैं। श्रीवृन्दा के प्रफुल्लित हृत्पद्म पर ही श्रीराधारानी के चरण-कमल का विन्यास होता है। श्रीवृन्दादेवी का जो हृदय-कमल है, उसमें जो दिव्य मकरन्द युक्त पराग है, वही श्रीराधारानी के चरण में लिप्त है। उसी चरणरज में श्रीमधुसूदन को तत्काल वश में करने की अद्भुत शक्ति है। श्रीराधारानी के चरणों में कोई इधर-उधर की ऐसी-वैसी 'धूलि' नहीं है। भक्तों के हृदयरूपी कमल प्रफुल्लित होने पर श्रीराधारानी के पादारविन्द व्यक्त होते हैं। इतना ही नहीं, भक्तों के प्राणनाथ प्रियतम श्यामसुन्दर मदनमोहन का हृदय वहीं प्रफुल्लित होता है, जहाँ श्रीराधारानी के चरणारविन्द का विन्यास होता है। अर्थात् श्यामसुन्दर स्वयं अपने हृदय-कमल को तभी तहाँ प्रफुल्लित कर देते हैं, जभी जहाँ श्रीराधारानी अपने चरण-कमल का विन्यास करना चाहती हैं। इसलिए श्रीजी के चरणों में कोई सामान्य धूलि नहीं।

इस तरह श्रीश्यामसुन्दर के हृदय-कमल का पराग ही जब श्रीजी के चरणों में लिप्त होकर सुशोभित होता है तब उसमें स्वयं श्यामसुन्दर को वश में करने की अद्भुत चमत्कृति आ जाती है अथवा जब भक्तों के हृदय-कमल का पराग श्रीराधारानी के दिव्यातिदिव्य चरण-संलग्न होता है, तब उसमें श्यामसुन्दर को वश में करने की अद्भुत चमत्कृति आ जाती है। इसलिए पंकज-पराग रूप धूलि—श्रीराधा-चरण-रेणु के सामने झख मारती है। पंकज-पराग की धूलि से भी अनन्त कोटिगुणित दिव्य चमत्कृति श्रीजी की पद धूलि में है।

यह 'धूलि' क्या है? प्रेम-सार-सर्वस्व ही है। श्रीवृन्दा का 'हृत्पद्म-पराग' मानें तो भी प्रेम-सार-सर्वस्व है और श्रीश्यामसुन्दर के हृदयरूपी पद्म का पराग मानें तब तो प्रभु रूप ही है। 'वृन्दा' कौन है? भक्ति की अधिष्ठात्री। जिसके पीछे परात्पर प्रभु 'विष्णु' पागल हैं। यहीं से तो पता चलता है कि प्रभु प्रेम के गोचर (विषय) ही नहीं, प्रेम के आश्रय भी हैं। प्रेम के आश्रय हैं, अर्थात् प्रेम करते भी हैं। ऐसा प्रेम करना जानते हैं कि वाह, दूसरा कौन करेगा? तभी तो यहाँ के रसिक कहते हैं—**'प्रीति की रीति रंगीलो ही जानें'** और गोस्वामीजी कहते हैं—**'जानत प्रीति रीति रघुराई'** (विनय०) प्रीति की रीति प्रभु ही जानते हैं और कोई जानता ही नहीं। ऐसी प्रीति करते हैं कि वृन्दा के पीछे पागल हो जाते हैं। जालन्धर की पत्नी बनी वृन्दा। उस असुर की पत्नी के पीछे पागल हो गये विष्णु। कौन विष्णु? जिन सर्वेश्वर-सर्वाधिष्ठान को पाने के लिए योगीन्द्र-मुनीन्द्र निरन्तर व्याकुल रहते हैं। श्रुतियाँ जिनका निरन्तर अन्वेषण करती रहती हैं।

याज्ञिक विप्र वाजपेय, ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के द्वारा जिनकी आराधना करते हैं। बुलाते हुए कहते हैं—'हे अशरण शरण? अकारण-करुण-करुणावरुणालय? एक क्षण के लिए हमारे यज्ञ में पधारो?' पर जिनका पता नहीं लगता!

पर ग्वालों के गोबर-गोमूत्र से व्याप्त प्राङ्गण में आप विहार करते हैं। विप्रों के बड़े-बड़े यज्ञों में जाने में शरमाते हैं। गोपालों की बात ही क्या, इनके बछड़े आपको बुलाते हैं तो आप बोल पड़ते हैं। बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द शिखरिणी आदि छन्दों से आपकी स्तुति करते हैं। पर आप एक मौन नहीं, हजार मौन साधकर बैठे रहते हैं, एक बार भी 'हाँ, हूँ' कुछ नहीं बोलते। तभी तो भक्त बड़ी अटपटी बात कहने जा रहा है—

हे प्रभो ! गोकुल की छिनार पुंश्चली औरतें हैं, उनका आप दास बनते हैं, लेकिन बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र-अमलात्मा-परमहंस जो जितेन्द्रिय हैं, जिन्होंने अपना अन्तःकरण पूर्ण नियन्त्रित कर रखा है, वे आपसे प्रार्थना करते हैं—'प्रभो ! मेरे स्वामी बन जाओ', वे आपको स्वामी बनाने को ललचाते रहते हैं, पर आप उनके स्वामी बनने को तैयार नहीं। आखिर ऐसा क्यों ? प्रेम की महिमा व्यक्त करने के लिए—

गोपालाजिर कर्दमे विहरसे विप्राध्वरे लज्जसे
ब्रूषे गोधन हुंकृतैः स्तुतिशतैर्मौनं विधत्से सताम् ।
दास्यं गोकुल पुंश्चलीषुकुरुषे स्वाम्यं न दान्तात्मसु
ज्ञातं कृष्ण तवांघ्रि पङ्कजयुगं प्रेमाचलं मञ्जुलम् ॥

(श्रीकृष्ण कर्णामृत २. ८३)

जालन्धर नामक दैत्य की पत्नी 'वृन्दा' बड़ी पतिव्रता थी। जालन्धर और शिवजी का युद्ध हो रहा था। जालन्धर मरता नहीं था। क्यों नहीं मरता था ? वृन्दा का पातिव्रत-धर्म (पातिव्रत्य) उसकी रक्षा करता था। पत्नी का पातिव्रत-धर्म पति को मरने नहीं देता था। वृन्दा का पातिव्रत जालन्धर का कवच बना हुआ था। शत्रु को मारने के लिए कवच तोड़ना पड़ता है। विना कवच तोड़े शत्रु को मारा जा सकता नहीं। अधर्म की रक्षा में धर्म जहाँ कवच बन रहा हो, वहाँ धर्म को ध्वंस करना ही पड़ता है। भगवान् विष्णु जालन्धर बन गये। वृन्दा वश में आ गयी। उसने यही समझा कि ये हमारे पति हैं। प्रभु ने छलकर देवताओं का काम बना लिया।

छलकरि टारेउ तासु व्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह ।
जब तेहि जानेउ मरम तब साप कोप करि दीन्ह ॥

(रामचरित मानस १. १२३)

कहते हैं—'भगवान् ने बड़ा दोष वाला काम किया। पतिव्रता का धर्म भ्रष्ट किया।'

भाई ! अन्ततोगत्वा पातिव्रत का उद्देश्य क्या है ? 'ब्रह्म' की प्राप्ति, यही न ? शालग्राम की पूजा इसलिए करते हैं कि विष्णु मिल जाँय। लौकिक

पति क्या है ? मुख्य पति भगवान् की प्रतिमा। मुख्य पति सबके भगवान् ही हैं। लेकिन उस मुख्य पति को पाने के लिए पहले लौकिक पति की पूजा करनी चाहिए। कन्यादान के समय पिता संकल्प करता है।

'इमां लक्ष्मी रूपां कन्यां विष्णुरूपाय वराय तुभ्यमहं सम्प्रददे'

'इस लक्ष्मी रूपा कन्या को तुझ विष्णु रूप वर के लिए प्रदान कर रहे हैं।' तो वर विष्णु की प्रतिमा है। उसकी पूजा करते-करते पतिव्रता नारी अन्त में परम पति परमेश्वर विष्णु को प्राप्त हो जाती है। इस तरह पातिव्रत धर्म से जिस विष्णु को पाना है (प्राप्त किया जाता है), वह विष्णु (उस विष्णु ने) छल कर स्वयं ही वृन्दा को प्राप्त कर लिया। वृन्दा से सम्बन्ध जोड़ा। तो वृन्दा को इससे आगे क्या चाहिए था ? लेकिन पगली थी, वृन्दा। उसको सन्तोष नहीं हुआ। बोली—तुमने मेरा पातिव्रत भङ्ग किया, जाओ तुम पत्थर बन जाओ !' भगवान् को शाप खराब नहीं लगा। पत्थर बन गये। भगवान् ने कहा—'ठीक है ! हम पत्थर बनेंगे और तुम तुलसी बनकर हमारे सिर पर चढ़ी रहोगी। एक क्षण के लिए भी वियुक्त नहीं होवोगी।', विना तुलसी के शालग्राम की पूजा नहीं होती—

'छप्पन भोग छत्तीसो व्यञ्जन।
विनु तुलसी हरि एक न मानी ॥'

हजार भोग हो, विना तुलसी के प्रभु उसे वरण नहीं करते। एक भी नहीं गिनते। तो इसलिए कहते हैं—

आठो पहर चौसठों घड़ी, ठाकुर ऊपर ठकुराइन चढ़ी।

खैर। यह तो बात खराब नहीं, पर अगली बात खराब है। ऐसे प्रेमी विष्णु की उपेक्षा करके वृन्दा असुर पति जालन्धर के साथ जलकर भस्म हो गयी। अर्थात् सती हो गयी। किसी समझदार पुरुष के लिए यह तो बहुत ठेस लगने योग्य बात हुई। लेकिन भगवान् विष्णु तो प्रेम में पागल हो रहे थे। उन्हें कुछ सुध-बुध नहीं। 'भले वृन्दा पति के साथ सती हो जाय, भले वह मुझ में प्रेम न करके अपने पति में ही करे, कोई चिन्ता नहीं। मैं तो वृन्दा को चाहता हूँ।'

वृन्दा राख हो गयी। लेकिन विष्णु तो उसकी चिता में लोट रहे थे। तब भगवान् भूतनाथ आये। उन्होंने समझाया—'आप अनन्त ब्रह्माण्डनायक हैं। सर्वेश्वर होकर यह क्या कर रहे हैं ? किसी तरह से बड़ी मुश्किल से उठाया।'

यह है, प्रेम की पराकाष्ठा, जहाँ मान-अपमान का कुछ भी ध्यान नहीं। मान-अपमान का ध्यान हो तो प्रेम ही क्या ? चातक माँगता है पानी. पर बादल बदले में ओले बरसाता है।

जैसे अग्नि में स्वर्ण तपाया जाता है तो उसकी कीमत, स्वच्छता, निर्मलता व्यक्त होती है; वैसे ही प्रेमी जितना-जितना अपमानित होता है, उतना-उतना ही उसका प्रेमनिखरता जाता है। लोग वृन्दा के सतीत्व अपहरण की कथा को बड़ी बीभत्स कहते हैं। हम कहते हैं, 'इस कथा से बढ़कर और कोई कथा है ही नहीं। यहाँ विशुद्ध अनुराग की बात है। यहाँ मान-अपमान की चिन्ता नहीं। यहाँ प्रभु स्वयं प्रेम करने वाले प्रेमाश्रय बनते हैं।'

इस तरह से भाई! प्रेम करना भगवान् को ही आता है। वही प्रेम के सर्वस्व हैं। वृन्दा भी जैसे बाहर से कठोर लगती थी, वस्तुतः वैसी नहीं थी। भगवान् की परम भक्ता थी। परम अनुरागिणी थी। तभी उसे भगवान् की इस अद्भुत रीति से प्राप्ति हुई। जन्म-जन्मान्तरों तक उसने भगवत्प्राप्ति के लिए पुण्य किया था।

वृन्दा भक्ति-प्रेम की अधिष्ठात्री देवी है। जहाँ-जहाँ भगवान् के चरणारविन्द का विन्यास होता है, वहाँ-वहाँ उसका हृदय प्रफुल्लित होता है। 'वृन्दा' के प्रफुल्लित हृदय-पद्म पर ही प्रभु का पादविन्यास होता है। साथ-ही-साथ यह भी याद रखो कि श्रीराधारानी का जहाँ पादविन्यास होता है, वहाँ श्रीश्यामसुन्दर का हृदयारविन्द प्रफुल्लित होता है। श्रीश्यामसुन्दर के प्रफुल्लित हृदयारविन्द पर ही श्रीराधारानी का पाद-विन्यास होता है।

इस दृष्टि से चाहे वृन्दा का हृदय पंकज पराग हो, चाहे श्यामसुन्दर का हृदय-पंकज पराग हो, श्रीराधा-चरणरेणु, कितनी ऊँची वस्तु होगी! श्यामसुन्दर उसके वशीभूत हों, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। 'श्रीकृष्ण' भक्ति के पराधीन होते ही हैं। वृन्दा पर ही प्रभु जब लट्टू हैं, तब उसका हृदय-पंकज-पराग पाद-संलग्न होने पर श्यामसुन्दर को वशमें कर ले, यह तो स्वाभाविक स्थिति है। इसी तरह, श्रीजी की सेवा में प्रयुक्त निज हृदय-पंकज-पराग श्यामसुन्दर के लिये धन्यातिधन्य मान्य है ही, उसमें भी श्यामसुन्दर को वश में करने का अद्भुत चमत्कार है। एक प्रकार का छू-मन्त्र है।

किसी भक्त ने श्रीराधारानी की चरण-रज का ध्यान किया। ब्रज की धूलि उठाकर अपने मस्तक पर रखा। उस धूल संश्लिष्ट भक्त पर श्रीजी द्रवीभूत हो गयीं। ब्रजरज को यह महिमा जानकर श्यामसुन्दर ने इसे एक दिन अपने ऊपर डाल लिया। सद्यः—'तत्काल' श्यामसुन्दर का अङ्ग-अङ्ग रोमाञ्चकण्टकित हो गया, आनन्दाश्रु से परिपूर्ण हो गया। सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायकता को भूल गये। हृदय गद्-गद् हो गया। इस रज का अद्भुत चमत्कार प्रभु को प्रत्यक्ष दीखा।

ऐसा भी है। भगवान् ने सोचा कि "मैंने प्रतिज्ञा की है, **'ये यथा मां**

प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भगवद्गीता ४.११), 'जो मुझको जैसे भजते हैं हम भी उनको वैसे ही भजते हैं।', पर हम वैसा भज नहीं पा रहे हैं। गोपाङ्गना तो आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति, लोक, परलोक, सब समर्पण कर हमारा भजन करती हैं। ऐसा हमको भी समर्पण करना चाहिए—उसी प्रकार हमें भी गोपाङ्गनाओं का भजन करना चाहिए। पर क्या करें! सर्वज्ञता परेशान करती है। सभी वस्तुओं का ध्यान रखना पड़ता है। सभी वस्तुओं का ध्यान न हो तो सर्वज्ञता कैसी! जब सभी वस्तुओं का ध्यान रखना है, तो किसी एक का ही चिन्तन कैसे बन सकता है? भक्त भक्ति पूर्वक मेरा भजन करता है। सर्व विस्मरणपूर्वक एकमात्र भजनीय का चिन्तन 'भक्ति' है। ऐसी भक्ति भक्तों से ही बन पाती है। मुझसे नहीं बन पाती। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता मेरी बुद्धि में जगमगाती रहती है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का कण-कण मेरी बुद्धि में जगमगाता रहता है। फिर एक का ही चिन्तन मुझसे कैसे बन पायेगा! तो हम इन गोपाङ्गनाओं के समान नहीं बन पायेंगे। ये जिस प्रकार सर्व विस्मरणपूर्वक मेरा ही चिन्तन करती हैं, हम उस प्रकार इनका चिन्तन कैसे कर पायेंगे! इसलिए हमारी प्रतिज्ञा की पूर्ति में सबसे बड़ी बाधा है, 'सर्वज्ञता', इससे पिण्ड छुड़ाना आवश्यक है।"

भगवान् ने ललिताजी से कहा—"सर्वज्ञता को मिटाने के लिए कोई इन्तजाम करो।", ललिताजी ने उसी समय श्रीराधारानी के चरणारविन्द से रज उठाया और श्रीकृष्ण पर छोड़ दिया। फिर तो श्रीकृष्ण अनन्य भाव से श्रीराधारानी का चिन्तन-ध्यान करने लगे—

श्रीराधामेवजानन्मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते।
(राधासुधानिधि २३५)

५. श्रीराधारानी के वशीभूत श्रीकृष्णचन्द्र में तत्सुखसुखित्व की पराकाष्ठा

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का उत्पादन, पालन, संहरण, सब कुछ भूल गये। नारदादि भक्तों से, दामादि सखाओं से और नन्द-यशोदा से भी मिलना दूर हो गया।

यद्यपि श्रीकृष्ण राधारानी के स्वामी हैं—पति हैं, सर्वेश्वर हैं। पति का अधिकार होता है, पत्नी पर नियन्त्रण करने का। फिर भी भगवान् में श्रीराधा के प्रति तत्सुखसुखित्व की पराकाष्ठा है। इसीलिए सर्वेश्वरता को भुलाकर श्रीराधारानी की आराधना में सदा तत्पर रहते हैं। तभी तो 'योगीन्द्र दुर्गम गतिः' में योगीन्द्र का एक अर्थ 'भोगीन्द्र' भी किया है। इन्द्रादि भोगीन्द्र हैं। कल्पतरु, कामधेनु, नन्दनवन, चिन्तामणि, रम्भा, तिलोत्तमादि अपसराएँ—ये सब भोग की दिव्यातिदिव्य सामग्री इन्द्र के पास है। लेकिन इन्द्राणी और अप्सरादि

में इन्द्र का अनुराग-'स्वसुखसुखित्व' की भावना से है, 'तत्सुखसुखित्व' की भावना से नहीं। अपने सुख में सुखी होने की भावना इन्द्र में है। योगीन्द्र स्वार्थ परायण होते हैं। अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए नायिका में अनुराग करते हैं। ये योगीन्द्र लोग भगवान् श्रीकृष्ण की भोगस्थिति को जब देखते हैं, तो इन्हें आश्चर्य होता है।

सुना है न ! नर-नारायण भगवान् तप करने लगे। इन्द्र ने कामदेव-वसन्त आदि के साथ अप्सराओं को उनके आश्रम में विघ्न करने के लिए भेजा। ये सब भगवान् के आश्रम में पहुँचे। सब जान लिया। जानकर भी किसी पर क्रोध नहीं किया। काम, वसन्त, अप्सराओं—इन सब का पाद्यादि से पूजन किया। वसन्त आदि प्रभु के इस व्यवहार को देखकर पानी-पानी हो गये। बड़े लज्जित हुए। लोक में देखा जाता है कि काम को क्रोध से नष्ट कर दिया जाता है। कोई बड़ा कामी हो, उसे क्रोध आ जाय तो काम का प्रभाव नष्ट हो जाता है। इस तरह रोष की दृष्टि से काम को लोग जला डालते हैं; लेकिन वे उस रोष को दूर नहीं कर पाते। रोष उनको जलाता रहता है। वह दुःसह क्रोध नर-नारायण के भीतर प्रविष्ट नहीं कर पाया। अप्सराओं ने, काम ने, वसन्त ने अपकार किया; लेकिन प्रभु ने इनका भी सत्कार किया। कितनी ऊँची महिमा है ! जिनके भीतर रोष प्रविष्ट करते हुए डरता है, काम उनके मन में कैसे आवेगा ?

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम् ।
सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत ।।
(भागवत २. ७. ७)

"कुछ महानुभाव अपनी क्रोधभरी दृष्टि से काम को जला देते हैं; परन्तु अपने आपको जलाने वाले असह्य क्रोध को वे नहीं जला पाते। वही क्रोध नर-नारायण के निर्मल हृदय में प्रवेश करने से पहले ही भय के मारे काँप जाता है। फिर भला उनके हृदय में काम का प्रवेश तो हो ही कैसे सकता है ?"

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुत जैह्व्यशैश्न्या
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित् ।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति ।।
(भागवत ११. ४. ११)

"बहुत लोग तो ऐसे होते हैं, जो भूख-प्यास-सर्दी-गर्मी एवं आँधी-पानी के कष्टों को तथा रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय के वेगों को जो अपार समुद्रों के

समान हैं, सह लेते हैं—पार कर जाते हैं; फिर भी वे उस क्रोध के वश में हो जाते हैं, जो गाय के खुर से बने गड्ढे के समान है और जिससे कोई लाभ नहीं है। जो आत्मनाशक है। प्रभो! वे इस प्रकार अपनी कठिन तपस्या को खो बैठते हैं।''

भगवान् नर-नारायण ने पहले तो अप्सराओं का पूजन किया, फिर उनसे कहा—'कुछ वरदान माँगलो।', वे बड़ी संकुचित हुईं। कहने लगीं—महाराज! हम तो आपकी सद्योजात बालिकाएँ हैं। मानो अभी पैदा हुई हैं। जैसे सद्योजात बालिका अपने हाव-भाव कटाक्षों से अपने नब्बे वर्ष के बाबा परबाबा को मोहित करना चाहे तो उसकी मूर्खता ही है। वैसे ही आप सर्वेश्वर सर्वान्तरात्मा सर्वद्रष्टा हैं। आप सबके माता-पिता हैं, हम आपको मोहने आयीं थीं—ठगने चली थीं। आपकी माया से सारा संसार मोहित है। हम क्या आपको मोहित कर सकती हैं?'

भगवान् ने अपने 'उरु' से एक उर्वशी नाम की अप्सरा व्यक्त की। उसे देखकर सबकी आँखें चोंधिया गयीं। उन्होंने सोचा कि इसके योग्य तो संसार में कोई पुरुष नहीं है। भगवान् ने कहा—'इसे अपने साथ ले जाओ। यह स्वर्ग की शोभा होगी। यह स्वर्ग का अलंकार बनेगी।'

तो जिन प्रभु में इतना लोकोत्तर चमत्कार है, उनसे बढ़कर या उनके समान योगीन्द्र कौन होगा? तभी तो योगीन्द्र इन्द्रादि की मति भी भगवान् के भोग के सम्बन्ध में चकित हो जाती है। तुलसीदासजी कहते हैं—

'गुणातीत अरु भोग पुरन्दर'

(रामचरित मानस ७. २४. २)

भगवान् राम गुणातीत हैं और भोग-पुरन्दर भी हैं। इन्द्र का भोग उनके सामने तुच्छ है। गीता में कहा गया है—

'निर्गुणं गुणभोक्तृ च'

(भगवद्गीता १३. १४)

'भगवान् निर्गुण होते हुए भी गुणों के भोक्ता हैं।'

अभिप्राय यह है कि भगवान् से बढ़कर भोग पुरन्दर भी कोई नहीं। इन्द्रादि स्वसुख-सुखित्व के कारण भोग के वशीभूत हो जाते हैं। श्रीकृष्ण में स्वसुखसुखित्व नहीं, तत्सुख-सुखित्व है। ललिता-विशाखादि दिव्याङ्गनाएँ हैं। इनकी पूज्या श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी माधुर्यसार सर्वस्व की अधिष्ठात्री देवी हैं। इनके मिलने पर भी श्रीकृष्ण में स्वसुख-सुखित्व नहीं।

तत्सुखसुखित्व ही है श्रीकृष्णमें। ऐसे श्रीकृष्णको देखकर योगीन्द्र इन्द्रके मनमें भो आश्चर्य होता है। वे सोचते हैं, हम लोग तो सामान्य भोग में ही स्वार्थ-परायण होकर के स्वसुखसुखित्व के चक्कर में फँस जाते हैं। पर, इनके पास इन दिव्यातिदिव्य अङ्गनाओं के रहते हुए भी स्वसुख का गन्ध भी नहीं। इतनी सामग्री होने पर भी स्वसुख की कल्पना नहीं। इनकी गति समझ में नहीं आतो। क्या रस है, क्या प्रेम है क्या अनुरक्ति है, क्या तत्सुखसुखित्व है, क्या ये स्वयं हैं, कुछ समझ में नहीं आता ?

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम॥

* श्रीहरिः *

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

सप्तम-पुष्प

१. तात्त्विक भावना का महत्त्व

'ब्रह्म एक है। तद्भिन्न कुछ नहीं।' यह बात बिल्कुल ठीक है, परन्तु इतना जानने मात्र से काम नहीं चलता। इसकी भावना का महत्त्व है। 'सादर-सम्मानपूर्वक दीर्घकाल-निरन्तर पुनः-पुनः चिन्तन', इसी का नाम 'भावना' है। भावना में बड़ी करामात है।

'नचाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्'
(भगवद्गीता २. ६६)

"विना भावना 'शान्ति' नहीं, विना शान्ति 'सुख' नहीं।"

अनुकूल भावना हो तो संसार का पता ही नहीं चलता। 'सब भगवान्-ही-भगवान् हैं' ऐसा ही स्फुरित होता है। संसार एक तरफ और भावराज्य दूसरी तरफ। अनुकूल भाव-राज्य संसार को निवृत्त कर देता है। हाँ, अनुकूल भावना का यह चमत्कार है; प्रतिकूल (विपरीत) भावना हो तो संसार का मिटना असंभव है। विधुर-परिभावित-कामिनी-साक्षात्कार प्रामाणिक नहीं, मिथ्या है। इसलिए तत्त्व की भावना का महत्त्व है, अतत्त्व की भावना का नहीं। विधुर-परिभावित-कामिनी कोई तत्त्व नहीं। वह अकिञ्चित्कर (तुच्छ) है।

२. भगवत्तत्त्व का भावयोग से प्राकट्य

यहाँ तत्त्व है अखण्ड-अनन्त-निर्विकार ब्रह्म, तो भी हमारे आपके काम का नहीं। ऐसे ब्रह्म से कोई लाभ-फायदा नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं—

व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी।
सत चेतन घन आनन्दराशी॥

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥
(रामचरित मानस १. २२. ६, ७)

सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् हमारे हृदय में, आपके हृदय में, शूकर-कूकर, कीट-पतंग सबके हृदय में हैं; फिर भी जगत् में सभी जीव दीन-दुःखी हैं।

'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।'
(भगवद्गीता १३. १७)

जब तक ऐसे ब्रह्म का प्राकट्य नहीं, तब तक वह कौड़ी काम का नहीं–

'फिरहिं जीव जग दीन दुखारी।'

अखण्ड ब्रह्म हृदय में बैठा है। हम कुत्ते बन रहे हैं, घोड़े बन रहे हैं, दरिद्रता-दीनता, परतन्त्रता, आधि-व्याधि, शोक-संताप के शिकार हो रहे हैं। वह ब्रह्म किस काम का ? इसलिए ऐसे ब्रह्म को प्रकट करना चाहिए।

गोस्वामीजी कहते हैं—

नाम निरूपण नाम जतन ते।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते॥
(रामचरित मानस १. २२. ८)

"नाम के निरूपण और यत्न से (श्रवण-मनन और निदिध्यासन से) वह सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म प्रकट (आत्मरूप से स्फुरित) होता है।"

नाम का निरूपण करो—नाम के वाच्यार्थ को जानकर उसकी भावना करो। नाम को भी समझो, नाम क्या है ? नाम खाली (केवल) शब्दात्मक नहीं है। शब्द भी क्या है ? वैयाकरण कहते हैं—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
(वाक्य प्रदीप १)

'शब्द' ब्रह्म है। 'ब्रह्म' वह है जिसका आदि नहीं, अन्त नहीं, अर्थात् जो अनादि, अनन्त है। ऐसा अनादि, अनन्त ब्रह्म जो कि परावाक् रूप है, वही पदार्थों के रूप में प्रकट होता है। वाचक, अभिधान अथवा नाम क्या है ? अभिधानात्मक प्रपञ्चोत्पादनानुकूल शक्त्यवच्छिन्न संविदानन्द का विवर्त है। वाच्य-अभिधेय अथवा नामी क्या है ? अभिधेय-प्रपञ्चजननानुकूल-शक्त्यवच्छिन्नचेतन का विवर्त है। इस प्रकार एक ही परब्रह्म में अभिधान-अभिधेयरूप अनन्त तरंगें प्रादुर्भूत हो गयी हैं; किन्तु 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात्' इस न्याय के

अनुसार तरङ्गाभिन्न समुद्र के साथ तरङ्गा का अभेद होने के कारण, उनका (तरङ्गों का) आपस में भी अभेद[२४] है। मूल दृष्टि से अभिधानात्मक (नामात्मक) तरङ्गें जिस समुद्र में हैं, लक्षणावृत्ति से वे उस समुद्र का ही बोधन करती हैं और अभिधेयात्मक (रूपात्मक-अर्थात्मक) तरङ्गान्तरों को वे अभिधावृत्ति से बोधित करती[२५] हैं। कोई भी शक्ति अपने शक्य में ही सफल हुआ करती है, अपने (उसके) कारण में नहीं। अग्निनिष्ठ दाहिकाशक्ति-दाह्य काष्ठादि को ही दग्ध कर सकती है, अपने (उसके) आश्रय स्वरूप अग्नि-तत्त्व का दहन नहीं कर सकती।

इस तरह संविदात्मक (ज्ञानात्मक) नाम में प्रकाशकत्व है और अर्थ में प्रकाश्यत्व अर्थात् नाम विषयी है और अर्थ है उसका विषय। श्रीकृष्णचन्द्र का जो मङ्गलमय नाम है, वह 'श्रीकृष्णचन्द्र इस अर्थ से अभिन्न है। 'नाम' परावाक्-रूप परब्रह्म है, अर्थ 'तुरीय' संज्ञक परब्रह्म है। दोनों में तात्त्विक अभेद है। जो अमात्र प्रणव है, वही 'तुरीय' परब्रह्म है।

३. दिव्य लीलाशक्ति के योग से प्रकट भगवन्नाम-रूप निरावरण ब्रह्म-स्वरूप

वैदिकों का मत है कि नाम-रूप से अतीत वेदान्त वेद्य परम तत्त्व ही स्वांशभूत प्राणियों के कल्याणार्थ अपनी अचिन्त्य दिव्य-लीलाशक्ति से परम मनोहर नाम-रूप को स्वीकार करते हैं। जैसे कोई परम कारुणिक चिकित्सक किसी कुपथ्यप्रिय, अदीर्घदर्शी, अबोध शिशु को उसके अभीष्ट कुपथ्य रूप में दिव्य महौषधि प्रदान करता है; वैसे ही मनोहर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों में आसक्तचित्त प्राणियों के मन को प्रपञ्चातीत निज स्वरूप में आकर्षित करने के लिए अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध रूप प्रभु दिव्यशब्द, दिव्यस्पर्श, दिव्यरूप, दिव्यरस और दिव्यगन्ध सम्पन्न रूप में अवतरित होते हैं। जैसे मधुर-मनोहर महौषधिरूप पक्वान्न स्वस्थों को प्रिय होता है, वैसे ही सरस सुन्दर श्रीविग्रह अमलात्मा-मुनीन्द्रों को भी प्रिय होता ही है।

---

२४. ∵ 'ब अभिन्न है, 'अ' के और 'स' अभिन्न है 'अ' के
∴ 'ब' अभिन्न है 'स' के।

२५. 'साक्षात् संकेतितार्थप्रतीत्यनुकूलः शब्दव्यापारोऽभिधा'; 'शक्य सम्बन्धेनाशक्य प्रतिपत्तिर्लक्षणा'; मुख्यार्थसम्बधेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वं लक्षणा' (काव्यप्रदीपानुसार)। लक्षणा—'शक्य सम्बन्धः'; 'शक्यार्थसम्बन्धेन वृत्तिः'; 'स्वशक्तिज्ञाप्य सम्बन्धः'; 'शक्यार्थ स्मृतिव्यवहितशक्यार्थ सम्बन्धि पदार्थ-विषयक प्रतीतिः' (सर्वतन्त्र सिद्धान्त पदार्थ लक्षण संग्रहः)।

भक्तों को अभीष्ट भिन्न-भिन्न स्वरूपों के विशिष्ट सौन्दर्य-माधुर्यादि लोकोत्तर गुणगणों में चित्त के आसक्त होने के अनन्तर वही अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, परम तत्त्व सुस्पष्ट रूप में व्यक्त हो जाता है। शिव, विष्णु शक्ति, सूर्य्य, गणेशादि वेद-शास्त्र-सम्मत सभी स्वरूपों में एक वही पूर्णतम तत्त्व व्यक्त होता है। इसीलिये उनके (पञ्चदेवों के) माहात्म्य-प्रतिपादक सभी सद्ग्रन्थों में अन्तिम स्वरूप एक ही मिलता है। एक अनन्त, अखण्ड, निर्विशेष, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्द ही सर्वाधार, साक्षी-रूप से अवशिष्ट रहता है।

जैसे घी और बत्ती के संयोग से व्यापक निर्विकार अग्नि दिव्य दीपशिखा के रूप में प्रकट होता है, जैसे शैत्य के योग से जल हिमरूप में व्यक्त होता है, वैसे ही अचिन्त्य लीलाशक्ति के योग से अनाम-रूप भगवान् ही दिव्य नामरूप स्वरूप में प्रकट होते हैं। अतएव भगवान् के नाम और रूप निरावरण भगवान् के साक्षात्स्वरूप ही हैं। जैसे काष्ठ,पाषाण, प्रासाद जहाँ भी कहीं पैर रखा जाय, वह सब कुछ पृथ्वी ही है, वैसे ही जिस किसी भी नाम-रूप का ग्रहण किया जाय वह भगवान् का ही दर्शन और श्रवण है। तब (तो) भी विशुद्ध लीलाशक्ति की महिमा से प्रकट भगवान् के नाम-रूप (एवं लीला-धाम) निरावरण भगवान् के रूप हैं। इतर नाम-रूप सावरण भगवान् के रूप हैं। जैसे मेघादि अस्वच्छ उपाधियों से सूर्यमण्डल आवृत रहता है; परन्तु दूरवीक्षणादि दिव्य पाषाण का व्यवधान होने पर भी वह आवृत नहीं होता, वैसे ही अविद्यादि मलिन-शक्तियों के योग से नाम-रूप-विवर्त्त में पारमार्थिक तत्त्व आवृत रहता है; परन्तु विद्या या लीला आदि दिव्य शक्तियों के योग से प्रकट भगवान् के नाम-रूप में निरावरण भगवान् का स्पष्ट रूप से भान होता है। इसलिए भावना का महत्त्व है।

४. भावयोग-भावित भगवत्तत्त्व की मङ्गलमयी लीलाओं का आस्वादन

आगम सम्बन्धी लम्बी दीक्षाओं के द्वारा मन्त्राध्वादि षडध्वशोधन और ब्रह्मात्मसाक्षात्कार की उपलब्धि होती है—

कलाध्वानं शोधयामि, तत्त्वाध्वानं शोधयामि, भुवनाध्वानं शोधयामि, वर्णाध्वानं शोधयामि, पदाध्वानं शोधयामि, मन्त्राध्वानं शोधयामि। (श्रीविद्यारत्नाकर; पूर्णाभिषेक:)

अन्ततोगत्वा भावना द्वारा ब्रह्मात्म-तत्त्व का अनुसन्धान करना पड़ता है। अभी हम 'समाज' में बैठे थे। भगवद्भक्त-रसिक लोग भगवान् की मङ्गलमयी लीला का गान कर रहे थे। उसमें यही आता था कि एक-एक भूषण, एक-एक अलंकार, जिसे श्रीराधा-कृष्ण धारण करते हैं वे दिव्यातिदिव्य हैं, कोई प्राकृत नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द-मदनमोहन-आनन्दसिन्धु हैं। श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी आनन्द-सार-सर्वस्व हैं। आनन्द और आनन्द-सार-सर्वस्व की

क्रीडा होती है । ह्लादिनी-शक्ति होली खेलती है, किससे ? आनन्द से । रसिकों ने सिद्धान्त स्थापित किया है कि सम्भोग क्या है ? भोक्ता भोग्य को स्वात्मतादात्म्यापादन करता है—आत्मसात् करता है, अभिन्न बनाता है, यही सम्भोग है । कभी सुना होगा **'सविता गोभिः रसं भुङ्क्ते'**, **'श्रीसूर्यनारायण अपनी रश्मियों के द्वारा धरित्री के रस को भोगता है, अर्थात् स्वात्मतादात्म्यापादन करता है । जो रस है, उसे वह रश्मियों से अपना रूप बना लेता है, यही भोग है ।'**

भगवान् भोक्ता हैं । सम्पूर्ण जीव भोग्य है, अनन्त-अनन्त शक्तियाँ भोग्य हैं—सर्वज्ञता-शक्ति, सर्वशक्तिमत्ता-शक्ति, सर्वेश्वरता-शक्ति, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायकता-शक्ति, सत्य संकल्पता-शक्ति—ये सब भोग्य हैं । शक्तियाँ दो तरह की हैं । अन्तरङ्गा और बहिरङ्गा । बहिरङ्गा-शक्ति क्या है ? अनन्तानन्त प्रपञ्चोत्पादनानुकूल विविध शक्तियाँ । पदार्थ अनन्त हैं, इसलिए अनन्त-अनन्त शक्तियाँ हैं । कारण में रहनेवाली कार्योत्पादिनी शक्ति अनेक हैं । कार्य भेद से उनकी विविधता का अनुमान होता है । मृत्तिका में घटोत्पादिनीशक्ति, तन्तु में पटोत्पादिनीशक्ति, दुग्ध में नवनीतोत्पादिनीशक्ति, इस तरह शक्ति की अनन्तता सिद्ध होती है । ये सब बहिरङ्ग शक्तियाँ हैं ।

शक्तयः सर्वभावनामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याः भावशक्तयः ॥
भवन्ति तपसां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ।
(श्रीविष्णु पुराण प्रथम ३. २, ३)

"हे तपस्वियों में श्रेष्ठ मैत्रेय ! समस्त भाव पदार्थों की शक्तियाँ अचिन्त्यज्ञान की गोचर-विषय होती हैं । उनमें कोई युक्ति काम नहीं देती । अग्नि की शक्ति-उष्णता के समान ब्रह्म की भी सर्गादि रचनारूप शक्तियाँ स्वाभाविक हैं ।"

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः ।
तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते ॥
अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥
(श्रीमहाभारते, भीष्म० ५. ११, १२)

"भिन्न-भिन्न लोकों में पाञ्चभौतिक धातु दृष्टिगोचर होते हैं । मनुष्य तर्क के द्वारा उनके प्रमाणों का प्रतिपादन करते हैं ।"

"परन्तु जो अचिन्त्य-भाव हैं, उन्हें तर्क से सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए । जो प्रकृति से परे है, वही अचिन्त्यस्वरूप है ।"

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् की माया-प्रकृति, अचित् है; अतः बहिरङ्ग

है। संधिनी, संविद्, ह्लादिनी ये अन्तरङ्ग शक्तियाँ हैं। जैसे जलराशि में फेन बहिरङ्ग है; उसकी अपेक्षा तरङ्ग अन्तरङ्ग है; किन्तु जल की अपेक्षा वह भी बहिरङ्ग होने से तटस्थ है; जब कि माधुर्यादि स्वरूपभूत होने से मुख्य-अन्तरङ्ग है; वैसे ही सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् में भोग्य-जड़-प्रपञ्च को उत्पन्न करने-वाली मायाशक्ति बहिरङ्गा, सोपाधिक चिद्रूपा जीवशक्ति तटस्था और संधिनी, संवित्, ह्लादिनी अन्तरङ्गा शक्तियाँ है। जैसे जल के स्वरूपभूत माधुर्यादि को 'शक्ति' कहने की प्रथा है, वैसे ही सच्चिदानन्द के स्वरूपभूत माधुर्य (आनन्द) आदि को शक्ति कहने की प्रथा है। सत् ही संधायक होने से 'संधिनी', चित् ही प्रकाशक होने से 'संवित्', आनन्द ही आह्लादक होने से 'आह्लादिनी' शक्ति के रूप में मान्य है।

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥
(श्रीविष्णु पुराण १. २. ६८)

"सबके आधारभूत आपमें ह्लादिनी (निरन्तर आह्लाद करने वाली) और सन्धिनी (विच्छेदरहित), संवित् (विद्याशक्ति) अभिन्नरूप से रहती हैं। आप-में (विषयजन्य) आह्लाद या ताप देनेवाली (सात्त्विकी या तामसी) अथवा उभय मिश्रा (राजसी) कोई भी संवित् नहीं है; क्योंकि आप निर्गुण हैं।"

यद्यपि सत् ही स्वप्रकाश होने से चिद्रूप है, चित् ही अत्यन्ताबाध्य होने से सत् है और वही सर्वोपप्लव (सर्व-उपद्रव)-विवर्जित होने से आनन्द है, स्वरूपतः सच्चिदानन्द तत्त्व में कोई विभेद नहीं बनता; तथापि अचिन्त्य अनि-र्वाच्य दिव्यशक्ति के द्वारा लीला-विशेष के प्रकाश के लिये उक्त भेदों का उप-पादन संभव है। परा प्रकृति रूप 'जीव-शक्ति' है—

भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(भगवद्गीता ७।४. ५)

"पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश अर्थात् पञ्च-सूक्ष्म-शब्दादि-तन्मात्रात्मक महाभूत और मन, बुद्धि एवं अहङ्कार अर्थात् क्रमशः अहंतत्त्व, महत्-तत्त्व और अव्यक्त (मूल-प्रकृति) आठ प्रकार की प्रकृति है। यह अपरा है, अर्थात् भवबन्धन में हेतु है। हे महाबाहो! इससे भिन्न जीवरूपा परा प्रकृति है, जो जगत् को धारण करती है।"

महा प्रलय में सारी शक्तियों के साथ भगवान् शयन करते हैं। उस

समय परा-अपरा, अन्तरङ्गा-बहिरङ्गा सब-की-सब शक्तियाँ भगवान् के संग विराजमान होती हैं। उनको साथ लेकर भगवान् शयन करते हैं।

इस तरह, भगवान् स्वात्मतादात्म्यापादन करते हैं, यही उनका सम्भोग है। जीव ललचाता ही रहता है कि भगवान् हमको स्वात्मतादात्म्यापादन कर लें! भगवान् का भोग्य होने के लिए परा अपरा, अन्तरङ्गा-बहिरङ्गा सभी प्रकार की शक्तियाँ उत्सुक हैं। ऐसा इसलिए, क्योंकि वस्तुतः पारतन्त्र्य ही स्त्रीत्व है और स्वातन्त्र्य ही पुंस्त्व **'पारतन्त्र्यमेवस्त्रीत्वं. स्वातन्त्र्यमेव पुंस्त्वम्'** इस रीति से पूर्ण स्वतन्त्र भगवान् ही एकमात्र 'पुरुष' हैं, उनसे अन्य तो परतन्त्र 'स्त्री' हैं। 'स्त्रीत्व' क्या है? पारतन्त्र्य। 'पुंस्त्व' क्या है? स्वातन्त्र्य। इस दृष्टि से परा प्रकृतिरूप जीवों में गोपाङ्गना भाव-रूप स्त्रीत्व ही स्वाभाविक है। **जिस तरह छाया की काया के अधीन स्थिति, प्रवृत्ति होती है, उसी तरह भगवान् के अधीन जीवों की स्थिति, प्रवृत्ति हो—यही गोपाङ्गना-भाव है।**

भजनीय-तत्त्व स्वतन्त्र और साधक परतन्त्र रहता है। जीव परवश-पराधीन और ईश स्ववश-स्वाधीन है। श्रीगोस्वामी जी ने कहा है—

'परवश जीव स्ववश भगवन्ता।'

(रामचरित मानस ७. ७८ ७)

तरंग-माला जल के परतन्त्र रहती है, जीव प्रभु के परतन्त्र रहता है। इसी आशय से ईश प्राप्ति के निमित्त सखीभाव की साधना होती है। पारतन्त्र्य से ही पूर्णता, स्वाधीनता प्राप्त होती है। भक्त भगवान् को हर तरह से रिझाने का प्रयत्न करता है, स्तुति आदि करता है। भक्त की दृढ़ साधना से फिर धीरे-धीरे श्रीभगवान् परतन्त्र-भक्त के अधीन होने लगते हैं और भक्त स्वतन्त्र। ठीक ही है—

'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते'

'क्लेश फल से पुनः नवीनता को प्राप्त होता है।'

उद्यम जीवन को आनन्द मग्न करता है। ऐसे भक्त के भगवान् पराधीन हो जाते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(भागवत ९. ४. ६३)

"दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तों के अधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे सीधे-सादे सरल भक्तों ने मेरे हृदय को अपने हाथ में कर रक्खा है, भक्त मुझे प्रिय होते हैं और मैं उन्हें प्रिय होता हूँ।"

कहने का तात्पर्य यह है कि अचिन्त्य-अनन्त-परमानन्दकन्द-सुधासिन्धु श्रीकृष्णचन्द्र हैं—

'यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्'
(भागवत १०. १४. ३२)

उस सुधासिन्धु के माधुर्यसार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री देवी राधारानी वृषभानुनन्दिनी हैं; उनके आभूषण दिव्य हैं। मंगलमय श्रीअङ्ग में मङ्गलमय आभूषण हैं। यहाँ के रसिक श्रीजी की चूड़ियों का ध्यान करते हैं, कञ्चुकी का ध्यान करते हैं, बिंदी का ध्यान करते हैं। ऐसे बड़े-बड़े विरक्त लोग जो अपने साथ गुदड़ी रखते हैं, साथ में कोई भोग-सामग्री नहीं रखते, रूखा-सूखा-सा शरीर है जिन रसिक-सन्तों का वे श्रीराधारानी के दिव्य वसन-भूषण-अलङ्कारों का ध्यान करते हैं।

'तन लटे पट फटे, आशिकों के यही पते।'

गिरिराज में राधाकुण्ड में देखो, ऐसे-ऐसे परम अन्तरङ्ग महात्यागी सन्त हैं, जिनमें कई तो तीन लाख नित्य जप करते हैं। उनकी जप में अखण्ड निष्ठा है। ऐसे रसिक चूड़ियों का ध्यान कर रहे हैं, बिन्दियों और कंचुकियों का ध्यान कर रहे हैं। क्या ऐसे वीतराग अमलात्मा परमहंस सामान्य चूड़ियों का ध्यान करेंगे? नहीं। वे तो श्रीराधारानी माधुर्यसार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री देवी की चूड़ियों का ध्यान कर रहे हैं जो कि चिन्मय हैं. आनन्दमय हैं। वे चूड़ियाँ प्राकृत वस्तु नहीं! साड़ी प्राकृत साड़ी नहीं! उनका अङ्गराग, उनका 'अधर-यावक' (लिपिस्टिक) उनकी विभिन्न प्रकार की उपकरण-सामग्री ये सब अलौकिक हैं। इसलिए आप देखें, भगवान् के जो उपासक हैं, वे भगवान् की आराधना भावनामयी करते हैं। जिसके अमोघ प्रभाव से उन्हें भगवत्साक्षात्कार होता है।

५. भावोत्कर्ष से दिव्य मनोरथ द्वारा मानसी-सेवा का महत्त्व

विधुर-परिभावित कामिनी साक्षात्कार-स्थल में कामिनी विद्यमान न होने से वह केवल भावना है, भ्रम है; किन्तु भगवान् सर्वान्तरात्मा, सर्वव्यापक हैं, भावुक परिभावित मनोमयी भगवन्मूर्ति की भावना के प्राखर्य से होनेवाला भगवत्साक्षात्कार तात्त्विक है, क्यों कि जहाँ भगवान् का भावनाभावित साक्षात्कार हो रहा है, वहाँ सर्वान्तरात्मा भगवान् स्वयं विराजमान हैं। भावुक का रसिक मन भगवान् की जैसी-जैसी मूर्ति की भावना करता है, भगवान् वैसी-ही-वैसी मूर्ति धारण करते हैं—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति।
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥
(भागवत ३. ९ ११)

अर्थात् 'भगवन् ! भक्त अपनी बुद्धि से आपके जैसे-जैसे रूप की भावना करता है, आप वैसे-वैसे ही स्वरूप को धारण करते हैं।'

प्रथम शास्त्रों और सत्पुरुषों के वचनों से भगवान् के स्वरूप और सौन्दर्य, माधुर्य, भूषण, वसन, अङ्ग उपाङ्ग आदि की मन से ही भावना की जाती है। वह भावना नीलमेघ, पंकज, मणि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि उपमाओं के ही आधार पर होती है। पश्चात् ध्यान और मानस-पूजन की महिमा से वही साधारण-सी भावनामयी-मूर्ति दिव्य श्रीविग्रहरूप मे व्यक्त हो जाती है। इसीलिए यहाँ की भावना केवल मनोराज्य नहीं है। धातुमयी मूर्ति में भी यद्यपि ईश्वर के व्यापक होने और मन्त्र की विचित्र शक्ति से उनका आविर्भाव माना जाता है, तथापि भावना की वहाँ भी बड़ी प्रधानता होती है, तभी कहा गया है कि भाव में ही देवता है, भाव ही मुख्य कारण है—

'भावो हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्'

साधारण-से-साधारण भोग या नैवेद्य में भावना की महिमा से प्रियत्व संप्राप्ति हो जाती है। भावुक लोग भगवान् के सम्मुख स्थापित नैवेद्य में श्रीलक्ष्मी निर्मित दिव्य भोग की भावना करते हैं। कौशल्या, सुमित्रादि माताओं और सुनयनादि श्वश्रुओं से निर्मित अनन्त व्यञ्जनों की भावना साधारण शाक में भी बनायी जा सकती है। भक्त कहता है—

"नाथ ! आपने जिस रुचि से शबरी के बेर और सुदामा के तण्डुल को ग्रहण किया था, उसी रुचि से मेरे नैवेद्य को ग्रहण करें !"

"हे देव ! श्रीयशोदा, रोहिणी के हाथ के नवनीत और दधि की भावना से मेरे इन पदार्थों को ग्रहण करें।"

श्रीसीता-राधा के कर-कमलों से परिवेषित व्यञ्जनों की भावना से सचमुच भक्त के द्वारा समर्पित व्यञ्जनादि वस्तुएँ वैसी ही हो जाती हैं। भगवान् के सम्मुख स्थित नैवेद्यों और भूषण-वसनों में श्रीराधा की अधर-सुधा और उन्हीं के भूषण-वसन की भावनासे अपनी समर्पित वस्तुओंका महत्त्व बढ़ा लिया जाताहै।

यज्ञ, दान, तपादि भी विद्या अर्थात् भावना सहित किये जाने से उच्चतम फल के कारण बन जाते हैं। कायिक, वाचिक, मानस विविध कर्मों में मानस कर्म का महत्त्व अधिक है। कायिक, वाचिक-कर्मों का मानस-कर्म मूल है। जैसे सूर्यकान्ता पर सूर्य व्यक्त होता है, वैसे ही शुद्ध भावना पर भगवान् का प्राकट्य होता है। भावनामयीमूर्ति पर भगवान् का प्राकट्य होता है। मन्त्र-विधान और भावना की महिमा से देवतत्त्व की मूर्तियों में तो साक्षात् ही भगवान् का आविर्भाव होता है।

यदि मन का अखण्ड-प्रवाह सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा जलनिधि भगवान् के श्रीअङ्ग की ओर हो जाय, पदनखमणि-चन्द्रिका या अमृतमय मुखचन्द्र के माधुर्य-रसास्वादन में दृष्टि समासक्त हो जाय, तब तो कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहता। आचार्यों ने कहा है कि सदा ही श्रीकृष्ण सेवा में संलग्न रहना चाहिए। उनमें भी मानसी-सेवा बड़े महत्त्व की है। चित्त की भगवत्प्रवणता (भगवान् में तन्मयता) ही 'मानसी-सेवा' है, उसी की सिद्धि के लिये तनुजा और वित्तजा-सेवा अवश्य करनी चाहिए—

कृष्णसेवा सदा कार्य्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनु वित्तजा॥
(श्रीवल्लभाचार्यस्य)

साधारण मनुष्यों की भावना मनोराज्य है, परन्तु भावुकों की भावना फल पर्यवसायिनी होती है। भावना की प्रबलता होने से भक्तोपहृत-वस्तु भगवान् को उपलब्ध हो सकती है।

आप जानते ही हैं भक्त भगवान् के लिये दिव्यातिदिव्य फूल बंगला का मनोरथ करते हैं, छप्पन भोग का मनोरथ करते हैं, नख-शिख-शृङ्गार का मनोरथ करते हैं। उस-उस वस्तु को प्रभु के लिये समर्पित करके उनकी आराधना का नाम 'मनोरथ' है मनोरथ यहाँ कामना के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, भक्तों की दिव्यातिदिव्य भावना के अर्थ में प्रयुक्त है। भक्त अपनी (उसकी) भावना से भगवान् को अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का साम्राज्य समर्पण करता है। है तो सब भगवान् का ही? भले ही मटर की रोटी है, पर भक्त उसमें भावना करता है कि 'यह नन्दरानी के स्तनों का पवित्र दुग्ध है, जो कि प्रभु को बड़ा प्रिय है।', वह भावना करता है कि 'यह मटर की रोटी क्या है, यह तो साक्षात् राधारानी के मङ्गलमय मुखचन्द्र संलग्न सुमधुर अधर-सुधा रस है, जिसके लिये आप (प्रभु) हर समय ललचाते ही रहते हैं।'

आज-कल तो बाहर से पञ्चामृत भी स्नान कराने को नहीं मिलता। मन में कल्पना (भावना) करो कि 'भगवान् को दुग्ध-समुद्र से, घृत-समुद्र से, स्नान करा रहा हूँ। माधुर्यामृत-सार-सर्वस्व से भगवान् को स्नान करा रहा हूँ। लावण्यामृत-सार-सर्वस्व से भगवान् को स्नान करा रहा हूँ।', कितनी बढ़ियाँ पूजा होगी?

वेदों में लिखा है—'पृथिवी-पात्र में सोम को समुद्र बनाकर देवता को अर्पित करो।', देवताओं को सोम बड़ा प्रिय है। भावना के बिना इतना सोम कहाँ मिलेगा? आगम वाले कहते हैं—'भगवान् को सोने की थाल में भोग लगाओ।' बेचारे वीतराग सन्तों के पास सोने के पात्र कहाँ मिलेंगे?

हेमपात्रगतं दिव्यं परमान्नं सुसंस्कृतम् ।
(श्रीविद्यारत्नाकरः, श्रीमहागण०)

तो कहते हैं—

चित्पात्रे सद्धविः सौख्यं विविधानेक भक्षणम् ।
निवेदयामि ते देव सानुगस्त्वं जुषाण तत् ॥
(श्रीमहागणपतिक्रमः)

सोने के पात्र में भगवान् को भोग लगाना चाहिए। सोना भी जड़ नहीं। अनन्त चित्-स्वप्रकाश बोध ही यहाँ सुवर्ण-पात्र है। साथ ही जितना भर भी भोग-राग है, क्या है ? अनन्त सत्ता, अनन्त आनन्द ! आनन्द के भीतर सब आ गया !

चिद्रूपी अखण्ड पात्र में आनन्द के ही विलास-विकास नाना प्रकार के मधुर-मनोहर पक्वान्नादि भगवान् को निवेदित करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि 'हिरण्य' सोना को कहते हैं। निर्गुण ब्रह्म चित्—'हिरण्य' है। संसार में जड़ हिरण्य तो प्रसिद्ध ही है। चित् भो कितना बड़ा ? अनन्त। जितना बड़ा सत् है, उतना बड़ा चित्। अनन्त सत्ता ही स्वप्रकाश होने के कारण 'चित्' है। वही (अनन्त सत्ता ही) सर्वोपप्लव विवर्जित होने के कारण 'परमानन्दरूप' है। इसलिए कहते हैं--

'चित्पात्रे सद्धविः सौख्यं' अर्थात् चित्-रूपी पात्र में अनन्त सत्ता, अनन्त आनन्दरूप सौख्य ही नैवेद्य है। वही मालपूआ है, कचौड़ी है, मोहनभोग है, मक्खन-मिश्री है। जो कुछ प्रभु को अभिमत है, वह सब अनन्त-सत्ता, अनन्त आनन्दरूप सौख्य है।

भाई ! भगवान् की पूजा करो ! विपुल विविध सामग्रियों के द्वारा उस अनन्त सर्वान्तरात्मा सर्वशक्तिमान् भगवान् का दिव्य मङ्गलमय श्रीविग्रह पधरा लो। दिव्य भूषण, वसन, अलंकार से उनका सम्मान करो। खूब भोग-राग लगाओ। बाहर से न बने तो मानस पूजा करो। मानसी पूजा का बड़ा महत्त्व है—

कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनु वित्तजा ॥
(श्रीवल्लभाचार्यस्य)

प्राणी को सदा ही श्रीकृष्ण-सेवा करनी चाहिए। सेवा में मानसी-सेवा ही सर्वोत्कृष्ट है। चित्त की कृष्णोन्मुखता या कृष्ण में तन्मयता ही सेवा है। मानसी-सेवा की सिद्धि के लिए ही तनुजा और वित्तजा-सेवा करनी चाहिए। कायिकी, वाचिकी आदि सेवा करते करते अन्त में मानसी-सेवा की योग्यता प्राप्त

होती है। विजातीय-प्रत्यय निरास पूर्वक सेव्याकाराकारित मानसी-वृत्ति का प्रवाह ही मानसी-सेवा है।

जिस प्रकार समुद्रोन्मुखी गङ्गा का अखण्ड-प्रवाह चलता है, उसी प्रकार भगवन्मुखी मानसी-वृत्तियों का अखण्ड-प्रवाह ही भगवान् की मानसी-सेवा है। संसार से विमुख होकर मन श्रीभगवान् की ओर सम्मुख होकर उन्हीं में रम जाय, बस यही मानसी-सेवा है।

देखो वीतराग व्रजवासी रसिक-सन्त व्रजवासियों के घर से टुकड़े माँगकर लाते हैं, उसी का भगवान् को भोग लगाते हैं। उसी में भावना करके रस-सिन्धु समाविष्टकर देते हैं। भावनामें कंजूसी नहीं होनी चाहिये। देखो 'भावनोपनिषत्' में किस दिव्यातिदिव्य रीति से पूजन का वर्णन है—

चिदग्निस्वरूप परमानन्द शक्ति स्फुरणं वस्त्रम्।
सच्चित्सुख परिपूर्णता स्मरणं गन्धः॥
(भावनोपनिषत्)

श्रीशंकराचार्य महाराज देवी पराम्बा राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी षोडशी को दक्षिणा समर्पित करते हैं, (आज तो नया पैसा दक्षिणा में देते हैं)—

अथ बहुमणिमिश्रैर्मौक्तिकैस्त्वां विकीर्य
त्रिभुवन कमनीयैः पूजयित्वा च वस्त्रैः।
मिलित विविधमुक्तां दिव्यमाणिक्ययुक्तां
जननि कनकवृष्टिं दक्षिणां तेऽर्पयामि॥
(श्रीबालात्रिपुरसुन्दरी मानस पूजा स्तोत्र ४२)

"जननि! बहुत-से हीरे आदि रत्न मिश्रित मोती आपके ऊपर बिखेर कर, त्रिभुवन कमनीय दिव्य-वस्त्रों से आपका पूजन कर, दिव्य माणिक्य और मुक्ताओं (मोतियों) से युक्त अखण्ड कनक वृष्टि आपको दक्षिणा में समर्पित करता हूँ।"

इस तरह यदि भावना जोरदार है, तो उसी से सब कुछ बनता है। इन दिनों हम वेदों पर टीका लिख रहे थे। बहुत-सी वस्तुओं से परिचय हुआ। वेदों में तो आता ही है, 'ब्रह्मसूत्र, देवताधिकरण' पर विशेष कर अप्पय याजी दीक्षित ने विचार किया है कि अग्निहोत्र-होम दर्श-पूर्णमास-ज्योतिष्टोम के द्वारा देवता की पूजा होती है, भगवान् की आराधना होती है।

प्रश्न उठता है कि 'अतिथिसत्कार न्याय' से यह ईश्वर की समर्चा है अथवा और कोई बात है? पूर्व-मीमांसक कहता है, 'अतिथि-सत्कार न्याय' से यह ईश्वर की समर्चा नहीं है; क्योंकि अतिथि सत्कार में तो अतिथि को जो अभीष्ट हो, वह देना पड़ता है; जितना अभीष्ट हो, उतना देना पड़ता है। अतिथि

भोजन करने बैठा, आपने उसे एक तोला भात दे दिया, उससे क्या काम चलेगा ? फिर, इसमें तो एक 'सरू' यज्ञ है। 'सरू' काष्ठ को कहते हैं। कौन काष्ठ ? 'यूप' निर्माण करने के लिये कुल्हाड़ी मारने से जो प्रथम लकड़ी (काष्ठ-खण्ड) निकलती है, उसी का नाम 'सरू' है। उसका भी होम होता है। वह कोई खाद्य वस्तु है ? रही बात चरु, पुरोडाश की ! वह तो बहुत थोड़ी मात्रा में अर्पित की जाती है, उससे देवता की क्या तृप्ति होगी ?

उत्तर में ब्राह्मण भागों का अर्थवाद परक वचन उद्धृत करके अप्पय याजी दीक्षित ने बतलाया है कि मन्त्र के प्रभाव से-विधि के प्रभाव से वह थोड़ी-सी वस्तु या अखाद्य वस्तु भी अमृत-सिन्धु-तुल्य होकर देवता को प्राप्त होती है। माना कि 'सरू' कोई खाद्य नहीं; फिर भी मन्त्र के प्रभाव से, भावना के प्रभाव से वह अमृत-समुद्र के रूप में और विविध प्रकार के शष्कुल्यादि, करपट्टिकादि के रूप में प्राप्त होता[२६] है।

इन्हीं सब कारणों से माना है कि पृथ्वी रूपी पात्र में समुद्र रूपी सोम को देवता के लिये समर्पण करना चाहिये। भावना में कौन-सी कमजोरी ? मार्तण्ड-मण्डल-तुल्य, उससे भी कोटि-कोटि गुणित-चमकीला मुकुट, किरीट, कुण्डल कंकण, केयूर, नूपुर आदि आभूषण भक्त अपनी भावना से प्रभु को समर्पित करता है।

यह तो आप जानते ही हैं कि चिन्तामणि, कल्पतरु और कामधेनु से जो चाहें मिलता है। भगवान् में तो चिन्तामणि, कल्पतरु और कामधेनु से अनन्त-अनन्त कोटि गुणित चमत्कार है।

ऐसे भगवान् के सन्निधान में जो-जो भावना करोगे सभी सिद्ध हो जायेंगी। उत्तमोत्तम पक्वान्न की भावना, विविध प्रकार के नैवेद्य की भावना करो। एक जगह, आचार्य ने लिखा है कि 'शाकानामयुतं' भगवान् को एक-दो नहीं, दसहज़ार शाक (साग) भोग लगाओ।

दस हजार साग कैसे बनता होगा ? सत्य-संकल्प से ही बन सकता है।

---

२६. 'यद्वै देवा हविर्जुषन्ते अल्पमप्येकामाहुतिमपि तत् गिरिमात्रं वर्धयन्ते' इति त्यक्तस्य हविषो वृद्धिश्रवणेन कश्चिदंशस्तृप्तिपर्याप्तो देवैर्भुज्यते, कश्चिदंशो वृष्ट्यन्नादि रूपेणावर्तत इति उभयविधश्रुतिनिर्वाहसंभवात्। देवतोद्देशेन त्यक्तस्यापि हविषस्तदभिमता स्वादनीय-द्रव्यतया परिणामो भविष्यति।.... कुशकाशदारुशकलादीनामनदनीयत्वदोषो न प्रसज्यते। श्राद्धेषु पित्राद्युद्देशेन दत्तस्यान्नस्य पित्रादि प्राप्तजात्युचिताहारतया परिणामः स्मृति पुराणेषु कंठोक्त्या वर्णितः।
(श्रीअप्पय दीक्षित विरचित न्याय रक्षामणिः, देवताधिकरण ब्रह्मसूत्र १. ३. ३३)

भक्तों की भावना से दस हजार शाक की भी उपस्थिति हो जाती है।

६. ब्रह्माजी द्वारा व्रजवासियों के सौभाग्य की अद्भुत सराहना

यह तो रही भक्तों की बात। अब सोचो जहाँ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् पूर्णतम पुरुषोत्तम पुजारी बनकर श्रीराधारानी की आराधना करते हैं, वहाँ उनके मन में कितने दिव्य अलंकार, भूषण, वसन, मनोहर पक्वान्न आते होंगे ? हम यह कहना चाहते हैं कि जैसे भगवान् के सम्बन्ध में भावना करते हैं, वैसे ही भगवान् राधारानी के सम्बन्ध में भावना करते हैं। कौन-से भगवान् ? जिनके आस्वादन में रत व्रजवासियों के भाग्य की सराहना करते हुए श्रीब्रह्मा जी कहते हैं—

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीक चषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्यु दजमध्वमृतासवं ते ॥
(भागवत १०. १४. ३३)

इन व्रजवासियों का भाग्य ब्रह्मादि देवों की बुद्धि से बाहर है। वे इनके विषय में कुछ नहीं कह सकते। जो इन व्रजवासियों के त्वक्, श्रोत्र, चक्षुरादि के देवता हैं, वे अपने को धन्य मानते हैं। क्यों ? अनन्त ब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर परमानन्दकन्द पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट हैं। वे परमात्मा हैं, फल स्वरूप हैं। जितना भी फल है, सब सुख है। सुख क्या है ? आनन्द-सिन्धु का विन्दु ! अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डान्तर्गत जो सुख है, वह सब आनन्दसिन्धु का विन्दु। ऐसे आनन्दसिन्धु भगवान्सर्वेश्वर का सारा स्वरूप फलात्मक है। फल में विधि-निषेध नहीं होता, साधन में विधि-निषेध होता है। **'इदं कर्त्तव्यम्, इदं न कर्त्तव्यम्'** —'यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए।', इस तरह कर्म-साधन में विधि-निषेध होता है। **'सुखं भोक्तव्यम्, न वा भोक्तव्यम् ?'**, 'सुख भोगना चाहिये या नहीं ?', सुखरूप फलमें विधि-निषेध नहीं होता। फिर भगवान् तो परम-सुख-परमानन्द हैं। ऐसे जो फलात्मा भगवान् हैं, उनके मङ्गलमय पादारविन्द का क्या कहना ? सच्चिदानन्द सरोजरूप ही भगवान् हैं।

ऐसे भगवान् के पादारविन्द के पराग और मकरन्द के सम्बन्ध में क्या कहना ? भगवान् के पादारविन्द में पराग है और उस पराग में जो मकरन्द है, वह क्या है ? अनन्त-अमृत, परिच्छिन्न अमृत नहीं। 'अमृता' होती है गिलोय। उसका भी नाम अमृत है। वह बहुत कड़वी होती है। भगवान् के पादारविन्द का जो मकरन्द है, वह मध्वमृतासव है—मधुर अमृत है, मादक है—

'इतर राग विस्मारणं नृणां'
(भागवत १०. ३१. १४)

जिस सौभाग्यशाली का उसमें राग हो गया, उसका दुनियाँ का राग विदा हो गया, वह उन्मत्त हो गया, दुनियाँ की विस्मृति हो गयी। उस मध्वमृतासवका पान कौन करता है ? मुख्यरूप से तो भोक्ता ही इस रस का स्वाद जानता है। दर्वी के द्वारा कितना भी अच्छा-से-अच्छा रस परोसा जाता है, उसका स्वाद तो उसे आता नहीं, खाने (पाने) वाले को आता है, दर्वी को कौन-सा स्वाद मिलता है ?

'दर्वी पाक रसं यथा'

(मुक्तिकोपनिषत् २. ६५)

७. अनुपम भगवद्रस से भोक्ता ही नहीं, वेणु-चषक व चरणादि भी आप्लावित

यह संसार के रसों की बात है। पर इस भगवद्रस में तो दर्वी भी धन्य है-धन्य ! इस रस का स्वाद तो दर्वी को भी आता है। यह वह संसारी रस नहीं है कि जिसका स्वाद भोक्ता को ही आता हो दर्वी को नहीं। यहाँ तो**'एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः'** (भागवत १. १४. ३३) व्रजवासियों की जो इन्द्रियाँ हैं, वे चषक हैं। चषक कहते हैं—पानपात्र को. हरेक पात्र को नहीं। रूढ़ है, आसव पानपात्र में ही 'चषक' शब्द का प्रयोग होता है।

श्रीभगवान् के चरण-कमल के जो मध्वमृतासव है, उसके पान में किन्हीं भाग्यशाली की इन्द्रियाँ ही प्रवृत्त होती हैं, सबकी नहो ! जिसकी बुद्धि का स्तर जैसा है वैसा ही तत्त्व उसके प्रति स्फुरित होता है। नीम के कीड़े को कहो कि हम तुम्हें मिश्री के टुकड़े का स्वाद बतलायेंगे। उसकी दृष्टि में तो मिश्री के टुकड़े का स्वाद होता ही नहीं, जो कुछ है नीम का स्वाद ही है। इसी तरह विषयसुख से जो परिचित है, वह निर्विषय प्रपञ्चातीत सुख को जानता ही नहीं। लेकिन जिनकी बुद्धि प्रपञ्चातीत सुख में प्रविष्ट हो सकती है, वे जान सकते हैं कि भगवान् के चरणकमल का मध्वमृतासव क्या है ? सच्चिदानन्द परात्पर परब्रह्म क्या है और उसका श्रीकृष्णचन्द्र के रूप में प्रादुर्भाव भी क्या है ?

बात बड़ी हँसी की-सी लगती है। वेदान्ती लोग कभी-कभी मजाक करते हैं—भाई ! इन रसिकों से पूछो कि 'राधारानी के चरणों की जो नूपुर-ध्वनि है, वह शब्द-ब्रह्म है और नूपुर में जो प्रकाश है वही परब्रह्म है, कैसे ?'

बात तो अटपटी-सी अवश्य लगती है; लेकिन जो भीतर प्रविष्ट होते हैं, उनको अड़चन मालूम नहीं पड़ती।

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥

(भक्तिरसामृतसिंधु पूर्व० सा० भ० १. ३८)

"यदि ब्रह्मानन्द को परार्द्ध से गुणाकर दिया जाय तो भी वह भक्तिसुख संसार के एक परमाणु के समान नहीं हो सकता।"

यह बात जल्दी समझ में नहीं आती। विचार करने पर समझ में अवश्य आती है, कठिन नहीं है। वस्तु जैसी-की-तैसी रहने पर भी अनुभूति का प्रश्न है। एक पोस्ता के दाने को हम नंगी आँखों से देखें कि वह कितना बड़ा प्रतीत होगा? नन्हा-सा। उसी को अणुवीक्षण यन्त्र से देखें तो वही पहाड़ (पर्वत) तुल्य मालूम होगा। जिन सूर्य नारायण को हम नंगी आँखों से निहारते हैं, उन्हीं को यदि हम अणुवीक्षण यन्त्र से देखें तो कितना विशाल (बृहत्) दिखाई देंगे? जब कि सरसों का दाना भी सुमेरु तुल्य दीखता है। हम कहा करते हैं कि भक्ति-रूपी अणुवीक्षण के प्रभाव से जो अखण्ड-अनन्त-निर्विकार परब्रह्म है, वह ऐसे रूप में प्रकट होता है, जिसके बारे में कह सकते हैं—

'ब्रह्मानन्दो भवेदेष (भक्तिरसामृतसिन्धुः पूर्व. सा. भ. १. ३८)

ब्रह्मानन्द को गुणा करो, भाग नहीं। किससे करो? एक, दो, दस से नहीं, द्विपरार्द्ध जो कि सबसे बड़ी संख्या है, उससे। तब कहीं वह भक्ति-रस-सिन्धु के परमाणु-तुल्य हो सके। इस तरह तत्त्व में गड़बड़ी नहीं। जैसे पोस्ता का दाना तो ज्यों-का-त्यों है, लेकिन यन्त्र के योग से उसमें विशालता की प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्म जो कि वास्तव-वस्तु है, वह ज्यों-का-त्यों है, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदशून्य, अखण्ड-अनन्त-निर्विकार-निरतिशय आनन्दस्वरूप है। भावना के तारतम्य से अनुभूति में तारतम्य परिलक्षित होता है।

'न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'

(श्वेताश्वतरो० ६. ८)

'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'

(भगवद्गीता ११. ४३)

तत्त्व में कोई तारतम्य नहीं है। तत्त्वविद् लोग उसी को तत्त्व कहते हैं, जो अद्वैत ज्ञान है—ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से शून्य बोध है। सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदशून्य जो अखण्ड अनन्त बोध है, वही तत्त्व है।

'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्'—'अद्वयं यज्ज्ञानं तदेव तत्त्वम्' (भागवत १. २. ११), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २. १), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृहदारण्यक ३. ९. २८), 'कृत्स्नः प्रज्ञान घन एव' (बृहदारण्यक ४. ५. १३)।

संकोच का कारण न होने से वृद्ध्यर्थक 'बृहि' धातु से निष्पन्न 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ निरतिशय बृहत्तम तत्त्व होता है। जो देश-काल-वस्तुपरिच्छिदवाला है, वह तो परिच्छिन्न होने के कारण अल्प ही है, निरतिशय-बृहत् नहीं। यदि वह जड़ होगा तो भी दृश्य होने के कारण अल्प और मर्त्य होगा; अतः अनन्त स्व-

प्रकाश सदानन्द तत्त्व ही 'ब्रह्म' पद का अर्थ होता है। वही भूमा अमृत है। उससे भिन्न सभी को अल्प और मर्त्य समझना चाहिए। फिर 'अनन्त' पद के साथ पठित 'ब्रह्म' शब्द का तो सुतरां 'निरतिशय बृहत्' अर्थ ही है, उसमें अतिशयता की कल्पना निर्मूल है।

किसी राजा ने ऐसी कहानी सुनना चाहा जिसका कोई अन्त ही न हो! एक चतुर ने सुनाना प्रारम्भ किया—'राजन्! एक वृक्ष था। उसकी अनन्त शाखाएँ थीं। उन शाखाओं में अनन्त-अनन्त उपशाखाएँ थीं। उपशाखाओं में भी अनन्त-अनन्त पल्लव थे। उन पर अनन्त पक्षी बैठे थे। कुछ काल के पश्चात् एक पक्षी उड़ा—'फुर्र', दूसरा पक्षी उड़ा—'फुर्र', तीसरा उड़ा—'फुर्र'।

राजा ने कहा—'आगे कहिये?'

चतुर ने कहा—'पहले पक्षी का उड़ना पूरा हो, तब आगे बढ़ूँ? अनन्त पक्षी हैं। एक-एक करके उड़ने तो दो?'

इस तरह कल्पना का कोई अन्त नहीं। थोड़े में यही कहा जा सकता है कि अतिशयता की कल्पना करते-करते वाचस्पति तथा प्रजापति की भी मति जब विरत हो जाय, जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना कर ही न सके, तब उसी अनन्त-अखण्ड-स्वप्रकाश परमानन्द घन भगवान् को वेदान्ती 'ब्रह्म' कहते हैं। उसी का **'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'** (ब्रह्मसूत्र १. १. १) इत्यादि व्यास-सूत्रों से विचार किया गया है।

कहने का अभिप्राय यह कि **'निरतिशयं यत् बृहत् तद् ब्रह्म'**, **'निरतिशयं देश-काल-वस्तु परिच्छेद शून्यम्'** उस अनन्त-अपरिच्छिन्न ब्रह्म में कोई हेर-फेर नहीं; लेकिन भक्ति-भावना से अभिव्यक्ति में तारतम्य पड़ता है। वह निरतिशय परमात्मतत्त्व ही श्रीराधा-माधव के रूप में अभिव्यक्त है—

'एकज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधव रूपकम्', 'तस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधा-माधव रूपकम्' (गोपाल सहस्रनाम १६)

जैसे शैत्य के योग से जल हिम का रूप धारण करता है, वैसे ही कृपा-लीला-विशुद्ध सत्त्वात्मिका माया-योग से ब्रह्म अवतार-विग्रह का रूप धारण करता है—

'सम्भवाम्यात्ममायया' (भगवद्गीता ४. ६)

जिस तरह, 'अग्नि-दीप' अग्नि मात्र होता है, अभिव्यञ्जक घृतादि उसमें केवल तटस्थ हेतु होते हैं; न कि दीप के स्वरूप में प्रविष्ट तथा जल-तरङ्ग जलमात्र होती है, अभिव्यञ्जक वायु आदि उसमें केवल तटस्थ हेतु हैं, न कि जल-तरङ्ग के स्वरूप में प्रविष्ट; उसी तरह भगवद्विग्रह भगवन्मात्र-चिदानन्दमात्र

होता है, माया उसकी अभिव्यक्ति में केवल बहिरङ्ग-हेतु होती है, न कि भगवद्-विग्रह के स्वरूप में प्रविष्ट—

सत्यज्ञानानन्तानन्द मात्रैकरसमूर्त्तयः ।
अस्पृष्ट भूरिमाहात्म्या अपिह्य् पनिषद्दृशाम् ।।
(भागवत १०. १३. ५४)

'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' (नारद पाञ्चरात्र)

चिदानन्दमय देह तुम्हारी ।
बिगत बिकार जान अधिकारी ।।
(रामचरित मानस २. १२६. ५)

इसी तरह, यह भी समझो कि जैसे सुवर्ण के ही कटक-मुकुट-अङ्गदादि भेद होते हैं; जल के ही तरङ्ग-फेन-बुद्बुदादि भेद होते हैं; भूमि के ही पर्वत-वृक्ष-तृण-गुल्मादि भेद होते हैं; वैसे ही एक शुद्ध ब्रह्म के ही वैकुण्ठादिलोक-विग्रह और भूषणालङ्कारादि भेद मान्य हैं। ऐसे चिदानन्दस्वरूप भगवान् के अङि्घ्र मध्व-मृतासव (चरण-कमल-रसामृत) में मन रमे, यह बहुत ही सौभाग्य की बात है। वैसे पानपात्र को रस का आस्वादन नहीं आता, लेकिन यह रस अन्य रसों से विलक्षण है। हम नहीं बोल रहे, ब्रह्माजी बोल रहे हैं, कोई लुल्लू (लूलू) बुद्धू नहीं। वे कहते हैं—

ब्रजवासियों का जीवन सफल है। ये इन्द्रियरूपी पानपात्र के द्वारा गोविन्द के चरण-कमल-मध्वमृतासव का पान करते हैं। यह रस दिव्य है। यहाँ जहाँ भोक्ता को रसपान का मुख्य फल मिलता है, वहाँ पानपात्र-इन्द्रियों को भी उसका आस्वाद मिलता ही है; किन्तु हम तो न ये ब्रजवासी हैं और न इनके पानपात्र ही। हम तो इन्द्रियाधिष्ठात्री देव हैं। हम भी धन्य-धन्य हो रहे हैं। जब ब्रजवासी-नेत्रों के द्वारा हृषीकेश भगवान् गोविन्द के रूपामृत का दर्शन करते हैं, तब ब्रजवासी और उनके नेत्र के साथ ही सूर्य भी धन्य-धन्य होते हैं। जब ये घ्राण के द्वारा श्रीभगवान् के मङ्गलमय पादारविन्द के सौगन्ध्यामृत का आघ्राण करते हैं, तब इनके सहित घ्राण और अश्विनी कुमार भी धन्य-धन्य होते हैं। जब ये चरणों से चलकर प्रियतम श्याम सुन्दर तक पहुँचते हैं, तब इनके सहित इनके पाँव और उसके अधिदेव विष्णु भी मानो धन्य-धन्य होते हैं।"

"इसी तरह, जब द्वारभूत बाह्य इन्द्रियों के द्वारा उपनीत, मन के द्वारा सङ्कल्पित और अहङ्कार के द्वारा अभिमत पद-सरोज-मध्वमृतासव का द्वारिरूपा बुद्धि निश्चय कर, इन ब्रजवासियों के आत्मा को उसका समर्पण करती है, तब इनके सहित बुद्धि और उसका अधिदेव मैं (ब्रह्मा) स्वयं को धन्य-धन्य मानता हूँ।"

८. रसाभिव्यक्ति के गोपन में दक्ष 'वेणु' उच्चकोटि का भगवद्भक्त

यही इस रस की विशेषता है। भगवान् के मङ्गलमय मुखचन्द्र से आविर्भूत जो वेणुगीतामृत वो वंशी के छिद्रों से निकल कर निरावरण कर्ण कुहरों के द्वारा गोपाङ्गनाजनों के हृदय में पहुँचा। मुख्यरूप से तो वह गोपाङ्गनाओं के लिये था; लेकिन वेणु भी धन्य-धन्य हुआ, भले ही वह (वेणु) जड़ हो ! जड़ काहे को कहते हो ? 'कृष्णोपनिषत्' में लिखा है—

'वंशस्तु भगवान् रुद्रः' (कृष्णोपनिषत् ८)

'भगवान् रुद्र ही बाँस की वंशी बने।'

इसलिये भाई व्रजवासियो ! विना आराधना के कुछ मिलता नहीं। तुलसीदास कहते हैं—

इच्छित फल विनु शिव अवराधें।
लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥
(रामचरित मानस १. ७०. ८)

इन्ह सम काहुँ न शिव अवराधे।
काहुँ न इन्ह समान फल साधे॥
(रामचरित मानस १. ३१०. २)

हमारे श्यामसुन्दर को 'बड़ी बढ़ियाँ दुलहन मिले' ऐसी इच्छा थी। वैसे तो बहुत-सी बढ़ियाँ दुलहिन बनाने योग्य किशोरियाँ उनके पीछे-पीछे भटक रही थीं; लेकिन एक दुलहिन ऐसी थी जिसका नाम 'राधा' है और जो श्रीश्याम-सुन्दर के ही स्वरूपभूत माधुर्यसार सर्वस्व की अधिष्ठात्री है, तो भी उसने बाह्य चमत्कार से श्रीमदनमोहन को ऐसा मोहित कर लिया कि उससे मुग्ध होकर इन्होंने सोचा, 'इन्हें पाने के लिये किसी देवता की आराधना करें।' इन्होंने सुन रखा था—

इच्छित फल विनु शिव अवराधे।
लहिअ न कोटि योग जप साधे॥
(रामचरित मानस १. ७० ८)

शिवजी की आराधना प्रारम्भ की। कौन-से शिवजी की ? वही बाँस की वंशी की। पहले कह ही चुके हैं—

'वंशस्तु भगवान् रुद्रः' (कृष्णोपनिषत् ८)

भगवान् रुद्र ही बाँस बन के वंशी बने। श्यामसुन्दर ने उनकी पूजा की। पूजा के लिए इष्टदेव को पधराने हेतु उपयुक्त आसन चाहिए। श्रीश्यामसुन्दर ने अपने मुखचन्द्र को ही सिंहासन बना लिया और उस पर वंशी को पधराया। मुकुट का छत्र धारण करवाया। कानों में कुण्डलों से नीराजन किया। हस्तारविन्द के अंगुलि दलों से पाद-संवाहन किया। भोग भी चाहिए। मुखचन्द्र का जो अधर-सुधारस, उसी का भोग लगाया। फिर क्या था? इतनी दिव्यातिदिव्य आराधना होते ही शिवजी ने कहा—**'वरं ब्रूहि'**, 'वर माँगो।'

जो वर अभीष्ट था, वह शिवजी के प्रसाद से मिल गया।

हाँ, तो वंशी की महिमा अद्‌भुत है।

एक सखी ने कहा—'वंशी क्या जाने, यह तो जड़ है।'

दूसरी ने कहा—नहीं, सखि! यह जड़ नहीं है, यह तो राजा वेन है। तुमने सुना नहीं, वेन क्या कहता था—

'न यष्टव्यं न दातव्यं', 'बलिं च मह्यं हरत मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् पुमान्'
(भागवत ४. १४. २८)

यह वेणु भी वही कहता है—'मत यज्ञ करो, मत दान दो, सदा-सर्वदा हमारा ही चिन्तन करो।'

सखी ने कहा—अरी! यह वेणु भला, वह वेन कैसे है? वेणु के अन्त में तो 'ण्' है, 'उ' है।

उत्तर मिला—अरी वीर! णत्व और उत्व की ओढ़नी ओढ़कर वही वेन, यह वेणु बनकर आया है। वेणुरूप से न आता तो उसकी बात कोई सुनता ही कहाँ? वेन तो नास्तिकता में प्रसिद्ध हो चुका था। इसलिये 'णत्व' और उत्व की ओढ़नी ओढ़कर-छिपकर आया है, वेणु बनकर आया है। यह भी वही कहता है जो वेन कहा करता था—

'न यष्टव्यं, न दातव्यं, न होतव्यम्....'

कोई सहेली—सखि! वेणु क्या जाने, यह तो नीरस है। श्रीकृष्ण के पादारविन्द के संस्पर्श से पाषाण पिघल गये, मक्खन के तुल्य कोमल[२७] हो गये। जो गतिमान् थे वे श्रीकृष्णचन्द्र के मंगलमय मुखचन्द्र के सुमधुर-अधर-सुधारस के विनिःसृत-वेणु-गीतामृत को सुनकर स्थावर हो गये, यमुना स्तब्ध रह गयी - इन्द्रनीलमणि-जैसी हो गयी, पशु-पक्षी जहाँ-के-तहाँ निश्चल हो गये—

२७- कहीं-कहीं पहाड़ी पर आज भी भगवान् के चरणचिह्न ऐसे मालूम पड़ते हैं, जैसे कि वे पङ्क पर अङ्कित हों!

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥

(भागवत १०. २१. १९)

पर, वीर ! इतना सब होने पर भी यह बाँस की वंशी ज्यों-की-त्यों है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसा हो भी क्यों नहीं ? यह कोई नयी बात तो नहीं ? यह कोई इसका नया स्वभाव नहीं, पुराना स्वभाव है। मलयाचल पर जितने वृक्ष होते है, वे सब मलयचन्दन हो जाते हैं। पर बाँस-तो-बाँस ही रहता है—

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कङ्कोल निम्बकुटजा अपि चन्दना:[२८]स्युः ॥

(नीतिशतक ८०)

"उस सोने के सुमेरुपर्वत से हमें क्या और चाँदी के पर्वत से भी क्या कि जिसके आश्रित वृक्ष सदा जैसे-के-तैसे ही बने रहते हैं ? हम तो मलयाचल को ही श्रेष्ठ मानते हैं कि जहाँ कंकोल, नीम और कुटजादि तीते वृक्ष चन्दन हो जाते हैं।"

'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति',

सखि ! सच है, यह वंशी सच्छिद्र है। इसी से यह सदा ही अनर्थ करने में ही तुली रहती है।

दूसरी बात है कि जहाँ पोलापन है, वहाँ कोई ज्ञानोपदेश काम नहीं करता। यह वंशी गाँठोंवाली है। एक गाँठ किसी के मन में पड़ जाय तो वह अच्छा व्यक्ति नहीं माना जाता। जड़-चेतन की ग्रन्थि छुटाये छूटती नहीं—

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई।
यदपि मृषा छूटत कठिनई ॥

(रामचरित मानस ७. ११७ ४)

इस वंशी में तो अनेकों गाँठें हैं, फिर बोलो तो सखि ? इस पर कोई प्रभाव पड़े तो कैसे ? देखो तो सही, इस पर कोई असर है क्या ? इसने कोई तप किया होता तो कम-से-कम हरी-भरी तो होती ?

'गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः'

(भागवत १०. २१. ६)

---

२८. पाठा०—चन्दनानि

किसी एक ने कहा—'नहीं नहीं। यह बड़ी चतुर है। यह समझती है कि 'यदि मैं प्रियतम के हस्तारविन्द के स्पर्श से पल्लवित होगयी, प्रियतम के मुख-चन्द्र के सुमधुर अधर-सुधारस से अगर हम में रसोद्रेक हुआ, पल्लवित हो गयी, निश्छिद्र हो गयी तो बजने योग्य (लायक) रहूँगी नहीं तो प्रभु हमको क्यों रखेंगे ? जिस रस की अभिव्यक्ति से प्रियतम का वियोग हो जाय तो वह रसाभिव्यक्ति चूल्हे में जाय ! जब बजने लायक रहूँगी ही नहीं, पल्लवित हो जाऊँगी, निश्छिद्र हो जाऊँगी तो प्रियतम छोड़ देंगे। फिर, क्या फायदा ?''

'गुप्त प्रेम सदा उर रखिये', 'गुप्त प्रेम सखि सदा दुरैये।',

"सखि ! वंशी निश्छिद्र हो जाती, बजती नहीं तो श्यामसुन्दर उसे रखते ही क्यों ? उसने सोचा 'कहीं टोना न लग जाय', बच्चों को माताएँ डिठौना (डिठौरा) लगाती हैं। सखियाँ राधारानी को डिठौना लगाती हैं, सोचती हैं कि कहीं टोना न लग जाय ? इसलिये यह सोचती है कि उस रसाभिव्यक्ति से क्या लेना, जिससे प्रियतम का वियोग हो ? यही कारण है कि यह प्रेम को व्यक्त नहीं होने देती। अव्यक्त रखती है।'

इस तरह, इस वंशी के जीवन में उत्कृष्ट वैराग्य की प्रतिष्ठा है। एक 'अपर' वैराग्य होता है और दूसरा 'पर'।

दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।
(योगदर्शन १. १५)

"देखे और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णा रहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था है, वह वैराग्य है।"

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।
(योगदर्शन १. १६)

"पुरुष के ज्ञान से जो प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है, वह 'पर' वैराग्य है।"

लौकिक-वैदिक सर्व प्रकार की विषय-तृष्णा से शून्य वशीकार संज्ञा वाली स्थिति 'वैराग्य' है, 'पर' वैराग्य इससे भी ऊँचा है। यह पुरुष-ख्याति से होता है। सर्वाधिष्ठान स्वप्रकाश पूर्णतम पुरुषोत्तम के साक्षात्कार से होता है। इससे गुण-वैतृष्ण्य-गुणों में वितृष्णता होती है। 'शान्ति' सत्त्वगुण का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। दुनियाँ में शान्ति कौन नहीं चाहता ? शान्ति से भी जिसे वैराग्य है, उसके जीवन में 'पर' वैराग्य है। सत्त्वगुण का सबसे ऊँचा परिणाम शान्ति है। जो उससे भी निरपेक्ष है, वह परम-विरक्त है। साधक कम-से-कम शान्ति तो चाहते हैं। विषयों का त्याग इसलिए करते हैं कि शान्ति मिले। विषय से अशान्ति

मिलती है। इसी तरह उपरति चाहते हैं ! परन्तु ऊँचे-से-ऊँचे सात्त्विक परिणाम की भी अपेक्षा न रह जाय, यह 'पर-वैराग्य' है। सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति परिणामिनी, प्रतिसङ्क्रमणशीला और सान्ता है। महावाक्यजन्य ब्रह्माकारवृत्ति रूप ज्ञान भी अनित्य ही है. अतः 'परवैराग्य' की रीति से उसका संन्यास अपेक्षित है। तभी **'ज्ञानञ्चमयिसंन्यसेत्'** (भागवत ११. १९ १) इस वचन की सार्थकता भी है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च ॥
(यो० दर्शन ३. ४९)

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥
(योग दर्शन ३. ५०)

"सत्त्व (चित्त)और पुरुष इन दोनों की भिन्नतामात्र का ही जिसमें ज्ञान रहता है, ऐसी सबीज समाधि को प्राप्त योगी का सब भावों पर स्वामिभाव और सर्वज्ञ भाव हो जाता है।"

'उस (उपर्युक्त सिद्धि) में भी वैराग्य होने से, दोष के बीज का नाश हो जाने पर; कैवल्य की प्राप्ति होती है।"

इसके विपरीत जो चिति (अखण्ड स्वप्रकाश संवित् स्वरूपभूत बोध) है, वह अपरणामिनी अप्रतिसङ्क्रमणशीला और अनन्त है उसका संन्यास असंभव है; अतः विधिगोचर भी नहीं है। इसी तरह, 'ध्यान' वृत्ति-रूपा भक्ति भी अनित्य होने से उसका संन्यास संभव है, जबकि निरतिशय परप्रेमास्पद भगवान् में नित्य निरतिशय प्रेम-लक्षणा-भक्ति भगवदात्मरूप ही है, अतः उसका संन्यास असंभव है, विधिगोचर नहीं है।

इस तथ्य को आप यों समझें—प्रेम, काम या इच्छा का विषय लोक में भी आनन्द ही मान्य है। सुख में साक्षात् कामना होती है। अन्य में सुख-साधन होने से कामना होती है। आनन्द और तद्रूप आत्मा निरतिशय, निरूपाधिक परप्रेमास्पद है। अन्य वस्तुएँ सातिशय, सोपाधक,अपरप्रेमास्पद हैं। कान्तको कान्ता की कामना, उसको सुखाभिव्यञ्जक अतएव सुखमय ही समझकर होती है। कामना या तृष्णा से व्यथित हृदय में स्वरूपभूत आत्मानन्द का प्राकट्य नहीं होता। अभिलषित कान्ता की प्राप्ति होने पर क्षण भर के लिये वह तृष्णा निवृत्त हो जाती है, तभी अन्तर्मुख किञ्चित् शान्त मन पर आत्मानन्द का प्राकट्य होता है, परन्तु 'आत्मा ही आनन्द है', इसे तो विवेकी ही जानता है। विवेकी समझता है कि यद्यपि कान्ता-प्राप्ति के अनन्तर आनन्द होता है, तथापि कान्ता साक्षात् आनन्दरूप नहीं है; किन्तु कान्ता-प्राप्ति की तृष्णानिवृत्ति, मनः शान्ति से आत्मा का ही आनन्द (आनन्द स्वरूप आत्मा ही) प्रकट होता है। आनन्द की प्राप्ति में कान्ता दूरतः हेतु है, वह भी आनन्द जनकत्व या आनन्दमयत्व की भ्रान्ति से।

जसे विष के प्रभाव से कटु निम्ब में मिठास प्रतीत होती है, वैसे ही भ्रान्ति या मोह के प्रभाव से मांसमयी कान्ता में आनन्द का भान होता है। शुद्ध आनन्द या आत्मा में जो प्रेम, आनन्द, कामना है—वह तो स्वाभाविक है। वह तो आत्मा का अंश ही है।

अद्वैत आत्मा ही निरुपाधिक प्रेम का आस्पद कहा जाता है; परन्तु वहाँ प्रेम और उसके आश्रय तथा विषय में भेद नहीं है। प्रेम-आनन्द रस यह आत्मा का स्वरूप है। रसरूप आनन्द से ही समस्त विश्व उत्पन्न होता है, अतः सब में उसका होना अनिवार्य है। जिस तरह सोपाधिक आनन्द और सोपाधिक प्रेम सर्वत्र ही है, उसी तरह कान्ता भी सोपाधिक आनन्द रूप कही जा सकती है। अतएव वह सोपाधिक प्रेम का विषय भी है। निरुपाधिक प्रेम तो निरुपाधिक आत्मा में ही होना ठीक है। जैसे सत् के ही सविशेष रूप में अनुकूलता-प्रतिकूलता, उपादेयता-हेयता होती है, निर्विशेष तो शुद्ध आत्मा ही है; वैसे ही सविशेष आनन्द और प्रेम में भी हेयता, उपादेयता है। सुन्दर-मनोहर देवता और तद् विषयक प्रेमादि उपादेय है, सुन्दरी वेश्यादि की आनन्दरूपता और तद्विषयक प्रेम हेय है। जैसे अति पवित्र दुग्ध भी अपवित्र पात्र के संसर्ग से दूषित हो जाता है, वैसे ही आनन्द और प्रेम भी अपवित्र उपाधियों के संसर्ग से अपवित्र (दूषित) समझा जाता है शास्त्र-निषिद्ध विषयोंमें आनन्द और प्रेम दोष है, हेय है। शास्त्रविहित विषयों में आनन्द और प्रेम पुण्य है, उपादेय है।

निर्विशेष सर्वोपाधिमुक्त प्रेम, आनन्द तो स्पष्ट ही आत्मा या ब्रह्म ही है। इतने पर भी आनन्द और प्रेम सभी कहने योग्य है। अपवित्र विषय के दूषण से कामिनी आदि विषयक आत्मा के ही अंश प्रेम को काम या राग आदि कहा जाता है। देवता विषयक प्रेम को भक्ति आदि कहा जाता है। सजातीय में ही सजातीय का आकर्षण होता है, बस यह आकर्षण ही प्रेम या काम है। कान्ता-कान्त दोनों ही में रहने वाला तत्तदवच्छिन्न रस या आनन्द में ही जो परस्पर आकर्षण है, वही काम है। अखण्ड ब्रह्माण्ड में विस्तीर्णकामविन्दु 'मन्मथ' है। **'सोऽकामयत'** (तैत्तिरीयो० २. ६) यह प्रजा की सिसृक्षारूप काम ही प्राथमिक 'आधिदैविक-काम' है। इसी काम द्वारा प्रकृति-संसृष्ट होकर भगवान् अनन्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं। यह काम भी भगवान् का अंश ही है—

'कामस्तु वासुदेवांशः' (भागवत १०. ५५. १)

इस तरह समष्टि ब्रह्म का प्रकृति की ओर झुकाव 'आधिदैविक काम' है। अनन्त ब्रह्माण्डनायक का प्रकृति में वीर्याधान का प्रयोजक काम-सागर 'साक्षान्मन्मथ है। कहा भी है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

(भगवद्गीता १४. ४)

जहाँ शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्म का स्वरूप में ही आकर्षण होता है, किंवा आत्मा का अपने ही अत्यन्त अभिन्न स्वरूप में ही जो आकर्षण होता है या निरतिशय, निरुपाधिक प्रेम है, वह तो आत्म-स्वरूप ही है। यही राधा-कृष्ण, गौरी-शंकर का परस्पर प्रेम, परस्पर आकर्षण है। यह शुद्ध प्रेम ही शुद्ध काम है। यह कामेश्वर या कृष्ण का स्वरूप ही है। सौन्दर्य-माधुर्यसार-सर्वस्व-निखिल रसामृत-मूर्ति कृष्णचन्द्र का जो अपनी ही स्वरूपभूता माधुर्य्याधिष्ठात्री राधा में आकर्षण है, वह तो 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' है। इस तरह ज्ञान और काम-प्रेम या भक्ति जहाँ स्वरूपार्थक या स्वरूपात्मक ही हैं, वहाँ उनके त्याग का प्रश्न ही नहीं है। हाँ गुण-वैतृष्ण्य का महत्त्व अवश्य है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥
(भगवद्गीता १४. २२)

"हे पाण्डव ! गुणातीत सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश एवं रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति और तमोगुण के कार्य मोह के उपलब्ध होने पर न द्वेष करता है और न उनकी निवृत्ति होने पर उनको चाहता ही है।"

उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट प्रकाशात्मक सत्त्व निवृत्त हो जाय और अवष्टम्भात्मक-लयात्मक-मोहात्मक तम प्रवृत्त हो जाय तो व्याकुलता नहीं। उपष्टम्भात्मक रज के प्रवृत्त हो जाने पर भी खिन्नता नहीं। इस प्रकार की वितृष्णता बहुत ऊँची चीज है। विशुद्ध अन्तःकरण में ये सब बातें बनती हैं।

इस तरह भगवद्भक्त को अनपेक्ष होना आवश्यक है। वेणु उच्चकोटि का भगवद्भक्त है। रसाभिव्यक्ति के गोपन में समर्थ है। प्रीति की रस-रीति को जानता है।

६. वेणुवत् परवैराग्य-महिमान्वित व्रज के रसिकप्रवर

महाराज ! क्या बतायें, यहाँ का (व्रज के रसिकों का) तो वैराग्य अद्भुत ही है। यहाँ के रसिक ऐसा मानते हैं कि परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र को पाकर यदि उनके सम्मिलन् की कामना हो तो वैराग्य कमजोर पड़ता है। जो श्रीराधारानी के उपासक हैं, उन्हें भी श्रीकृष्ण एकान्त में मिलते हैं। वे चाहते हैं कि इनका आलिङ्गन करें, पर ये दूर रहते हैं। यह है, यहाँ का वैराग्य ? कोई तमाशा थोड़े है ! दुनियाँ के लोग विषयों में वैराग्य धारण करते हैं, ये तो परात्पर श्रीकृष्ण से वैराग्य लेते हैं।

श्रीहित हरिवंश महाप्रभु कहते हैं—

अलंविषयवार्त्तया नरककोटिवीभत्सया
वृथाश्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः।

परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः
परं तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु ।।
(राधासुधानिधि ८३)

"कोटि-कोटि नरकों से भी घृणास्पद भोगों की चर्चा रहने दो । श्रुति-कथाओं में श्रम करना निरर्थक है । हाय-हाय ! एकाकी भावरूप मोक्ष से तो भय लगता है । यदि शुकादि परमेश्वर के भजन में उन्मत्त हैं तो उससे मुझे क्या लाभ है, मेरा मन तो केवल श्रीराधाजी के चरण-कमल-रस में मज्जन करता रहे ।"

मैं तृण छूकर-अञ्चल (आँचल) की शपथ खाकर कहती हूँ, मेरे तो प्राण-नाथ श्रीराधा हैं—

रहौ कोऊ काहू मनहिं दिये ।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा शपथ करौं तृण छिये ।।
जे अवतार कदम्ब भजत हैं, धरि दृढ़ व्रत जु हिये ।
तेऊ उमगि तजत मर्य्यादा, वन विहार रस पिये ।।
खोये रतन फिरत जे घर-घर कौन काज ऐसे जियनि जिये ।
जै श्रीहित हरिवंशी अनत सचु नाहीं बिन या रजहिं लिये ।।
(स्फुटवाणी २०)

"हमारी स्वामिनी श्रीराधारानी के श्यामसुन्दर प्रियतम हैं, इसलिये हम उनका भी आदर करती हैं, उनमें कोई राग नहीं, उनके स्पर्श की कोई कामना नहीं ।"

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि इन सखियों को श्रीकृष्ण संस्पर्श जन्य सौख्य-आनन्द अपने आप प्राप्त होता है । जैसे वृक्ष में पानी दो तो पल्लवों को वह अपने आप ही मिल जाता है, वैसे ही श्रीराधारानी को जो श्रीकृष्ण-संस्पर्श से सुख प्राप्त होता है वह उनके इन व्यूहस्वरूपा सखियों को अपने आप प्राप्त होता है । श्रीकृष्ण-साक्षात्कार से प्राप्तसुख से भी कई कोटि गुणित लोकोत्तर सुख इन्हें प्राप्त होता है । इनमें स्वसुख की भावना नहीं । धन्य-धन्य वे प्राणी हैं, व्यक्ति हैं, जो संसार के सब आकर्षणों से विमुक्त होकर श्रीकृष्ण के पादारविन्द के आलिङ्गन की कामना करते हैं । दौरात्म्य को दूर करके योगीन्द्र लोग श्रीकृष्णचन्द्र के पादारविन्द का हृदय से बार-बार आलिङ्गन करते हैं । ऐसा आलिङ्गन बड़े सौभाग्य से मिलता है । सचमुच में बड़े सौभाग्य की बात है कि संसार से विमुक्त होकर के भगवान् के मंगलमय पादारविन्द, हस्तारविन्द, मुखारविन्द के संस्पर्श की कामना उदित हो । इससे भी ऊँची बात है, इससे भी वैराग्य करो । तब श्रीराधा के नित्य-निकुञ्ज में प्रवेश होगा ।

इस तरह, जैसे श्रीराधाजी की अन्तरङ्गा सखियों को, श्रीकृष्ण के मुख-

चन्द्र पर सुशोभित मुरलीको अनुपम रस का आस्वाद मिलता है, वैसे ही श्रीकृष्ण-चन्द्रके शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्धके आस्वादनमें संलग्न व्रजवासियोंकी इन्द्रियोंको भी आनन्द मिलता है। इतना ही नहीं। चषक से कथञ्चित् सम्बन्ध रखने वाले सूर्य नारायण, वरुण, अश्विनीकुमार, ब्रह्म, रुद्रादि देवता अपने आपको दूर सम्बन्ध से भी कृतार्थ मानते हैं। इतनी ऊँची स्थिति है यह।

१०. रस-सागर श्रीकृष्णचन्द्र में राधा विषयक रसाभिव्यक्ति

फिर जहाँ श्रीकृष्ण परमानन्द-कन्द जिनकी आराधना करते हैं, जिनके लिये मनोरथ करते हैं, उनके सम्बन्ध में क्या कहना? श्रीश्यामसुन्दर मनोरथ करते हैं कि श्रीराधारानी की आराधना में कैसा अलङ्कार हो, कैसी चुंदरी हो, कैसी चूड़ियाँ हों, कैसी इन्द्र नीलमणि की माला हो, कैसे नयनों का अञ्जन हो, कैसा सिन्दूर हो? यह हमारी तुम्हारी सामान्य लोगों की कल्पना नहीं, यह तो अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक, सर्वाधार, परम निष्काम पूर्णतम पुरुषोत्तम की कल्पना है। फिर बोलो, श्रीराधारानी की उन चूड़ियों का ध्यान करना ठीक है या नहीं? कहना पड़ेगा कि ठीक है। तभी तो केवल कड़वा और फटी गुदड़ी रखनेवाले तथा सूखी रोटी खानेवाले विरक्त लोग भी भीतर से उन चूड़ियों का ध्यान करते हैं। कारण क्या है? राधारानी के मंगलमय श्रीअङ्ग के आभूषणों की तो बात ही क्या? वृन्दावन की तरुणियों के जो मण्डन हैं वे कंकड़-पत्थर-हीरा-जवाहरात के नहीं, वे तो साक्षात् श्यामसुन्दर को ही अपने मंगलमय श्रीअङ्ग में विविध आभूषणों के रूप में धारण करती हैं—

> **श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।**
> **वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥**
>
> (श्रीकवि कर्णपूर कृत)

"श्रीव्रजबालाओं ने अपने प्रियतम के वियोग जन्य तीव्रताप को प्रशान्त करने के लिये अपने कानों में नीलकमल के कर्णफूल, नेत्रों में अञ्जन और हृदय में नीलवर्ण की महेन्द्र-नीलमणि का हार पहना है। इसी तरह मृगमद और नील निचोल को धारण कर रखा है। उन्होंने इन श्यामवर्ण की वस्तुओं को धारण करके प्राणधन श्यामसुन्दर को ही धारण किया है। उनके तो अखिल मण्डन—समस्त शृङ्गार, एकमात्र 'श्रीहरि' ही हैं।"

गोपाङ्गनाओं के कानों में कुण्डल क्या हैं? कुवलय अर्थात् (रात्रि विकासी स्थलोद्भव कमल विशेष) कमल कुड्मल। आँखों में अञ्जन कौन है? जैसे गोपाङ्गना कंकड़-पत्थर के आभूषणों को नहीं धारण करतीं, वैसे ही करिखा आँखों में नहीं लगातीं। जैसे मदनमोहन श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन ही कुवलय होकर गोपाङ्गनाओं के कुण्डल बने हैं, वैसे ही अञ्जन बनकर उनकी आँखों की

शोभा बढ़ा रहे हैं। उरःस्थल में जो महेन्द्र नीलमणि की माला है, वह भी श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन मदनमोहन ही हैं। उरोजों में मृगमद भी श्यामसुन्दर-मदनमोहन श्रीकृष्ण ही हैं। वृन्दावन की तरुणियों के अखिलमण्डन श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द ही हैं। अर्थात् ये गोपाङ्गनाजन श्यामतेज का नीलाम्बर, अञ्जन, कुवलय, महेन्द्र नीलमणि माला आदि सम्पूर्ण अलंकार धारण करती हैं।

बात ठीक ही है—

ईदृशा पुरुषभूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक् तदीय कुलशीलयौवनं धिक् तदीय गुणरूप सम्पदः॥
(श्रीआनन्दवृन्दावन चम्पू ८. ३५)

"ऐसे पुरुष-भूषण से जो सुभ्रु अपने हृदय को नहीं भूषित करतीं उनके कुल, शील, यौवन और गुण, रूप सम्पत्ति को धिक्कार है। श्यामसुन्दर पुरुष-भूषण, पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र से जिन्होंने अपने को भूषित नहीं किया वे ही अपने को कंकड़-पत्थरों से भूषित किया करें।"

पूर्णानुरागरससार सर्वस्व श्रीराधारानी हैं। उनकी पाद-पद्म-नख-मणिच्छटा के अद्भुत प्रभाव से ही गोपाङ्गनाजनों में मदनमोहन के मोहन का अद्भुत सामर्थ्य आविर्भूत होता है। ऐसे श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी के सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य, सौगन्ध्य, भूषणालङ्कारादि का क्या कहना? माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री श्रीराधारानी के श्रीअङ्गों के जो आभूषण हैं सब चिन्मय हैं, आनन्दमय हैं, श्रीकृष्णचन्द्रकृत मनोरथ के साकार रूप हैं, अद्भुत हैं, दिव्यातिदिव्य हैं। ऐसे प्रभु में रति गोपाङ्गनाओं की कृपा से ही सम्भव है।

११. भगवद्विषयक रति की क्रमिक अभिव्यक्ति

तीन प्रकार की रति होती है—(१) साधारणी (२) समञ्जसा और (३) समर्था। साधारणी-रति कुब्जा में मानी गयी है। बड़े-बड़े योगीन्द्र जिसे चाहते हैं, जिसके लिये तरसते हैं, उस भगवत्स्वरूप के आलिङ्गन को ही तो कुब्जा ने चाहा। भला उसने क्या बेजा किया? कौन-सा पाप किया? लेकिन शुकदेवजी कुब्जा पर बड़े नाराज! कहते हैं—

'दुर्भगेदमयाचत।' (भागवत १०. ४८. ८)

सारे विषय-सुखों का त्याग करके श्रीकृष्ण के संस्पर्श को चाहा। हमारी दृष्टि से तो परम वन्दनीय है कुब्जा। उसमें साधारणी रति' है। फिर भी शुकदेवजी नाराज? बात क्या है? उनकी दृष्टि से तत्सुखसुखित्व का महत्त्व है। द्वारकास्थ पट्ट-महिषियों में समञ्जसा-रति मानी गयी है। साधारणी-रति और

समर्था दोनों प्रकार की रति का इसमें सामञ्जस्य है। इसमें स्वसुख-सुखित्व और तत्सुख-सुखित्व का सामञ्जस्य है। वे चाहती तो हैं तत्सुखसुखित्व को ही। पतिव्रता हैं। अपने प्राणधन प्रियतम की निरपेक्ष होकर के आराधना करें, ऐसा ही चाहती हैं। वे वसन-भूषण-अलङ्कार-अङ्गराग अधर-यावक (लिपिस्टिक) धारण करती हैं, अपने (उनके) सुख के लिये नहीं, प्रियतम के सुख के लिये। लेकिन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का ऐसा अद्भुत-अनुपम चमत्कारपूर्ण स्वरूप ही है कि तत्सुखसुखित्व की भावना आ जाती है। तत्सुखसुखित्व और स्वसुखसुखित्व का सामञ्जस्य हो जाता है। इसलिये उनकी (द्वारकास्थ पट्टमहिषियों की) रति 'समञ्जसा' कहलाती है। **'समर्थारति'** गोपाङ्गनाओं में मानी जाती है। उनमें केवल तत्सुखसुखित्व की भावना है। स्वसुखसुखित्व का लेश भी नहीं। ऐसी समर्थारति उन्हें कैसे प्राप्त हुई? श्रीराधारानी के चरणारविन्द के रज को उठाकर उन्होंने सिर पर धारण किया है। इसी से उन्हें यह समर्थारति प्राप्त हुई है।

स्यमन्तकमणि दुर्लभ है, चिन्तामणि अति दुर्लभ है और कौस्तुभमणि परम दुर्लभ-अनन्यलभ्य है। कुब्जा में रहनेवाली 'साधारणी-रति' स्यमन्तकमणि के तुल्य दुर्लभ है। द्वारकास्थ पट्टमहिषियों में रहनेवाली 'समञ्जसा रति चिन्तामणि के तुल्य अति दुर्लभ है। गोपाङ्गनाओं में रहनेवाली 'समर्थारति' कौस्तुभमणि के तुल्य परम दुर्लभ-अनन्यलभ्य है। उनकी रति में निष्कामता की पराकाष्ठा है।

महानुभावों ने प्रेम-रति-प्रीति उसको माना है, जिसमें सम्पूर्ण रस और भाव तरङ्ग-सदृश उन्मज्जित और निमज्जित होते हैं—

सर्वेरसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ।
उन्मज्जंति निमज्जंति यत्र स प्रेमसंज्ञकः॥

(चैतन्य चन्द्रोदयम् ३ अङ्कः, ८)

"प्रेम तत्त्व को रसिक लोग मूकरसास्वादवत् मानते हैं। कोई तो आन्तरमधुरवेदना को ही प्रेम कहते हैं। यद्यपि वधू आदि में 'राग', यागादि में 'श्रद्धा', गुरु आदि में 'भक्ति', सुखादि में 'इच्छा', ये सभी प्रेम के ही रूप हैं, तथापि सुखमात्र का अनुवर्तन करने वाली अन्तःकरण की सात्त्विकी वृत्ति ही 'प्रेम' है। यह प्राप्त-अप्राप्त और नष्ट में भी रहती है। इच्छा नष्ट और प्राप्त में नहीं होती—

अथकेयं भवेत्प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि।
रागो वध्वादिविषयेश्रद्धायागादिकर्मणि।
भक्तिः स्याद् गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि॥
तद्यस्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी।
प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते॥

(पञ्चदशी १२।२१, २२)

प्रेम-रसज्ञ लोग रस स्वरूप परमात्मा को प्रेम कहते हैं—

'कृत्स्नो रसघन एव' (बृहदारण्यको० ४. ५. १)

'रसोवै सः' (तैत्तिरीयोपनिषत् २. ७)

इसीलिये द्रवीभूत अन्तःकरण पर अभिव्यक्त रसस्वरूप परमात्मा ही प्रेम के रूप में प्रकट होता है। अतएव आचार्यों ने कहा है—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारोरसतामेति पुष्कलम्॥
(भक्ति रसायन १. १०)

अस्पृष्ट-दुःख, निरुपम-सुखसंवित्-स्वरूप परमात्मा 'प्रेम' है। यह भी माना गया है—

नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परमिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।
निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि॥
(श्रीभगवद्भक्तिरसायने १. १)

"सर्वत्र सत्तारूप में विद्यमान मुकुन्द (परमेश्वर)—विषयक भक्तियोग को नौ रसों से मिला हुआ अथवा केवल (स्वतन्त्ररसरूप से) परम पुरुषार्थ कहते हैं। अनुपम सुख को प्राप्तिरूप और दुःख जिसे छू तक नहीं जाता ऐसे, उस (भक्तियोग) को मैं सबको सन्तुष्ट करने के लिये शास्त्रीय दृष्टि से विवेचना करता हूँ।"

प्रेम की स्थिति प्राणिमात्र में अणु-परिणाम में, पार्षदादि में मध्यम परिमाण में और गोपाङ्गनाजनों में महत्परिमाण में है। श्रीराधारानी वृषभानु-नन्दिनी में वही प्रेम परम महत्परिमाण परिमित है। पूर्णतम माधुर्य का प्रकाश यहीं है। यहाँ की यह कथा प्रसिद्ध है कि श्रीमन्नारायण चतुर्भुज रूप से विराजमान श्रीकृष्ण का निकुञ्ज में जहाँ गोपाङ्गनाओं को दर्शन हुआ, वहाँ श्रीराधारानी की दृष्टि के आते (पड़ते) ही वह ऐश्वरी माया लुप्त हो गयी. द्विभुज कृष्ण-रूप में ही श्रीजी को श्यामसुन्दर के दर्शन हुए।

१२. रसाभिव्यक्ति की सिद्ध परिपाटी

यहाँ (वृन्दावन) के रसिक लोग जिस समय श्रीहित हरिवंशजी, श्री-ध्रुवदासजी, श्रीनन्ददास जी आदि के या श्रीजयदेवजी के,श्रीमद्भागवत के शब्दों को रागपूर्वक रसाभिव्यक्ति-परिपाटी के अनुसार गाते हैं, उनका पुनः-पुनः गान

के माध्यम से चिन्तन-अनुसन्धान करते हैं, उस समय सचमुच में मन सारी जगह से हटकर भगवत्स्वरूप में रम जाता है। उस समय श्रीमद्भागवत का यह कथन बिलकुल चरितार्थ हो जाता है—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
(भागवत १०. ३३ ४०)

रसिक भक्त अपने-अपने अधिकारानुसार व्रज, वन या निकुञ्ज की लीलाओं का अनुसन्धान करते हैं—

'व्रजे वने निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्।'

निरतिशय स्वप्रकाश सदानन्दस्वरूप राधा-माधवरूप श्रीकृष्ण-तत्त्व यद्यपि तारतम्य विहीन है, फिर भी व्रज, वन और निकुञ्ज में उसकी उत्तरोत्तर उज्ज्वल अभिव्यक्ति मान्य है।

'कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्चनिर्वृतिवाचकः' (गोपाल पूर्वतापिन्युपनिषत् १) के अनुसार श्रीकृष्ण वेदवेद्य परिपूर्ण स्वप्रकाश सदानन्दस्वरूप परब्रह्म तत्त्व ही हैं। परब्रह्म निरतिशय होने के कारण तारतम्य विहीन है। फिर भी व्रजभूमि सर्वस्व श्रीमद् वृन्दावनधाम में वह जैसा मधुर अनुभूयमान होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। अतएव भावुकों ने जैसे द्वारकास्थ श्रीकृष्ण से मथुरास्थ श्रीकृष्ण को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है, वैसे ही व्रजस्थ श्रीकृष्ण से वृन्दावनस्थ को और वृन्दावनस्थ श्रीकृष्ण से भी निकुञ्जस्थ श्रीकृष्ण को अधिक महत्त्वपर्ण माना है।

जैसे एक ही प्रकार का स्वाति-विन्दु स्थल वैचित्र्य से विचित्र परिणाम वाला होता है, शुक्तिका में पड़कर मोतीरूप से, बाँस में पड़कर वंशलोचनरूप से, गोकर्ण में गोरोचनरूप से, गजकर्ण में गजमुक्तारूप से परिणत होता है; वैसे ही वेदान्तवेद्य तत्त्व एकरूप होता हुआ भी अभिव्यञ्जक-स्थल की स्वच्छता के तारतम्य होने के कारण तारतम्योपेत होता है। जैसे सूर्यतत्त्व की अभिव्यक्ति काष्ठ-कुड्यादि अस्वच्छ पदार्थों पर वैसी नहीं होती, जैसी निर्मल जल-काँच आदि पर होती है; वैसे ही राजस-तामस स्थलों में ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति वैसी नहीं हो सकती, जैसी निर्मल विशुद्ध स्थलों में। विशुद्ध माधुर्यभाव का प्राकट्य श्रीवृन्दावनधाम में ही माना जाता है। यह बात दूसरी है कि ऐश्वर्यशक्ति मूर्तिमती होकर प्रभु की सेवा करने के सुअवसर की यहाँ प्रतीक्षा करती रहती है। प्रभु भी मृद्-भक्षण आदि लीलाओं में मुखान्तर्गत ब्रह्माण्ड-दर्शन आदि के अवसर पर उसे स्वीकार करते हैं।

यहाँ नित्य-निकुञ्ज को श्रीवृन्दावन से भी अन्तरंग समझा जाता है। नित्यनिकुञ्ज में महाभाव स्वरूपा वृषभानुनन्दिनी परिवेष्टित शृङ्गार स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द नित्य ही रसाक्रान्त रहते हैं। यहाँ प्रिया-प्रियतम के सर्वादिक् सर्वाङ्गीण सम्प्रयोगका भी भान सदा-सर्वदा ही रहता है। जैसेकि सन्निपात ज्वर से आक्रान्त पुरुष जिस समय में शीतल-मधुर जल का पान करता है, ठीक उसी समय पूर्ण तीव्र पिपासा का भी अनुभव करता है। वैसे ही नित्यनिकुञ्ज धाम में जिस समय प्रिया-प्रियतम पारस्परिक-परिरम्भण-जन्य-रस में निमग्न रहते हैं, उसी समय तीव्रातितीव्र वियोगजन्य ताप का भी अनुभव करते हैं।

ऐसे अद्भुत तत्त्व का चिन्तन यहाँ के रसिकवृन्द करते हैं। कितनी ऊँची बात है? वे स्वयं अपने को विहारस्थली और सम्पूर्ण सामग्री बनाकर प्रिया-प्रियतम के अनुपम विहार का चिन्तन करते हैं। ऐसा इसलिये क्योंकि निरतिशय-निरुपाधिक-परम प्रेमास्पद है आत्मा! आत्मा से बढ़कर कोई और मीठी चीज है ही नहीं।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥

(बृहदारण्यको० ४. ५. ६

ब्रह्म में परोक्षता रहती है। इसलिये निरुपाधिक पर प्रेमास्पदता उसमें नहीं। लोक और वेद में यह प्रसिद्ध ही है कि —

'आत्मनस्तुकामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृह० ४. ५. ६)

अर्थात् संसार भर की समस्त वस्तुएँ स्वात्मसम्बन्ध से ही प्रेमास्पद होती हैं। स्वदेह, स्वपुत्र, स्वकलत्र एवं गेह-ग्राम-नगर-राष्ट्र यहाँ तक कि इष्ट-देवता भी स्वात्मसम्बन्धी हो प्रिय होते हैं। परमात्मा के विविध अवतारों-रूपान्तरों में भी वैसा प्रेम नहीं होता, जैसा कि स्वात्मसम्बन्धी इष्टदेव में होता है। जब शर्करादि मधुर पदार्थों के सम्बन्ध से अमधुर चूर्णादि भी मधुर प्रतीत होते हैं, तब शर्करादि स्वयं निरतिशय माधुर्य से सम्पन्न हों, इसमें कहना ही क्या? वैसे ही जिस स्वात्मतत्त्व के सम्बन्ध से अनात्मा भी प्रेमास्पद होता है, वह स्वात्म-तत्त्व स्वयं निरतिशय निरुपाधिक प्रेम का आस्पद है, इसमें कहना ही क्या? विवेकी भगवान् को कोई बाह्य वस्तु नहीं समझता। उसकी दृष्टि में तो जिस अपने आत्मा के लिए सारी वस्तुएँ प्रिय होती हैं, उसी का वास्तविक स्वरूप भगवान् हो जाते हैं। इसलिये उसका तो भगवान् के प्रति निरुपाधिक और निरतिशय प्रेम हो जाता है। भावुक उपासक अपने से भगवान् को भिन्न मानकर भी उसमें प्रेम इसलिये करते हैं कि ऐसा करने से हमारा कल्याण होगा, हमें आनन्द मिलेगा, अतः उनका वह भगवत्प्रेम भी आत्मतुष्टि के लिये ही होता है। 'भगवत्सुख में सुखी हूँ' इस भावना से ही वे तत्सुखसुखी अर्थात् भगवान् के सुख में सुखी रहते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् को साक्षात् आत्मा या परम आत्मीय मानकर ही उनमें प्रेम किया जाता है। प्रीति जिसमें होती है, वही वस्तु सबसे अच्छी लगती है। भागवत में यही कहा गया है, 'जो अपने को अति प्रिय लगे। वह भगवान् को अर्पित करे'—

यद् यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते॥
(भागवत ११. ११. ४१)

'संसार में जो वस्तु अपने को सबसे प्रिय, सबमे अभीष्ट जान पड़े वह मुझे समर्पित करे। ऐसा करने से वह वस्तु अनन्त फल देने वाली होती है।"

भगवान् को भूषण समर्पण कर दिया, धन समर्पण कर दिया, स्त्री-पुत्रादि समर्पित किया तो अभी पूर्ण समर्पण नहीं हुआ। जो अति प्रिय है, उसे समर्पण करो। आत्मा अतिप्रिय है, उसे समर्पण करो, अर्थात् आत्म-समर्पण करो। कैसे? आत्मा को ही मधुर मनोहर पक्वान्न के रूप में, दिव्यमाला के रूप में, पीताम्बर के रूप में, समर्पित करो। श्रीश्यामसुन्दर के श्रीअङ्ग को आच्छादित करने वाला पीताम्बर कौन है? श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी ही दामिनी द्युति विनिन्दक पीताम्बर हैं। **'गात्रे कोटि तडिच्छवि'** (राधासुधानिधि ९८) जिनके श्रीअङ्ग में दामिनी से कोटि-कोटि गुणित लोकोत्तर चमत्कृति है, ऐसे अपने दिव्यातिदिव्य मंगलमय श्रीअङ्ग से ही श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी अपने प्रियतम को आच्छादित किये बैठी हैं। इसी तरह प्रियतम भी नीलाम्बर के रूप में राधारानी को आच्छादित किये हुए हैं। मृगमद और नाना प्रकार के अङ्गराग के रूप में महावर के रूप में, कंकतिका (कंघी) के रूप में और पाँव धोने वाली श्यामवर्णा क्षामा के रूप में श्रीश्यामसुन्दर ही अपनी हृदयेश्वरी, प्राणेश्वरी की आराधना में संलग्न हैं।

कहने का मतलब यह है कि जन्म-जन्मातरों के सौभाग्य का उदय हो तो श्रीराधारानी का नाम मुख में आता है, उनकी आराधना में प्रवृत्ति होती है, उनके चरणारविन्द में प्रेम होता है।

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम॥

श्रीहरिः

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

अष्टम-पुष्प

१. वेदवेद्य 'ब्रह्म——सत्-चित् और आनन्द

'ब्रह्म की चर्चा वेद-वेदान्तों में पुराणों में, इतिहासों में बहुत समारोह के साथ आती है। ब्रह्म क्या है? ब्रह्म शब्द 'बृहि वृद्धौ' धातु से बनता है। जो बड़ा है या महान् है, वह ब्रह्म है। **'यद् बृहत्तद्ब्रह्म'** जो निरतिशय वृहत्तम तत्त्व है, वह है ब्रह्म। जो देश-काल वस्तु-परिच्छेद वाला हो, वह तो परिच्छिन्न होने के कारण क्षुद्र ही है, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि ब्रह्म जड़ हो तो भी दृश्य होने से अल्प-मर्त्य होगा। अनन्त, स्वप्रकाश, सदानन्दतत्त्व ही 'ब्रह्म' पद का अर्थ होता है; वही भूमा—अमृत है। उससे भिन्न सभी को अल्प और मर्त्य ही समझना चाहिये। अनन्त-पद-समभिव्याहृत (पठित) 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ निरतिशय बृहत् है, उसमें अतिशयता की कल्पना निर्मूल है।

सर्वविध परिच्छेद शून्य ही निरतिशय बृहत् होता है। सोपप्लव एवं अस्वप्रकाश, ब्रह्म होने योग्य नहीं। जो स्वप्रकाश परमानन्द-रसात्मक हो, वहीं ब्रह्म होने योग्य है। इस तरह अनन्त-स्वप्रकाश-परमानन्द ही ब्रह्म है। आतप की अपेक्षा सूर्य में जैसी अतिशयता है, वैसी अनन्त अतिशयता की कल्पना करते-करते वाचस्पति की मति भी जहाँ परिश्रान्त हो जाय, वही वेदान्तियों का ब्रह्म है **'निरतिशयं यद् बृहत्तद् ब्रह्म।'**

'जेहि प्रभु सम अतिशय नहिं कोई'
(राम० मानस ३. ६. ८)

'न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'
(भगवद्गीता ११. ४३)

भगवान् के समान ही कोई नहीं होता तो उनसे अधिक कैसे हो सकता है?

जैसे घट-पट-मठादि में बृहत्ता है और आकाश में भी, परन्तु घट-पट-मठादि में सापेक्ष बृहत्ता है और आकाश में निरपेक्ष। जब कोई संकोचक पद हो तो ब्रह्म में सापेक्ष बृहत्ता की कल्पना की जाय ?

जैसे **'सर्वे ब्राह्मणा भोजनीयाः'** में सर्व पद का संकोच करके **'निमन्त्रिता ब्राह्मणा भोजनीयाः'** निमन्त्रित सर्व ब्राह्मण का ग्रहण होता है; वैसे ही यहाँ भी यदि कोई संकोचक प्रमाण होता या निरतिशय बृहत्ता में किसी प्रकार की कोई अनुपपत्ति होती, तब तो यह कहा जा सकता था कि 'इस प्रकार इतने महान् को ब्रह्म कहें।', जब किसी प्रकार का संकोचक प्रमाण नहीं और निरतिशय महत्ता में कोई अनुपपत्ति भी नहीं, तब सर्व प्रकार एवं सर्वाधिक निरतिशय महान् को ही ब्रह्म कहना चाहिये। महत्ता की-अतिशयता की कल्पना-परम्परा जहाँ विरत हो जाय, जिससे अधिक बृहत्ता की कल्पना हो ही नहीं सके, उसी को ब्रह्म कहते हैं। भगवती श्रुति ने **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तैत्ति० २.१) इस वचन में लक्षण या विशेषण रूप में अनन्त पद का प्रयोग किया है, जिससे निरतिशय बृहत्ता की और भी पुष्टि हो जाती है। इस तरह सर्व प्रकार से सिद्ध हुआ कि निरतिशय महान् को ही ब्रह्म कहते हैं।

जो वस्तु किसी देश में हो और किसी देश में न हो, वह तो देश-परिच्छिन्न ही है, उसमें निरतिशय बृहत्ता कैसी ? जो कभी मिट जाय वह तो काल-परिच्छिन्न-अनित्य है, वह भी अनन्त-महान् नहीं। किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व हो, तब तो अन्योन्याभाव का प्रतियोगी होने से ब्रह्म वस्तु-परिच्छिन्न हो जायगा। इसलिये निरतिशय-अनन्त महत्ता के लिये ब्रह्म को सर्व-देश-काल-वस्तु से अतीत—अपरिच्छिन्न मानना चाहिये। ऐसा कोई देश-काल-वस्तु नहीं, जहाँ ब्रह्म न हो; बल्कि 'देश-काल वस्तु में ब्रह्म है' ऐसा कथन भी औपचारिक ही है। जैसे तन्तुओं से भिन्न होकर पट-नाम की कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है एवं कनक से भिन्न कुण्डलादि पृथक् वस्तु नहीं है और जल से भिन्न तरङ्ग नाम का कोई पदार्थान्तर नहीं है, किन्तु तन्तु आदि में पटादि की कल्पना है, ठीक वैसे ही ब्रह्म से भिन्न होकर देश-काल-वस्तु में ब्रह्म नहीं; किन्तु देश-काल-वस्तु ही ब्रह्म में कल्पित है।

'देशः स्फुरति, देशोऽस्ति; कालो भाति, कालोऽस्ति; वस्तूनि स्फुरन्ति, वस्तूनि सन्ति' इत्यादि रूप से 'देश की प्रतीति, काल की प्रतीति, वस्तुओं की प्रतीति एवं देश है, काल है, वस्तु है'; इस प्रकार देश-काल-वस्तु की सत्ता अत्यन्त स्पष्ट है। जैसे दर्पण से प्रतिबिम्ब कवलित है, दर्पण के विना उसकी प्रतीति हो नहीं हो सकती; वैसे ही देश-काल-वस्तुएँ अबाधित सत्ता एवं अखण्ड-अनन्त प्रतीति से कवलित हैं। विना प्रतीति और सत्ता के देशादि की सिद्धि हो ही नहीं सकती। सत्ता और स्फूर्ति से विहीन देशादि असत् तथा निःस्फूर्ति हैं।

यद्यपि प्रतिबिम्ब से भिन्न बिम्ब दर्पण से पृथक् हुआ करता है, परन्तु

यहाँ तो सत्ता और प्रतीतिरूप दर्पण से भिन्न कोई देश ही नहीं, जहाँ बिम्ब की तरह किसी पृथक् वस्तु की स्थिति हो सकती है। इसी वास्ते हम भी जगत् को प्रतिबिम्ब न कहकर प्रतिबिम्ब के समान कहते हैं। वस्तु-तत्त्व के बुद्ध्यारोपण के लिये दृष्टान्त का उपादान किया जाता है। दृष्टान्त इतने ही अंशों में है कि जैसे दर्पण में न होकर भी प्रतिबिम्ब स्पष्टरूप से दर्पण में प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म में न होता हुआ बिम्बाधार दर्पण से भिन्न भी देश है, वहाँ प्रतिबिम्ब का निमित्त बिम्ब भी है, परन्तु यहाँ दृश्याधार अखण्ड ब्रह्म रूप दर्पण से भिन्न कोई देश नहीं, अतएव यहाँ बिम्ब के समान कोई सत्यवस्तु निमित्त भी नहीं। एकमात्र अनिर्वचनीय शक्ति के अद्भुत माहात्म्य से प्रतिबिम्ब की तरह, वस्तुतः अत्यन्त असत् दृश्य प्रपञ्च की प्रतीति होती है। वह शक्ति जैसे सर्व दृश्य की कल्पना का मूल है, वैसे ही स्वयं अपनी कल्पना का भी मूल है। जैसे भेद ही घट पट का भेदक है और वही घट-पट से अपना भी भेद सिद्ध करता है अथवा अनुभव ही अपने विषयों का और अपने भी व्यवहार का जनक है तथा नैयायिकों का आत्मा सर्वज्ञेय का तथा अपना ज्ञाता है, वैसे ही वह शक्ति ब्रह्म को ही सर्व-दृश्य रूप में तथा अपने भी रूप में प्रतिभासित करती है। जैसे निष्प्रतिबिम्ब दर्पणमात्र पर दृष्टि डालने से प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता है, वैसे ही निर्दृश्य चितिरूप नित्यदृक् पर दृष्टि डालने से पूर्व दृश्य-दर्शन और साभास-अहमर्थरूप अनित्य द्रष्टा इन सभी का अत्यन्ताभाव हो जाता है।

प्रतिबिम्ब में जब दृष्टि आसक्त होती है, तब यद्यपि दर्पण का दर्शन होता ही है, विना दर्पण का दर्शन हुए प्रतिबिम्ब का दर्शन हो ही नहीं सकता, फिर भी शुद्ध-निष्प्रतिबिम्ब दर्पण का दर्शन नहीं होता। उसी प्रकार दृश्य भान-काल में ही दृश्य के अधिष्ठानभूत अखण्डस्फुरणरूप भगवान् का भान है ही; विना स्फुरण किसी भी दृश्य की सिद्धि नहीं, फिर भी स्पष्ट शुद्ध अनन्त भान नहीं व्यक्त होता। उसके लिये वैराग्य पूर्वक दृश्य की ओर से दृष्टि को व्यावर्तित करके केवल निर्दृश्य-विशुद्ध अखण्ड भान पर दृष्टि स्थिर करने की आवश्यकता होती है। अधिष्ठान साक्षात्कार होने पर भी प्रारब्ध-शेष पर्यन्त व्युत्थान दशा में दृश्य का स्फुरण होता है। प्रारब्धक्षय होने पर अखण्ड आनन्द स्वरूप परिपूर्ण भगवान् ही अवशिष्ट रहते हैं।

इसी तथ्य को व्यवहार दशा में यों समझो कि जैसे रूपादि ग्रहण के लिये प्रवृत्त भी चक्षु सौरादि आलोक का ग्रहण करता है, बाद में आलोकावभासित रूप ग्रहण करता है, वैसे ही सर्वभासिका प्रतीति का स्फुरण पहले होता है, तद-नन्तर प्रतीति-प्रकाशित अहङ्कारादि दृश्य का स्फुरण होता है।

सिद्धान्त-दृष्टि से देखा जाय तो शुद्ध 'सत्' अशेष-विशेष-निर्मुक्त पर-ब्रह्म ही है। इसी प्रकार शुद्धचित् भी वही है। सत् और चित् में कोई भेद नहीं है। जिसकी सत्ता होगी उसका भान भी अवश्य होगा और जिसका भान होगा,

उसकी सत्ता भी अवश्य होगी। जिस प्रकार सर्व विशेषणों से निर्मुक्त 'सत्' ब्रह्म है चित् ब्रह्म है; उसी प्रकार निर्विशेष आनन्द भी शुद्ध परब्रह्म ही है। पुण्य-अपुण्य विशेषण से युक्त होने पर ही वह हेयोपादेय होता है।

यद्यपि निर्विशेष सत् ब्रह्म है, लेकिन हर-एक सत्ता के साथ विशेषण जुड़ा होता है, इसी कारण विशेषता मालूम पड़ती है— **घट की सत्ता', 'पट की सत्ता',—'सन् घटः', 'सन् पटः'**। जैसे **'मृद्घटः', 'मृत्-शरावः', 'मृद्दुष्करमः'** में मिट्टी है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च में सत्ता है। इसी प्रकार निर्विशेष ज्ञान का भी उपलम्भ (उपलब्धि) कहाँ होता है? **'घटज्ञानं, पटज्ञानं, रूपज्ञानं, रसज्ञानं'** इन सब में विशेषण जुड़ा हुआ है, इन विशेषणों से विरहित बोध ही ब्रह्म है। इसी प्रकार वैषयिक आनन्द भी विविध विशेषणों से जुड़ा होता है। पञ्च विषयों को लेकर, नव रस, षट् रस को लेकर आनन्द भी सविशेषण ही उपलब्ध होता है। शब्द-सुख, स्पर्श-सुख, रूप-सुख, रस-सुख, गन्ध-सुख यह सब सविशेष सुख ही तो है?

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (तैत्तिरीयो० ३.१.)

इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् की जिससे उत्पत्ति होती है, जिसमें स्थिति होती है और जिसमें प्रलय होता है, वही ब्रह्म है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति में कार्योत्पत्ति के लिये प्रकाशात्मक सत्त्व, उपष्टम्भात्मक (चलनात्मक) रज तथा अवष्टम्भात्मक (अवरोधात्मक) तम की अपेक्षा होती है। उत्पादिनी शक्ति-विशिष्ट ब्रह्म ब्रह्मा, पालिनीशक्ति विशिष्ट ब्रह्म विष्णु और संहारिणी शक्ति विशिष्ट ब्रह्म रुद्र शब्द से व्यवहृत होता है। महाशक्ति विशिष्ट 'ब्रह्म' एक ही है। उसी का भोग्य-भोक्ता तथा महेश्वर के रूप में आविर्भाव मान्य है। भोग्यवर्ग एवं भोक्तृवर्ग की एकता-अनेकता का प्रश्न उठ सकता है; परन्तु महेश्वर की अनेकता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

दुनियाँ में दो ईश्वर नहीं हुआ करते। दो ईश्वर युक्ति-विरुद्ध है। एक ने संकल्प किया **'इदमिदानीं पालयितव्यम्'**[२९] तो दूसरे ने संकल्प किया **'इदमिदानीं संहर्तव्यम्'**, एक ने पालन का तो दूसरे ने संहार का संकल्प किया। दोनों विरुद्ध है। एक काल में दोनों की पूर्ति नहीं हो सकती। जिसका मनोरथ पूर्ण नहीं होगा, वही अनीश्वर सिद्ध होगा। जिसका मनोरथ पूर्ण होगा, वही ईश्वर सिद्ध होगा। दो समान ईश्वर नहीं हो सकते। सर्व सम्मति से ईश्वर एक ही ठीक है। इसलिये कहा—

---

२९. "इदमिदानीं स्रष्टव्यमिदमिदानीं पालयितव्यमिदमिदानीं संहर्तव्यम्" (वेदान्त परिभाषा १)

'निरतिशयं यद् बृहत् तद्ब्रह्म ।'

ऐसी वस्तु जड़ नहीं हो सकती । जो वस्तु जड़ होती है, उसे प्रकाशक की अपेक्षा होती है । **'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'**, लक्षण-प्रमाण से वस्तुसिद्धि होती है । ऐसी स्थिति में ब्रह्म की सिद्धि के लिये प्रमाण चाहिए । जो प्रमाण होता है, वह व्यापक होता है और जो प्रमेय होता है, वह व्याप्य होता है । 'ब्रह्म' प्रमाण सिद्ध होने पर व्याप्य होगा । भासक व्यापक होगा, ब्रह्म से बड़ा होगा । निरतिशय बृहत्ता लाने के लिये उसे स्वप्रकाश मानना होगा । स्वप्रकाश किसे कहते हैं ?

'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारार्हत्वं स्वप्रकाशत्वम्'

जो अवेद्य होते हुए भी अपरोक्ष हो, उसे स्वप्रकाश कहते हैं । अवेद्य उसे कहते हैं जो वेदन-गोचर न हो, ब्रह्म स्वप्रकाश होने के कारण ही सर्वोपप्लव रहित है । सर्वोपप्लव रहित है, अतः परमानन्दस्वरूप है ।

२. वेद-वेद्य-परमतत्त्व ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द

इसी तरह जो अनन्त-अबाध्य सत् है, वही स्वप्रकाश है, वही परमानन्द है । **'कं ब्रह्म'** (छान्दोग्यो० ४. १०. ५), **'खं ब्रह्म'** (छान्दोग्यो० ४. १०. ५) ब्रह्म क्या है ? **'कं'** अर्थात् **'सुखं'** । सुख तो परिच्छिन्न भी होता है, उसकी व्यावृत्ति के लिये कहा—**'खं ब्रह्म'** । भौतिक आकाश भी अपरिच्छिन्न है, अतः उसकी व्यावृत्ति के लिये कहा **'कं ब्रह्म'** । अभिप्राय यह है कि अपरिच्छिन्न जो सुख है, वह ब्रह्म है; सुखात्मक जो आकाश है, वह ब्रह्म है । अपरिच्छिन्न सुख, अपरिच्छिन्न स्वप्रकाश बोध ब्रह्म है—

'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कं'
(छान्दोग्योपनिषत् ४. १०. ५)

यही ब्रह्म भगवान् कृष्ण हैं । कृष्ण कौन हैं ? परमानन्द सनातन पूर्ण ब्रह्म—

अहो भाग्यमहो भाग्यं
नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं
पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।।
(श्रीभागवत १०. १४. ३२)

नन्दगोप के व्रज में रहने वाले जो लोग हैं, उनका अहोभाग्य है । क्यों ? **'यन्मित्रं परमानन्दं'**, दुनियाँ में सुख किसी का मित्र नहीं होता । सुख से

मैत्री बहुत लोग करते हैं, सुख किसी से मैत्री नहीं करता। सुख यदि मित्र होता तो कभी छोड़कर नहीं जाता। सुख चला जाता है, इसलिये वह मित्र कहाँ हुआ ? पर व्रजवासियों का मित्र सुख या आनन्द को कौन कहे, साक्षात् परमानन्द है। परिच्छिन्न आनन्दों से भिन्न अचिन्त्य अनन्त परमानन्दसुधासिन्धु ही व्रजवासियों का मित्र है।

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'
(बृहदारण्यको० ४. ३. ३२)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मादि देवशिरोमणि उस आनन्द-सुधा-सिन्धु के एक कणमात्र को प्राप्तकर सुखी होते हैं, हम आप भी सुखी होते हैं—

'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति (तैत्ति० २.७)

'अयं' अर्थात् जीव-प्रमाता। यह प्रमाता जिस रस को प्राप्त कर ही आनन्दित परिलक्षित होता है, वही आनन्दकन्द-पुरुषोत्तम भगवान् हैं। स्त्री पुत्रादि से प्राप्त सुख उस आनन्दसिन्धु का एक कणमात्र है। निरानन्द सारा संसार उसी के सम्बन्ध से आनन्द-सरस है। निःस्फूर्ति सारा संसार उसी के सम्बन्ध से स्फूर्तिमान् है। वह परमानन्द व्रजवासियों का मित्र है, यह आश्चर्य की बात है। वह कभी भी इन व्रजवासियों को छोड़कर नहीं जाता। पक्का मित्र वही होता है, जो छोड़कर न जाय। जो छोड़कर चला जाय, वह पक्का मित्र कहाँ ? इसलिये—

'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।'
'वृन्दावनं परित्यज्य क्वचिन्नैव सगच्छति॥'
(यामलवचनम्)

वृन्दावनपरित्यागो गोविन्दस्य न विद्यते।
अन्यत्र यद्वपुस्तत्तु कृत्रिमंतन्न संशयः॥
(पाद्म० ५. ७७. ६१)

भक्तों का सिद्धान्त है कि परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र व्रजवासियों को छोड़-कर एक पग भी इधर-उधर नहीं जाते।

भगवान् श्रीकृष्ण को श्रीमद्भागवत में **'असाम्यातिशयः'** (३ २ २१) कहा गया है। **'न साम्यं अतिशयश्च यस्य'**, उनके तुल्य कोई नहीं और उनसे अतिशय भी कोई नहीं। संसार में साम्य और अतिशय आदि की कल्पना विकल्प-मात्र है। विकल्प क्या है ?

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः (योग दर्शन १. ९)

'राहोः शिरः', **'राहु का शिर'** यह विकल्प है। राहु और शिर (सिर) कोई दो वस्तु नहीं। अभेद में सम्बन्ध-विभक्ति का प्रयोग है। **'पुरुषस्य चैतन्यं'**, पुरुष चैतन्यरूप ही है, फिर **'पुरुष का चैतन्य'** यह प्रयोग कैसा ? उसी प्रकार ब्रह्मके समान या उससे अतिशय जब कोई है ही नहीं, तब उसे साम्यातिशय कहना शब्दजालमात्र अर्थात् विकल्पमात्र है।

ब्रह्म अनादि-अनन्त तत्त्व है। इतर वस्तुएँ अनादि-सान्त हैं, ब्रह्मज्ञान से बाधित हो जाती हैं; इसलिये वे कूटस्थ-सत्य अमान्य हैं। ब्रह्म ही अनन्त है और सब सान्त है।

'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता'

(रामचरित मा० १. १४०. ५)

भगवान् अनन्त हैं और उनकी कथा अनन्त है, फिर भी कहनेवाले का सामर्थ्य भी तो ऐसा ही होना चाहिये ? यहाँ तो

'स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्य लक्ष्म्याप्तसमस्तकामः'

(भागवत ३. २. २१)

कहकर ही भगवत्स्वरूप का यथार्थ परिचय दे देते हैं।

'निर्गतः अतिशयो यस्मात्'

जिससे अतिशय निकल चुका है, वह निरतिशय है। वस्तुतः भगवत्-स्वरूप में अतिशयनित्य निवृत्त ही है। **'त्र्याणामधीशः'** माने **'त्र्याणां लोकानां अधीशः'** नहीं, **'आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां अधीशः'** है। आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों जगत् के भगवान् अधीश हैं। जो कुछ कार्य-करण-कर्तृ प्रपञ्च है, भगवान् सबके स्वामी हैं—

'स्वाराज्य लक्ष्म्याप्त समस्त कामः'

(भागवत ३. २. २१)

कंकड़-पत्थर की लक्ष्मी भोग की लक्ष्मी, योग की लक्ष्मी, मोक्ष की लक्ष्मी, ऐश्वर्य-माधुर्य की अधिष्ठात्री महाभगवती लक्ष्मी—बहुत प्रकार की लक्ष्मी होती हैं। स्वराज्य लक्ष्मी सबमें श्रेष्ठ है। अनन्त ब्रह्माण्डाधिष्ठान स्वप्रकाश भगवान् अपने आप में विराजमान हैं, प्रतिष्ठित हैं, आत्मनिष्ठ हैं, स्वराज्य लक्ष्मी संप्राप्त हैं।

'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि।'

(छान्दोग्योपनिषत् ७. २४. १)

स्वराज्य लक्ष्मी के द्वारा समस्त कामकामित पदार्थ प्राप्त होते हैं।

'इदं मे स्यात्, इदं मे स्यात् —'मुझे यह मिले', 'यह मिले', नाना प्रकार की कामनाएँ—कल्पनाएँ होती हैं। अचिन्त्य-अनन्त सुधासिन्धु भगवान् सर्वोत्कृष्ट हैं। उनको पा लेने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता—

'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'

(भगवद्गीता ६. २२)

'स्वरूप परिनिष्ठित व्यक्ति को गरुआ-से-गरुआ दुःख भी विचलित नहीं कर पाता।', अर्थात् वह परम शान्त होता है, विविध कामनाओं से विक्षिप्त नहीं होता। वह ऋद्धि-सिद्धियों-भोगों का विश्राम स्थान होता है, आत्माराम आप्त-काम होता है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(भगवद्गीता २. ७०)

स्वाराज्य लक्ष्मी जिसकी अद्भुत महिमा है, वह भगवान् का स्वाभाविक स्वरूप है। ऐसे भगवान् व्रजवासियों के मित्र हैं। वे इन्हें छोड़कर कहीं नहीं जाते। आनन्दसिन्धु भगवान् इन्हें छोड़कर नहीं जाते। कितनी महत्त्वपूर्ण बात है? भगवान् विश्वफलात्मा हैं। साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, स्त्री, पुत्र, पौत्र, धन-धान्य प्राप्ति से प्राप्त सुख विशेष तो विन्दु-तुल्य है, भगवान् सिन्धु हैं। ज्योतिष्टोमादि से प्राप्य सब फल उन्हीं के अन्तर्गत हैं।

जो आनन्दसिन्धु सुख रासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥

(रामचरित मानस १ १९७. ५)

वह वेदान्त-सिद्धान्त आनन्दसिन्धु इन सब व्रजवासियों के प्रांगण में धूलि-धूसरित होकर नृत्य करता है—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्द निकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्त सिद्धान्तः॥

"सखि! एक कौतुक की बात सुनो, श्रीमन्नन्दराय के प्राङ्गण में धूल-धूसरित होकर वेदान्त-सिद्धान्त थेई-थेई करके नृत्य करता हुआ मेरे द्वारा देखा गया है।' अजर-अमर-अनन्त-अखण्ड स्वप्रकाश वेदान्तवेद्य धूलि-धूसरित होकर नन्दबाबा के प्राङ्गण में क्रीड़ा करता है, कितने सौभाग्य की बात है?

इतना ही क्यों?

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्त चारखिन्नाः ।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ।।
(श्रीकृष्णकर्णामृतम् २. २८)

"निगम वन में फल ढूँड़ते-ढूँढ़ते यदि नितान्त खेदयुक्त हो गये हों तो इस उपदेश को सुनें ? उपनिषदों के परम तात्पर्य का विषय प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म गोपियों के घर में उलूखल से बँधा पड़ा है।"

और भी—

गोपालाजिरकर्दमेविहरसे विप्राध्वरेलज्जसे
ब्रूषे गोधनहुङ्कृतैः स्तुतिशतैर्मौनं विधत्से सताम् ।
दास्यं गोकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यन्न दान्तात्मसु
ज्ञातं कृष्णतवाङ्घ्रिपङ्कज युगं प्रेमैकलभ्यं मुहुः[३०] **।।**
(श्रीकृष्णकर्णामृतम् २. ८३)

"गोपालों के गोमय और गोमूत्र के कर्दम (कीच) भरे घरों के चौक में -आँगन में आप खूब मचल-मचल कर घूमते हो, पर ब्राह्मणों के पवित्र यज्ञस्थलों में जाते हुए लजाते हो ? गो-वत्स-वृषभ जो पशु हैं, उनके हुँकार पर आप चट बोल उठते हो, पर सत्पुरुषों की सैकड़ों वैदिक स्तुतियों का कोई उत्तर नहीं देते । जैसे सुनी ही नहीं । गोकुल गाँव की पुंश्चली जो जार-बुद्धि से आपका सेवन करती हैं, उनका दास बनने में आपको तनिक-सा भी संकोच नहीं होता । पर जो बेचारे व्रत-तप के द्वारा संयमपूर्वक रहते हैं, इन्द्रियों को विषय से संपृक्त नहीं होने देते, मन को दबाते हैं, वृत्तियों को रोकते हैं, आश्चर्य है कि आप उनके स्वामी भी नहीं बनना चाहते । आपके इन चरित्रों को देखकर यही निश्चय करना पड़ता है कि आपकी प्राप्ति केवल प्रेमसाध्य है, एकमात्र रागानुगा-भक्ति ही आपको वश में कर सकती है।"

३. श्रीकृष्ण विषयक गोपी-प्रेम का चरम उत्कर्ष

गोप-सीमन्तिनियों से भगवान् कभी दूर नहीं होते; फिर भी उनके उदात्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए मदनमोहन श्यामसुन्दर प्रभु अन्तर्हित हो जाते हैं । अनुकृति-लीला के प्रसंग में गोपाङ्गनाएँ श्यामसुन्दर-भावापन्न हो जाती हैं । कोई **'तोकायित्वा रुदत्यन्या'** (भागवत १०. ३०. १५) बालमुकुन्द बन जाती हैं । जैसे भगवान् बालकृष्ण जब तक मैया को नहीं देखते तब तक इधर-उधर

---

३०. पाठा०—प्रेमाचलं मञ्जुलम् ।

क्रीडासक्त रहते हैं, ज्यों ही मैया को देखते हैं कि दूध पीने के लिये पाँव पटक-पटक कर रोने लगते हैं, मचलने लगते हैं; वैसे ही यह गोपी बाल-चापल्य के अनुकरण को सफल बनाती है, पाँव पटकती है, मानो रूप-सरोवर में समुद्भूत कमल विरह-भवन में विधूनित हो रहा हो ? यहाँ उसका रूप ही सरोवर, पाद ही कमल और उनका प्रतारण ही विधूनन है। विरुद्धभाव का गोपाङ्गनाओं को स्पर्श भी नहीं है। यहाँ श्रीव्रजेन्द्रनन्दन नन्दनन्दन की अधरसुधा के पान की ही इन्हें उत्कण्ठा है। जैसे श्रीश्यामसुन्दर यशोदा के पयः पानार्थ पाद प्रताड़न करते हैं; वैसे सुधा पानार्थ गोपाङ्गनाओं का यह अनुकरण है। यों बालक के अनुकरण में रोती हुई ने शकटासुर का आचरण करने वाली को पांव से गिरा दिया, 'पदाहञ्छकटायतीम् ।' (भागवत १०. ३०. १५)

वास्तविक तथ्य का स्मरण करके वियोगतप्त गोपाङ्गनाएँ परस्पर कहती हैं—'हाय सखि ? यदि हम शकटासुर भी बनी होतीं तो प्राणप्यारे का यह सुकोमल चरण तल तो मिला होता।',—'सखि ! तृणावर्त अच्छा था, हम लालसा करती हैं, कब श्यामसुन्दर हमारे हार बनें। इन हीरक हारों में आनन्द नहीं, वह हार हमें नहीं, तृणावर्त को मिला। प्यारे मोहन, उसके गले से लिपटे और हार बन गये। इस जन्म में तो वे हमारे हार बनेंगे नहीं, आओ तब राक्षस ही बनें, राक्षस ही सही, प्राणप्यारे तो मिलेंगे।'

पुनः प्रार्थना करने लगती हैं—'प्यारे मनमोहन ! हमारे हृदय-हार बनने में आपको लज्जा लगती है और उन क्रूर राक्षसों के गले से लगे रहते हो, क्या हम इतनी बुरी हैं ?'

इस तरह गाय ने हुँकार किया, बछड़े ने बुलाया--हम्भारव किया, चट बोल पड़े। गोपाङ्गनाओं के पुंश्चली-भाव पर रीझ गये। यहाँ सब बात उलटी। जितनी ऊँची चीजें सब नीची करदी गयीं। महाराजाधिराज का वह स्वरूप इतने महत्त्व का नहीं हुआ, जितना पार्थ-सारथि का। सखा अर्जुन के घोड़ों के सईस बने। महाभारत युद्ध में अर्जुन के अश्व जल के बिना क्लान्त हो गये। उनके लिये उन्होंने पाताल-गङ्गा निकाली। पार्थ-सारथि ने रथ से घोड़ों को खोल कर जल पिलाया, स्नान कराया, घोड़ों की लगाम अपने मुख में पकड़ी, तोत्र (चाबुक) को मुकुट में खोंसा और चार हाथों से उनको धोया-पोंछा। उस समय श्यामसुन्दर की झाँकी देखते ही बनती थी। पर यह लीला भी गोपाङ्गण-कर्दम-क्रीडा के आगे फीकी पड़ जाती है। यहाँ प्रेम की रसमयी लीलाओं में गुंजाओं के समक्ष कौस्तुभमणि का कोई सम्मान या महत्त्व नहीं। यहाँ लक्ष्मीपतित्व और रुक्मिणीपतित्व भी पुंश्चलीपतित्व या गोपीजन वल्लभता के सामने मन्थर पड़ जाता है। अरुन्धती, अनसूया आदि बड़े-बड़े सतीवृन्द भी इन पुंश्चलियों की पादधूलि के लिये लालायित हैं--व्याकुल हैं। ये परम सती हैं। इन्होंने 'अपर

पुरुष' का सङ्ग त्यागकर 'परपुरुष' का सङ्ग किया। अनन्त अखण्ड महामहिम श्रीकृष्ण ही परम पुरुष हैं। परमात्मा हैं, ब्रह्म हैं। वसिष्ठादि जीव हैं, पुरुष हैं। पातिव्रत्य-धर्मपूर्वक इनकी सेवा से फल रूप में परम पुरुष की प्राप्ति होती है। अरुन्धती आदि सतियाँ अभी आराधना करती हैं, पीछे हैं। गोपाङ्गनाओं ने तो फल पा लिया है।

अभिप्राय यह है कि यहाँ की लीला अद्भुत है, राजाधिराज स्वरूप की अपेक्षा पार्थ-सारथि का भाव ही उच्च है। कहीं ज्ञान वैराग्योद्दीप्त शान्त रस ही उत्कृष्ट माना जाता है, शृङ्गाररस उसके सामने निकृष्ट माना जाता है। कहीं दाम्पत्य-प्रेम में शृङ्गार-रस ही उत्कृष्ट हो जाता है। औपपत्य में वह रसाभास हो जाता है। कहीं पर औपपत्यादि आलम्बनादि के उत्कृष्ट होने से उत्कृष्ट माना जाता है। जैसे यहीं गोपाङ्गनाओं का श्रीकृष्ण विषयक प्रणयौत्कण्ठ्य परम उत्कृष्ट है। यद्यपि (परकीया होने से) गोपाङ्गनाएँ पुंश्चली गिनी गयीं, पर वे थीं परम पुरुष श्रीकृष्ण को सङ्गिनी या पुंश्चली। इसी से उनका उत्कर्ष है। तभी तो श्री-कृष्ण परमात्मा भी उनके दास्य की प्रार्थना करते हैं।

कोई कितनी भी साध्वी प्रतिव्रता हो, वह भी भगवान् के ऐश्वर्य-माधुर्य्यपूर्ण नारायण स्वरूप पर मुग्ध हुये बिना नहीं रह सकती। अनसूया-जैसी भी भगवान् श्रीमन्नारायण के स्वरूप पर मुग्ध हो गयीं। यह भूषण ही है, कोई दूषण नहीं; परन्तु एक कथा से ज्ञात होता है कि कृष्ण-प्रणयिनी गोपाङ्गना उन पर भी मुग्ध न हुईं। एक बार श्रीश्यामसुन्दर गोपाङ्गनाओं के साथ वासन्तिक रासोत्सव मना रहे थे। उसी समय वे सहसा एक कुञ्ज में छिप गये। गोपाङ्गना ढूंढ़ती हुईं वहीं जा पहुँचीं। कारण यह था कि वे अपने सौगन्ध्य-माधुर्यादिपूर को न छिपा सके, उसके लोभी भौरें, मयूर तथा हरिणाङ्गनाओं (हरिणियों) का ताँता उधर ही बँध गया।

श्रीश्यामसुन्दर ने सोचा—'ये तो आयीं, अब क्या करें ? अपनी तो यह निह्नुति (छिपावकी) लीला ही बिगड़ी। दासी के समान पीछे-पीछे घूम रही ऐश्वर्य शक्ति की सहायता से वे झटपट चतुर्भुजधारी नारायण बन गये। गोपांग-नाओं ने उनका दर्शन किया। पर वह आकर्षण, वह औत्कण्ठ्य, वह आनन्द उन्हें नहीं प्राप्त हुआ; जो श्रीकृष्ण-सम्मिलन में प्राप्त होता। उन्होंने नम्रतापूर्वक प्रणाम किया। वरदानोन्मुख देखकर वर माँगा—श्रीश्यामसुन्दर हमें शीघ्र मिल जाँय ?'

अतएव अरुन्धती आदि सतीवृन्द इनकी पादपांशु चाहती हैं। इनके अतिरिक्त कौन ऐसी युवती होगी जो श्रीमन्नारायण के भी साक्षात् दर्शन करके उन पर मुग्ध न हो ? वहीं की यह कथा प्रसिद्ध है—उसी निकुञ्ज में, जहाँ गोपा-ङ्गनाओं के सामने श्रीकृष्ण नारायण-रूप में छिप गये, श्रीराधाजी के आते ही उनकी वह ऐश्वरी माया नहीं टिक सकीं। चतुर्भुज स्वरूप द्विभुज श्यामसुन्दर के

रूप में तुरत प्रकट हो गया। इस तरह, लोकदृष्टि में जितना-जितना अपकर्ष, प्रणय दृष्टि में उतना-उतना उत्कर्ष सिद्ध होता है। इसी दृष्टि से औपपत्य का भी उत्कर्ष है।

प्रेम की स्थिति प्राणिमात्र में अणु-परिमाण में, पार्षदादि में मध्यम परिमाण में, श्रीगोपाङ्गनाओं में महत्परिमाण में है और श्रीराधारानी में परम महत् परिमाण परिमित है। पूर्णतम माधुर्य का प्रकाश वहीं है। जैसे महा सम्राट् के समक्ष इतरों का ऐश्वर्य अभिव्यक्त नहीं होता, जैसे सूर्य के समक्ष चन्द्र-नक्षत्रादि फीके पड़ जाते हैं, दीखते ही नहीं; वैसे ही महामाधुर्य के सामने समस्त ऐश्वर्य अस्त हो जाते हैं प्रकट ही नहीं होते।

जैसे जल का और तरङ्ग का अखण्ड सम्बन्ध है, वैसे ही श्रीकृष्ण और गोपाङ्गनाओं का अखण्ड सम्बन्ध है। गोपाङ्गनाएँ तरङ्ग हैं तो श्रीकृष्ण जल। श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी तो श्रीकृष्ण के और भी अंतरङ्ग हैं। वे जल में माधुर्य स्थानीया हैं। फिर यहाँ कैसा औपपत्य ? केवल औत्कण्ठ्य वृद्ध्यर्थ इसकी कल्पना है।

वस्तुस्थिति यह है कि समस्त वस्तुओं का याथात्म्य उनके कारण में ही पर्यवसित होता है। उस कारण का भी पर्यवसान जहाँ है; वही कार्य-कारणातीत सर्वाधिष्ठान परमतत्त्व श्रीकृष्ण हैं। फिर उनसे भिन्न कौन-सा तत्त्व है, जिसका निरूपण किया जाय ? सर्वान्तरात्मा श्रीकृष्ण के साथ भेद भी क्या हो सकता है ? अतः उनके सन्निधान में निष्कपट और निरावरण होने से ही जीव का परम कल्याण होता है—

> **कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।**
> **जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥**
> (भागवत १० १४. ५५)

> **सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।**
> **तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तुरूप्यताम्॥**
> (भागवत १०. १४. ५७)

जब प्राणिमात्र के लिये पृथिवी, जल, तेज तथा वायु का सर्वाङ्गीण-स्पर्श अनिवार्य है, तब कौन-सी पतिव्रता है जिसके सर्वाङ्ग का स्पर्श वायु, आकाश, आदि से न होता हो ? फिर श्रीकृष्ण तो आकाश, अहं, महत् और अव्यक्त तत्त्व के भी अधिष्ठान, इन सबसे भी आन्तर हैं। जैसे चन्द्रमा सबके मन के अधिष्ठाता हैं, वैसे ही भगवान् सभी के अन्तरात्मा हैं। सभी संभोगों में मन की जितनी आवश्यकता है, उससे भी अधिक अन्तरात्मा की अपेक्षा है। अनुकूल-प्रतिकूल शब्द-स्पर्शादि विषय तथा सुख-दुःखादि का साक्षात्कार अन्तरात्मा के ही अधीन है।

अभिप्राय यह है कि शब्दादि विषयों के आकार से आकारित वृत्तिमान् अन्तःकरण आत्मचैतन्य से देदीप्यमान होकर ही शब्दादि विषयों का प्रकाशन करता है।

४. शक्तिद्वय के तारतम्य से पञ्चविध श्रीकृष्ण

इस तरह भगवान् पूर्ण आप्तकाम-पूर्णकाम-परम निष्काम-आत्माराम-सर्वान्तरात्मा-असाम्यातिशय हैं। इनकी दो प्रकार की शक्तियाँ हैं—एक ऐश्वर्याधिष्ठात्री और दूसरी माधुर्य्याधिष्ठात्री। ऐश्वर्याधिष्ठात्री शक्ति भगवान् की वैकुण्ठ में, द्वारका में, मथुरा में विराजमान है। वैकुण्ठादि में उसी का साम्राज्य है। व्रज, वन और निकुञ्ज में माधुर्य्याधिष्ठात्री शक्ति विराजमान है। यहाँ इसी का साम्राज्य है। इन दो प्रकार की शक्तियों के तारतम्य से ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को इस लोक में द्वारकानाथ, मथुरानाथ, व्रजेन्द्रनन्दन, व्रजनाथ-वृन्दावनचन्द्र और निकुञ्ज मन्दिराधीश्वररूप से पाँच प्रकार का माना गया है। गोकुल-वृन्दावन में पूर्णतमता मथुरा में पूर्णतरता और द्वारका में भगवान् की पूर्णता प्रकट होती है। यथा—

कृष्णस्य पूर्णतमता व्यक्ताऽभूद् गोकुलान्तरे।
पूर्णं पूर्णतरता द्वारकामथुरादिषु॥
(भक्तिरसामृतसिन्धुः २, दक्षिण विभाग २२३)

माधुर्य की अभिव्यक्ति के तारतम्य से गौडेश्वर सम्प्रदाय के रसिकों ने पुनः श्रीकृष्णचन्द्र को तीन प्रकार का माना है—व्रजेन्द्रनन्दन, वृन्दावनचन्द्र, निकुञ्जमन्दिराधीश्वर। व्रजेन्द्रनन्दन को पूर्ण, वृन्दावनचन्द्र को पूर्णतर और निकुञ्ज मन्दिराधीश्वर को पूर्णतम माना है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है—

'व्रजेवने निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्'

इस दृष्टि से बेचारे द्वारकानाथ और मथुरानाथ, न पूर्ण न पूर्णतर और न पूर्णतम। हालांकि हम इस पक्ष के नहीं हैं। एक ही भगवान् मानने वाले हैं। फिर भी विविध दृष्टियों से विविध बात कहते हैं। 'ये सब निराधार या निरर्थक हैं', ऐसी बात नहीं। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति के योग से भगवान् सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर हैं, असाम्यातिशय हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, तीनों प्रकार के जगत् के अधिपति हैं। व्रज, वन और निकुञ्ज में तो माधुर्य्याधिष्ठात्री शक्ति रहती है। ऐसा होने पर भी सिद्धान्त यह है कि माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति के साम्राज्य में ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति भी रहती है, नहीं रहती ऐसी बात नहीं, पर सेविका बन कर रहती है। यथा—

जयतितेऽधिकं जन्मना व्रजः,
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
(श्रीमद्भागवत १०. ३१. १)

"हे प्यारे ! तुम्हारे जन्म के कारण वैकुण्ठ आदि लोकों से भी व्रज की महिमा बढ़ गयी है। तभी तो सौन्दर्य और मृदुलता की देवी लक्ष्मीजी अपना स्थान, वैकुण्ठ छोड़कर यहाँ नित्य-निरन्तर निवास करने लगीं हैं, इसकी सेवा करने लगी हैं"

'व्रजः अधिकं यथा स्यात् तथा जयति'

आपका जो व्रज है, वह सर्वाधिक रूप से उत्कर्ष को प्राप्त है। **'वैकुण्ठे इन्दिराश्रियते'** (कर्मणिप्रत्ययः), 'वैकुण्ठ में इन्दिरा सेव्या होकर विराजती हैं', **'अत्रतु इन्दिरा श्रयते'** (कर्तरि प्रत्ययः). व्रज में तो सेविका बनकर रहती हैं।'

जो ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति वैकुण्ठ की सेव्या हैं, वही व्रज की सेविका हैं। इन्दिरा यहाँ सेविका बनकर कभी रहती हों, ऐसा नहीं **'शश्वदत्र हि'** शश्वत्-सदा-सर्वदा ही।

'ऐश्वर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी अत्र सेविका भूत्वा वर्तते'

५. घोष निवासी व्रजवासी और व्रजभूमि का अद्भुत माहात्म्य

यहाँ की कथा तो निराली ही है। भक्त कहते हैं—

मुक्ति कहे गोपाल सों मेरिउ मुक्ति बताय।
व्रज रज उड़ि मस्तक लगे मुक्ति मुक्त हो जाय॥

मुक्ति महारानी गोपालजी से कहती हैं—'प्रभो ! मेरी भी तो मुक्ति का उपाय कृपा कर बतावें।'

भगवान् मुक्ति से कहते हैं— मुक्ति महारानीजी ! व्रज में निवास करिये। व्रज-रज उड़कर आपके मस्तक पर पड़ जाय तो आप मुक्त हो जाँय !'

व्रज-रज उड़ के मस्तक पर पड़ जाय तो मुक्ति भी मुक्त हो जाय।

आप कह सकते हैं कि 'मुक्ति की मुक्ति का अर्थ तो बन्धन की पुनः प्राप्ति[३१] है।'

---

३१ **'घटे निषिध्यमाने घटाभावो विधीयते घटाभावे निषिध्यमाने घटो विधीयते।'** अभाव का अभाव पलटकर भावरूप हो जाता है। घटाभावाभाव जैसे घट-रूप हो जाता है, वैसे ही मुक्ति की मुक्ति पलटकर बन्धन रूप हो सकती है। 'बन्धन-मुक्ति-मुक्ति' बन्धन रूप हो सकती है। नैयायिकों ने **'घटत्वं घटाभावाभावत्वं, घटाभावत्वं घटाभावाभावाभावत्वम्, तृतीयाभावस्य प्रथमाऽभावात्मकत्वात्'** ऐसा माना है।

अभिप्राय यह है कि जैसे बन्धन से छुटकारा मुक्ति है, वैसे ही मुक्ति से छुटकारा बन्धन है। मुक्ति की मुक्ति का अर्थ पलटकर पुनः बन्धन की प्राप्ति ही तो है? परन्तु, ऐसी कोई बात नहीं है। मिथ्यात्व-मिथ्यात्व की वेदान्त प्रसिद्ध प्रक्रिया[32] है।

वेदान्ती – **'घटस्य मुद्गरपातानन्तरं योऽभावः स प्रध्वंसाभावः ध्वंसस्यापि स्वाधिकरणकपालनाशे नाश एव। न चैवं घटोन्मज्जनापत्तिः, घटध्वंसस्यापि घटप्रतियोगिक-ध्वंसत्वात्। अन्यथा प्रागभावध्वंसात्मक-घटस्य विनाशे प्रागभावोन्मज्जनापत्तिः।'** (वेदान्त परि०)

मृत्तिका में घट का मुद्गरपात के अनन्तर जो अभाव होता है, वह प्रध्वसाभाव है। ध्वस का भो अपने अधिकरणभूत कपाल के नाश होने पर नाश होता ही है। इस प्रकार 'ध्वंस का ध्वंस मानने पर घट का ध्वंस नष्ट होने के कारण पुनः घट उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा।', परन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि घट ध्वंस का जो ध्वंस होता है, उसका प्रतियोगी घट ही होता है। अन्यथा प्रागभावध्वंस रूप जो घट, उसका विनाश होने पर पुनः घटका प्रागभाव उत्पन्न होता है—मानना पड़ेगा।

३२. **ननु मिथ्यात्वसत्यत्वे ब्रह्मैक्यश्रुतिपीडनम्।**
तन्मिथ्यात्वे तु विश्वस्य सत्यत्वं केन वार्यते॥
सत्यमत्रोक्तमद्वैतदीपिकायां विरोधिनीम्।
स्वधर्म्यन्यूनसत्ताकंमिथ्यात्वं सत्यतां हरेत्॥
स्वधर्मीक्षाऽक्षतो धर्मः स्वविरुद्धहरोऽथवा॥
(वेदान्त सिद्धान्त सूक्ति मञ्जरी २।५५-५६)

"शंका होती है कि मिथ्यात्व को सत्य मानने से ब्रह्मैक्य श्रुति बाधित होगी, उसके मिथ्या होने पर भी विश्व की सत्यता का निराकरण होगा। इस प्रश्न के समाधान में अद्वैत-दीपिका में कहा गया है—अपने धर्मी की अन्यून सत्तावाला मिथ्यात्व अपने से विरुद्ध सत्यत्व का अपहरण करता है। अथवा अपने धर्मी के साक्षात्कार से निवृत्त न होने वाला धर्म अपने विरुद्ध धर्म का अपहरण करता है।" अर्थात् आकाशादि पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता है, अतः मिथ्यात्व की भी व्यावहारिक सत्ता है। ऐसी स्थिति में मिथ्यात्व धर्मी के सत्यत्व का विरोधी है। अथवा जैसे शुक्ति में रहने वाला शक्तितादात्म्य शुक्ति विषयक साक्षात्कार से निवृत्त नहीं होता, इसीलिये वह अशुक्तित्व-रजतत्व विरोधी है। रजततादात्म्य शुक्ति साक्षात्कार से निवृत्त होता है, अतः शुक्तित्व का विरोधी नहीं है, वैसे ही प्रपञ्च का मिथ्यात्व कल्पित है, तथापि प्रपञ्च-साक्षात्कार से निवृत्त नहीं होता। ब्रह्म के साक्षात्कार से निवृत्त होता है, अतः प्रपञ्चतादात्म्य निष्प्रपञ्चत्व का विरोधी नहीं है।"

मिथ्यात्व का मिथ्यात्व मानने पर कोई दोष नहीं आता। इसी प्रकार हमने एक को मुक्ति की महाधिष्ठात्री शक्ति मान ली, उसका भी आखिर परम कल्याण (मुक्ति-मोक्ष) होना ही है। ऐसी स्थिति में मुक्ति भी मुक्ति चाहे, उचित ही है। व्रज-रज उड़कर मस्तक पर पड़ जाय तो वह भी मुक्त हो ही सकती है।

यमुना के इस पार वृन्दावन है और उस पार विल्ववन[३६] (बेलवन)। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति श्रीलक्ष्मी जी बेलवन में रहती हैं। गोपाङ्गनाओं के पद-रज की कामना से वृन्दावन में निवास की भावना से तप करती हैं।

इन सब दृष्टियों से घोष निवासी व्रजवासियों के भाग्य की सराहना की जाती है। एक दिन ब्रह्माजी ने कहा—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुलात्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥

(भागवत १०. १४ ३५)

"देवों के भी आराध्य प्रभो! इन व्रजवासियों को इनकी सेवा के बदले आप क्या देंगे? सम्पूर्ण फलों के भी फल-परमफल तो आप ही हैं। आपसे बढ़कर और कोई फल है ही नहीं, यह सोचकर मेरा मन मोहित हो रहा है। आप इन्हें अपने आपको देकर भी तो उऋण नहीं हो सकते; क्योंकि आपके स्वरूप को तो अघासुर, बकासुर आदि कुल-कुटुम्ब सहित पूतना ने भी प्राप्त कर लिया। उस पूतना ने जिसका कि केवल वेष ही साध्वी स्त्री था; परन्तु जो हृदय से महान् क्रूर-दुष्टा थी। फिर जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन सब आपके श्रीचरणों में ही समर्पित कर दिया है, जिनका सब कुछ आपके लिये ही है, उन व्रजवासियों के लिये भी वही फल देकर आप भला कैसे उऋण हो सकते हैं? हमारा मन चिन्तित रहता है, हे श्यामसुन्दर मदनमोहन! इन भक्तों के ऋण से कैसे उऋण होयेंगे?"

भगवान् ने कहा—"ब्रह्माजी! कहीं तुम पागल तो नहीं हो गये हो? अरे अनन्त ब्रह्माण्डनायक हूँ। साम्राज्य दूँ, स्वाराज्य दूँ, वैराज्य दूँ, धन-धान्य दूँ, क्या नहीं दे सकता? सब कुछ प्रदान कर सकता हूँ। फिर क्या प्रश्न करते हो?"

ब्रह्मा ने कहा—"हाँ, हाँ, ठीक है। आप क्या देंगे?—स्वाराज्य, वैराज्य

---

३३. वनं विल्ववनं नाम दशमं देवपूजितम्।
तत्र गत्वा तु मनुजो ब्रह्मलोके महीयते॥
(वाराहपुराण १५३. ४५)

अनन्त धन-धान्य हैं क्या, विन्दु ही तो ! कहाँ का विन्दु ! अचिन्त्य अनन्त सुधा-सिन्धु का विन्दु ! अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मादिदेव शिरोमणियों का आनन्द विन्दुमात्र है। वह कहाँ से आता है ? अचिन्त्य अनन्त सुधासिन्धु से। इनके मणि-मय प्राङ्गण में अचिन्त्य अनन्त परमानन्द सुधासिन्धु मूर्तिमान् होकर धूलिधूस-रित होकर 'थेई-थेई' करके खेल रहा है, इन्हें भला विन्दु का प्रलोभन ? विन्दु देकर इनके ऋण से उऋण होओगे ? साम्राज्य देकर, स्वाराज्य देकर, अनन्त धन-धान्य देकर अर्थात् कण देकर उन्हें सन्तुष्ट करोगे ? जिनके प्राङ्गण में अचिन्त्य-अनन्त-परमानन्द सुधासिन्धु ही आपके रूप में क्रीडा कर रहा है। इसलिये आपकी बात जमी नहीं।"

श्रीकृष्ण "अच्छा, ठीक है, '**तर्हि आत्मानमेव दास्यामि** अपने आपको दे डालेंगे, तब तो उऋण हो जायेंगे ?"

ब्रह्मा—'न महाराज ? अपने आपको दे डालने से भी नहीं उऋण होंगे।"

श्रीकृष्ण—"क्यों ?"

ब्रह्मा—'आपने तो पूतना को भी आत्म-समर्पण कर दिया[३४]। फिर ऐसा करके इन्हें पूतना से अधिक क्या देंगे ? धात्री को मिलने-जैसी जो उत्तम गति है, वही गति पूतना को प्रदान किया (की), वही गति यदि इन्हें प्रदान करेंगे तो क्या करेंगे ? फिर बोलिये, कैसे ऋण से उऋण होंगे ?'

श्रीकृष्ण—"तब तो ब्रह्माजी इनके कुल-कुटुम्बों को भी आत्मदान करेंगे।"

ब्रह्मा—"भगवन् ! यह तो बताइये कि पूतना का कौन-सा कुल-कुटुम्ब बाकी रहा ? तृणावर्त, वत्सासुर, वकासुर, अघासुर इन सबको आपने आत्मदान

---

३४. पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम्॥
यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम्।
कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावोनु मातरः॥
(भागवत १०. ६. ३५, ३८)

ऐसी कवन प्रभु की रीति।
विरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति॥१॥
गई मारन पूतना कुच काल कूल लगाय।
मातु की गति दई ताहि कृपालु यादव राय॥२॥
(विनय पत्रिका २१४)

किया। तो फिर महाराज ! जिसने मारने की इच्छा से आपके मुख में कालकूट विष मिश्रित स्तन्य दिया, उसको और जिन्होंने अपना अन्तःकरण-अन्तरात्मा सर्वस्व आपके चरणों में न्योछावर कर रखा है उनको भी वही आत्मदान ?"

"यह तो **'अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' वाली बात हुई।"**

'अन्धेर नगरी चौपट राजा' वाली कथा प्रसिद्ध ही है। एक राजा था —चौपट राजा ! गुरु-चेला विचरण करते हुए उसी राज्य में पहुँचे। चेलाजी ने कहा—"गुरुजी ? यहीं रहना चाहिए। यहाँ तो 'टके सेर भाजी टके सेर खाजा' है, यहीं मौज से रहेंगे।"

गुरुजी—"भाई ! यहाँ रहना उचित नहीं, खतरा है।"

चेलाजी—"अब कुछ भी हो रहना तो यहीं है, जो होगा देखा जायेगा, खतरा भी देख लेंगे। टका सेर खाजा लेकर खायेंगे, आनन्द से रहेंगे।"

दैवात् वहाँ एक चोर पकड़ा गया। मुकदमा हुआ तो चोर ने उजुर्दारी दी—'साहब ! इनकी दीवार कमजोर थी, न जाने कैसी बनाई थी ? सेंध काटते समय दीवार गिर पड़ी, मेरे पैर में चोट आ गयी, इनको दण्ड मिलना चाहिए। मुझे क्यों मिलना चाहिए ?" पता लगाया गया तो पता चला, 'वह बहुत दुर्बल है, फाँसी पर चढ़ने योग्य नहीं है।'

साहब ने कहा—"किसी मोटे आदमी को पकड़ लाओ। फाँसी देना ही है, किसी मोटे को पकड़ लाओ।'

बस क्या था ? गुरु-चेला खाजा खा-खाकर खूब मोटे-ताजे हुए थे, वे ही पकड़ कर ले जाये जाने लगे।

चेलाजी ने कहा—"गुरुजी ! यह तो खतरा हो गया।"

गुरुजी ने कहा—"हाँ भाई ! खतरा तो हो ही गया। मैंने तो पहले ही कहा था कि अन्धेर नगरी में मत रहो।"

चेला—"अब क्या करें ?"

गुरु—"जब फाँसी होने लगे, तब तुम कहना—'मैं फाँसी पर चढ़ूँगा।', मैं कहूँगा—'मैं फाँसी पर चढ़ूँगा।"

सचमुच में हुआ भी ऐसा ही ! गुरु-शिष्य 'हम फाँसी पर चढ़ेंगे, हम फाँसी पर चढ़ेंगे' कहकर झगड़ने लगे। दोनों को बुलाया गया। राजा के सम्मुख पेश किया गया।

राजा ने पूछा—'क्या बात है भाई ! फाँसी तो खराब होती है, तुम दोनों फाँसी के लिए क्यों झगड़ते हो ?'

गुरु-शिष्य ने कहा —"महाराज ! आज जो फाँसी पर चढ़ेगा, बस उसी को अखण्ड भूमण्डल का राज्य प्राप्त होगा।"

राजा ने कहा—"तुम दोनों हटो, हम फाँसी पर चढ़ेंगे।"

यह है 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' की बात।

ब्रह्माजी ने कहा—"तो भाई ! यहाँ पूतना को भी आत्म-समर्पण और इन व्रजवासियों को जिन्होंने आपके चरणों में सर्वस्व अर्पण कर रखा है, इनको भी वही आत्म-समर्पण ? यह तो गलत है।"

ऐसे करुणावरुणालय हैं श्री भगवान्[३५]। ऐसा है, अद्भुत श्रीवृन्दावन धाम[३६] ?

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम॥

---

३५. अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥
(भागवत ३. २. २३)

३६. वृन्दावनं द्वादशकं वृन्दया परिरक्षितम् ।
मम चैव प्रियं भूमे महापातक नाशनम् ॥
वृन्दावनं च गोविन्दं ये पश्यन्ति वसुन्धरे ।
न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम् ॥
(वाराह पुराण १५३. ४८, ४९)

* श्रीहरि: *

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

नवम-पुष्प

१. रसात्मक भगवान् के परिशीलन से अनुपम रसात्मकता की अभिव्यक्ति

शास्त्रों में जो वस्तु वर्णित है, रसिकों ने जिस वस्तु का अनुभव करके निरूपण किया है, वह सब वृन्दावन धाम में प्रत्यक्ष लक्षित होता है। यहाँ सुनी हुई बातों का अनुभव किया जाता है। यहाँ ब्रज-रज के कण-कण में प्रिया-प्रियतम का विहार चलता रहता है।

अभी 'समाज' हो रहा था, श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय की श्रीमहावाणी जी का। श्रीहित-सम्प्रदाय की भी श्रीमहावाणी जी हैं। आद्योपान्त इन वाणियों में निदिध्यासन है।

शास्त्र कहते हैं—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(बृहदारण्यकोपनिषत् २. ४. ५)

श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य एकमात्र आत्मतत्त्व-भगवत्तत्त्व-परमतत्त्व ही है। श्रवण से 'श्रुत', मनन से 'मत'—व्यवस्थित अर्थ में चित्त वृत्तिका प्रवाह 'निदिध्यासन' है—

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत्।
युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत् ॥
ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥

(अध्यात्मोपनिषत् ३३-३४, पञ्चदशी १।५३-५४)

श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनितात्पर्याव-

धारणम् । मननं तु श्रुतस्याद्वितोयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम् । विजातीय प्रत्ययरहित वस्त्वाकार सजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम् ।

(वेदान्तसार)

वाक्यार्थ विचार: श्रवणं भवति, एकान्तेन श्रवणार्थानुसन्धानं मननं भवति । श्रवण-मनन निर्विचिकित्सेऽर्थे वस्तुन्येकतानवत्तया चेत: स्थापनं निदिध्यासनं भवति ।

(पैङ्गलोपनिषत् ३)

बात समझने में शीघ्रातिशीघ्र और सुगमता पूर्वक आ जाने पर भी उससे काम नहीं चलेगा । बात तो एक मिनट में समझ में आ जाती है, पर उतने से ही काम नहीं चलता है । दिन-रात उसी का अनुसन्धान अपेक्षित होता है । तभी काम चलता है । समाज में यही होता है । रसिक लोग उसी पद का बार-बार अनुसन्धान करते हैं, उसी पद में बार-बार अवगाहन करते हैं, सजातीय प्रत्यय रहित विजातीय प्रत्यय का प्रवाह करते हैं ।

कहते हैं—रासलीला कौन खेलता है, होली कौन खेलता है ? ह्लादिनी-शक्ति के साथ आनन्द रासलीला खेलता है, होली खेलता है । रसिक लोग भावना के द्वारा उसका अनुभव करते हैं, बार-बार उसी का चिन्तन करते हैं, उसी में अवगाहन करते हैं, तल्लीन हो जाते हैं । बार-बार उसी का कथन करते हैं ।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेक परत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ।।

(पञ्चदशी १३. ८३)

भगवान् बार-बार चिन्तन, कथन, निरूपण और आलोडन से अर्थात् तैलधारावत् अविच्छिन्न संतान रूप ध्यान से सुलभ हो जाते हैं ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्य युक्तस्य योगिनः ।।

(भगवद्गीता ८. १४)

'ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपम्'

(श्रीभाष्य १. १. १ ब्रह्मसूत्र)

बार-बार आलोडन से एक प्रकार की उपासना बन जाती है । उपासना क्या है ? अपने उपास्य के पास बैठना[३७]—

---

३७. उप समीपे यो वासो जीवात्मपरमात्मनोः ।
उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम् ।।

(वाराहोपनिषत् २. ३९)

"लक्ष्यमुपेत्य यद्दीर्घकालं नैरन्तर्येणादरपूर्वकमासनं तदुपासनम्"

"अपने लक्ष्य तक पहुँचकर जो दीर्घ काल तक अव्यवहित रूप से उसकी सन्निधि में रहना है, उसका नाम उपासना है।"

"उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समान प्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते"
(शांकर भाष्य गीता १२।३)

तुम उसके पास नहीं बैठ पाये तो उपासना नहीं है। इसलिये हर तरह से कोशिश करो उपास्य के पास बैठने की। उपास्य कौन ? परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम परमेश्वर। ऐसे इष्टदेव के पास बैठने का नाम उपासना है। गोपाङ्गनाओं को श्रीश्यामसुन्दर का किञ्चिन्मात्र वियोग भी असह्य है। वे श्रीगोविन्द के दर्शन से परमानन्द को प्राप्त होती हैं—

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥
(भागवत १०. १९. १६)

उन्हें श्रीश्यामसुन्दर का दर्शन बहुत अच्छा लगता है। वे प्रियतम के मुखचन्द्र के दर्शन से नखमणि चन्द्रिका के दर्शन से, दामिनी-द्युति-विनिन्दक पीताम्बर के दर्शन से परमानन्दित होती रहती हैं। मंगलमय श्रीअंग के दर्शन से फूली नहीं समातीं।

संभोग क्या है ? अपनी दिव्य इन्द्रियों से, अपने दिव्य मन से प्रियतम के सौन्दर्य, सौरस्य, सौगन्ध्य, सौशिल्य आदि दिव्यातिदिव्य गुणों का आस्वादन। दिव्य इन्द्रियों से श्रीकृष्णरस का समास्वादन का नाम संभोग है। इन लौकिक इन्द्रियों से ऐसा सम्भोग नहीं सधता। आप जानते हैं कि ग्राह्य-ग्राहक-भाव साजात्य में होता है। नेत्र से ही रूप का ग्रहण क्यों होता है ? इसलिये न क्योंकि नेत्र और रूप तैजस हैं ? प्रभु तो निखिल-निरतिशय रसामृत सन्धु हैं। वे भौतिक नहीं हैं। हमारा आपका मन तो वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार भौतिक है। हमारी दसों इन्द्रियाँ भौतिक हैं। ऐसी स्थिति में अभौतिक, रसात्मक प्रभु का ग्रहण कैसे करें ? मनु महाराज कहते हैं—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्चयज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥
(मनुस्मृति २. २८)

महायज्ञ और यज्ञ उपलक्षण हैं। महायज्ञों के द्वारा, यज्ञों के द्वारा, अङ्गन्यासों—करन्यासों के द्वारा, रसात्मक प्रभु के परिशीलन-परिचिन्तन के द्वारा

शनैः-शनैः इन्द्रियों की लौकिकता, भौतिकता, प्राकृतता, अभिभूत होती जाती हैं और अलौकिकता, अभौतिकता, अप्राकृतता अभिव्यक्त होती जाती हैं।

मन में रसात्मकता रसस्वरूप भगवान् के चिन्तन से आती है। नियम है कि पारद में जिस वस्तु का निघर्षण करो, वह वस्तु अपना रूप छोड़कर रसात्मक बन जाती है। इसी प्रकार भगवच्चिन्तन करते-करते मन भी भगवद्रूप हो जाता है।

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
(भागवत ११. १४. २७)

"जो पुरुष निरन्तर विषयों का चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयों में फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें तल्लीन हो जाता है।"

इसलिये मन में रसात्मकता लाने का एकमात्र उपाय यह है कि निदिध्यासन करो। समाज में बैठकर भगवल्लीला सम्बन्धी एक-एक पद को बार-बार दुहराओ। उसके अर्थ में मन को रमाओ। लीला-पदों का गान करते-करते मन का मनस्त्व मिट जाता है।

पदों में राधा-कृष्ण (प्रिया-प्रियतम) का वर्णन है। 'कृष्ण' नाम की मानो व्याख्या ही पदों के माध्यम से व्यक्त की गयी हो? 'कृष्ण' नाम श्यामतेज और गौरतेज दोनों के सम्मिलित स्वरूप का सूचक है। यथा—

कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥
(गोपालतापिन्युपनिषत्)

२. भगवद्भजन से भजनीय प्रभु में भक्त विषयक व्यसन की अभिव्यक्ति

कुछ लोग तो मानते हैं कि कृष्ण में भक्तों का प्रेम होता है; लेकिन यहाँ की स्थिति यह है कि स्वयं कृष्ण ही भक्तों में प्रेम करते हैं। श्रीकृष्ण केवल प्रेम के गोचर ही नहीं, अपितु आश्रय भी हैं। वे मोर-मुकुट क्यों धारण करते हैं? इसलिये कि मोर का हृदय एकनिष्ठ होता है, मोर-पंख का जो गहरा रंग है, वह आसक्ति का सूचक है। सरस उद्‌बुद्ध उभयविध शृङ्गाररसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द नटवर वेष धारण किए हुए, गोपालवेष में रस का अभिनय किये हुए विराजमान हैं। वे स्वयं रसात्मा हैं; फिर भी आम्रपल्लव, बर्हस्तवक, उत्पलाब्जमाला और और पीताम्बर धारण किये हुए हैं। स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव और अनुभाव ये तीन भाव होते हैं। चूतप्रवाल से उद्‌बुद्ध उभयविध

श्रृङ्गार रसात्मक स्वरूप में श्रृङ्गार रस का स्थायीभाव प्रदर्शित कर रहे हैं। सरस-सुकोमल-अरुण आम्र-पल्लव (चूत प्रवाल) से सरसता, अरुणिमा, राग, कोमलता सूचित कर रहे हैं। लौकिक-दृष्टि से व्रजाङ्गनाओं के हृदय में यह रूप व्यक्त करना है। उनके हृदय में यदि निर्विशेष स्वरूप व्यक्त हो तो उनकी इन्द्रियों के साफल्य की आशा नहीं है। 'बर्हस्तबक' से व्यभिचारी भाव दिखलाया। एक रस 'धर्मी' होता है और एक रस 'धर्म' होता है। प्रभु का मङ्गलमय श्री अङ्ग-रस 'धर्मी' है। उसमें सरस आम्रपल्लव से रस स्थापित किया है। **रसात्मा श्री कृष्ण में रस का सञ्चार हुआ है। 'भावुक रस के लोभी होते हैं' यह तो ठीक है पर यहाँ तो रस भी इसका लोभी हो रहा है।**

सञ्चारी भाव (व्यभिचारी–भाव) बर्हस्तबक कैसे ? मयूर में रसाक्रांति कादाचित्क है। नील नीरद के दर्शन से जब उसमें रसोल्लास होता है, तब वह नृत्य करता है। उसी समय उसके पिच्छ गिरते हैं। मयूर-पिच्छ धारण कर सञ्चारी भाव दिखलाया। रस को उत्पन्न कर ये अस्तङ्गत हो जाते हैं, सदा नहीं रहते। विभाव दो प्रकार के होते हैं, आलम्बन और उद्दीपन। रस का आलम्बन (विषय) आलम्बन विभाव है। व्रजाङ्गनाओं के लिये रस का आलम्बन—'आलम्बन-विभाव' श्रीकृष्ण हैं। जिन-जिन भावों से प्रियतम में भाव अधिक हो, यथा वेणु, मलयानिल, चन्द्रादि–ये 'उद्दीपन-विभाव' हैं।

आलम्बन, उद्दीपन-विभाव और अनुभाव रसानुभव कराने वाले होते हैं। इनमें उत्पलाब्ज माला से अनुभाव दिखाया गया है। इस तरह उद्बुद्ध उद्वेलित-उभयविध श्रृङ्गार रसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द में समस्त रसानुभव की सामग्री है। 'व्रजाङ्गनाएँ कहीं निर्विशेष समझकर उद्विग्न न हों' इसलिए विचित्र सरस होकर श्रीकृष्ण का प्राकट्य हुआ है।

अथवा आम्रपल्लव से रजोगुण सूचित किया है। उसकी सरसता से सानुरागता तथा अरुणिमा से राग सूचित होता है। सत्त्वगुण स्वच्छ होता है, तमोगुण श्यामल तथा रजोगुण रक्त। परमात्मा निर्गुण-निराकार हैं। त्रिगुण प्रकृति-प्राकृत में रहते हैं। यहाँ राग मात्र सूचन के अभिप्राय से रजोगुण सूचन है। लीला पूर्वक उसकी स्वीकृति है। लीला चाहे प्राकृत हो या अप्राकृत, उसमें त्रिगुण की अवस्थिति–स्वीकृति अपेक्षित है। तमोगुण अवष्टम्भात्मक (निरोधात्मक, स्थिरभावात्मक), रजोगुण उपष्टम्भात्मक (चलनात्मक, चाञ्चल्यात्मक) और सत्त्वगुण प्रकाशात्मक होता है। स्थिति, गति और प्रकाश की अपेक्षा लीला के लिये है—

लोकवत्तु लीला कैवल्यम्। (ब्रह्मसूत्र २ १. ३३)

"आप्तैषणा वाले राजा, मन्त्री आदि की क्रीड़ा क्षेत्रों में प्रवृत्ति किसी अन्य प्रयोजन की अभिलाषा न कर केवल लीलारूप होती है। जैसे श्वास-प्रश्वास स्वभाव से ही होते हैं, वैसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर की भी किसी अन्य प्रयोजन

की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही लीलारूप प्रवृत्ति होती है। स्वभाव के विषय में आक्षेप भी उचित नहीं।"

यहाँ लीला है, अप्राकृत। सरस आम्रपल्लव धारण कर अरुणिमा—राग, प्रेम सूचित किया है। इससे यह द्योतित होता है कि उद्‌बुद्ध उभय विध शृङ्गार-रसात्मा श्रीकृष्ण व्रजाङ्गना-वृषभानु नन्दिनी के प्रति सराग हैं। यदि वे उदासीन-रागशून्य परिलक्षित हों तो गोपाङ्गनाएँ निराश हो जायें। उदासीन हों तो वृषभानुनन्दिनी—व्रजाङ्गनाएँ प्रभु को अपना (उनका) रसालम्बन कैसे बनायें? रसालम्बन नीराग, नीरस, हृदय-शून्य थोड़े ही होता है? हरि ने उदासीनता और निराकारता का सङ्गोपन करने के लिये आम्रपल्लव धारण किया है। भगवान्, सरस, सापेक्ष और साकार हैं। इस लीला में निरपेक्षता छिपायी जाती है और सापेक्षता प्रकट की जाती है। नहीं तो क्षीरसिन्धु जिसकी राजधानी है, व्रज-राज नन्द के जो सुत हैं, वे क्षीर की चोरी क्यों करें?

बर्हस्तबक धारण कर तमोगुण सूचित किया है। वह अवष्टम्भात्मक है। अवष्टम्भ का अर्थ है, रुकावट। इससे आसक्ति सूचित होती है। आसक्ति तमोगुण का कार्य है। जब व्यक्ति विषय सेवन से हटाये नहीं हटता, तब वह आसक्त माना जाता है। श्यामसुन्दर ने भी श्यामल मयूरपिच्छ के गुच्छाओं से निर्मित मुकुट धारण कर वृषभानुनन्दिनी विषयिणी आसक्ति व्यक्त की है। ऐसा कर उन्होंने सूचित किया है, "मैं उदासीन-नीरस नहीं, मैं तो नित्य निकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी के स्वरूप में समासक्त कृष्ण हूँ।"

श्रीकृष्ण श्री राधारानी में आसक्त रहकर उनकी अनुकम्पा का पात्र बनना चाहते हैं। सुना ही है—

यस्याः कदापि वसनाञ्चल खेलनोत्थ-
धन्यातिधन्य पवनेन कृतार्थ मानी।

(राधासुधानिधि १)

"मधुसूदन श्रीकृष्णचन्द्र श्री राधारानी वृषभानुनन्दिनी के वसनाञ्चल-खेलनोत्थ पवन से अपने को कृतार्थ मानते हैं।"

उत्पलाब्जमाला (रात्रि-विकासी, दिवस विकासी कमलमाला) धारण से श्यामसुन्दर सत्त्व सूचित करते हैं। पहले से राग का, दूसरे से गाढ़ासक्ति का और तीसरे से व्यसन का सूचन है। अभिप्राय यह है कि श्री वृषभानुनन्दिनी के मुखचन्द्र के दर्शन—चिन्तन का भक्तानुसन्धान का व्यसन सूचित करने के लिये उत्पल तथा सौरभ से स्थिर वासना विवक्षित है।

इस तरह उद्‌बुद्ध उभयविध शृङ्गाररसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द में वृषभानुनन्दिनी विषयक राग, आसक्ति, व्यसन-सूचक चूतप्रवाल, बर्हस्तबक और उत्पलाब्ज-माला सुशोभित हैं। नवल कोमल अरुण आम्रपल्लव से सौरस्य,

बर्हस्तबक से रूप माधुर्य—सौन्दर्य और उत्पलाब्ज माला से सौगन्ध्य सूचित हैं।

यदि 'रसेरसानङ्गीकारात्' इस मत के अनुसार ब्रह्म निरुपाधि है तो भावुकों के किस काम का है? यह तो रूप सौगन्ध्यादि युक्त है। रूप भोगियों की और सौगन्ध्य-भोगियों की प्रीति भी इसमें स्वाभाविक है। अधर-सुधा की लालसावाली व्रजाङ्गनाओं का यह आकर्षण केन्द्र है।

ऐसा यह रसात्मकरूप सर्वथा छिपाने की चीज है। इसलिए पीताम्बर से आवृत है। अभिप्राय यह है कि कपट-चातुर्य से राग, आसक्ति और व्यसन गुप्त है। यहाँ पर भाव-वृक्ष का राग 'बीज' है, आसक्ति 'कलिका' है, और व्यसन 'फूल' है। व्रजाङ्गनाओं के सस्नेह-सरस हृदय में श्रीकृष्ण प्रभु ने वंशी द्वारा भाव बीज बोया बीज भी किन्हीं देशों में बाँस से बोया जाता है। बोते ही यह अंकुरित हुआ, उसमें आसक्ति-कली लगी। कली में भी रूप-रस-सौरभ रहते हैं, पर छिपे रहते हैं। इसके बाद जब व्यसन हुआ, तब वह (भाव-बीज) फूल उठा। जब पुष्प विकसित हुआ, तब रूप-रस और सौरभ व्यक्त हुए।

इस प्रकार दिव्यातिदिव्य-अद्भुत व्यसनावस्था भावुक-जीवन की सुख-मय अवस्था है। बिना दर्शन-परिरम्भण और अधरामृत पान के न रहा जाय, यही तो राग-आसक्ति और व्यसन है। यह महाभाग्य की बात है। 'अहो रात्रं बासनास्यात्' यहाँ व्यसन की निरन्तरता है। जो निरन्तर रहे, वही व्यसन है। जो छूट जाय, वह व्यसन नहीं। जिसके बिना रहा न जाय, वह व्यसन है।

इस तरह श्रीकृष्ण परमानन्द रागवान्, आसक्तिमान् और व्यसनवान् होकर व्यक्त हैं।

कोई 'बर्ह' अलग लेते हैं और स्तबक अलग लेते हैं। 'बर्ह' माने मयूर-पिच्छ और स्तबक माने फूलों के गुच्छे। उत्पलाब्ज माला से यह दिखलाया कि विकसित उत्पल में ही पूर्ण रूप से रस, रूप, सौरभ होते हैं। रस, रूप, सौरभ, कलिका में भी होते हैं, पर वह अविकसित हो तो कैसे मालूम पड़े? इसलिए उत्पल-अब्ज दोनों का ग्रहण है। कारण यह है कि रात्रि विकासी दिवस में अविक-सित रहता है और दिवस विकासी रात्रि में अविकसित रहता है। यदि एक ही प्रकार हो तो नैरन्तर्येण उनकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

इस तरह श्रीकृष्ण प्रेम के गोचर ही नहीं, अपितु आश्रय भी हैं, इस तथ्य का प्रकाश भागवत में इस प्रकार किया गया है—

चूतप्रवाल बर्हस्तबकोत्पलाब्ज—
मालानुपृक्त परिधान विचित्र वेषौ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपाल गोष्ठ्यां-
रंगे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ॥

(भागवत १०. २१. ८)

"जब राम–श्याम आम की नयी कोपलें, मोर के पङ्ख, फूलों के गुच्छे रङ्ग–विरंगे कमल और कुमुद की माला धारण कर लेते हैं, श्रीकृष्ण के साँवरे शरीर पर पीताम्बर और बलराम के गोरे शरीर पर नीलाम्बर फहराने लगता है, तब उनका वेष बड़ा विचित्र बन जाता है। ग्वाल-बालों की गोष्ठी में वे दोनों बीचों–बीच बैठ जाते हैं और मधुर सङ्गीत की तान छेड़ देते हैं, उस समय ऐसा जान पड़ता है, मानो दो चतुर नट रङ्ग–मञ्च पर अभिनय कर रहे हों।"

३. व्यसनी प्रभु और प्रभु परायण में परस्पर अन्योन्यात्मकता की संसिद्धि––

जब श्रीकृष्ण आसक्ति के गोचर ही नहीं, स्वयं आसक्तिमान् भी हैं तो (तब) क्या कहना! फिर प्रेम में कितनी सुविधा, असुविधा का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है। अन्ततोगत्वा भक्तों ने यहाँ तक कहा है कि प्रियतम ही प्रेम के आश्रय हैं, प्रियतम ही प्रेम के विषय हैं, इसलिये प्रियतम प्रेम ही हैं। बात ठीक ही है, जँचती है बात। भगवान् अनन्त सत्ता, अनन्त आनन्द और अनन्त चैतन्य हैं। वे निरुपाधिक परम प्रेमास्पद हैं। हमारी बातों को ध्यान में रख लो। दूसरी जगह सौन्दर्य अलग होता है, सौन्दर्य ज्ञानजनित इच्छा–विशेष 'प्रेम' अलग होता है। देखो ग्राह्य रूप अलग है, ग्राहक नेत्र अलग है और भासक आलोक अलग, पर मूल में ये तीनों वस्तुत: तेजोमात्र हैं। ठीक इसी प्रकार सौन्दर्य ज्ञान जन्य इच्छा विशेष रूप प्रेम, प्रेमका आश्रय और विषय वस्तुत: एक हैं। जो अनन्त सत्ता वही अनन्त बोध, वही अनन्त आनन्द। सुना है न?

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीयो० २. १)
'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृहदाण्यको० ३. ९. २८)

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (भगवद्गीता ४. २४)

आनन्द और आह्लादिनी–शक्ति दोनों की क्रीड़ा है। एक ही तत्त्व सौन्दर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री देवी श्री राधा और प्रेम-सार-सर्वस्व का अधिष्ठात्रि–दैवत् श्रीकृष्ण है। प्रेम-सार-सर्वस्व में सौन्दर्य-सार-सर्वस्व है और सौन्दर्य-सार-सर्वस्व में प्रेम सार-सर्वस्व है। रसिकों ने कहा—पीली शीशी में श्याम रस भरा है और श्याम शीशी में पीत-रस भरा है। गौर रस श्री राधारानी के भीतर श्याम तेज सन्निविष्ट है और श्याम तेज श्रीकृष्ण के भीतर गौर-रस सन्निविष्ट है।

'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यज:' (मुण्डक २. १. २)

'वेद मन्त्र कहता है, वह बाहर भी है और भीतर भी।'

ऐसा समझो कि श्याम शीशी में गौर-रस भरा है और बाहर से गौर-रङ्ग का वेष्टन लगा है। इसी तरह गौर शीशी में श्याम रस भरा है और बाहर

से श्याम वस्त्र का वेष्टन लगा है। इस तरह राधारानी-वृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द माने माधुर्य-सार-सर्वस्व विशिष्ट अचिन्त्यानन्त परमानन्द सुधासिन्धु भगवान्। राधा-कृष्ण अर्थात् गौरतेज संवलित श्यामतेज और श्यामतेज संवलित गौर तेज। श्यामतेज भीतर भी है और बाहर भी। गौरतेज भीतर भी है, बाहर भी। आपने देखा है, राधारानी गौरतेज हैं और नीलाम्बर से परिवेष्टित हैं। राधारानी के भीतर कृष्ण-श्याम तेज हैं। व्रजाङ्गनाओं के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध ही है—

> श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्र मणिदाम।
> वृन्दावन रमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥
>
> (श्रीकर्णपूरस्य)

"व्रजबालाओं ने अपने प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र के वियोगजन्य तीव्रताप को प्रशान्त करने के लिये अपने कानों में नीलकमल के कर्णफूल, नेत्रों में अञ्जन और नील निचोल को धारण कर रखा है, उन्होंने इन श्याम वर्ण की वस्तुओं को धारण करके प्राणधन श्यामसुन्दर को ही धारण किया है। उनके तो अखिल मण्डन-समस्त शृङ्गार एकमात्र श्रीहरि ही हैं।"

भगवान् की परम अन्तरङ्गा सखियाँ कानों में लौकिक हीरा, सोना का कुण्डल नहीं धारण करतीं, अपने प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र को ही नीलकमल का कुण्डल बना करके कानों में धारण करती हैं। उच्चकोटि की रसिक सखियाँ जड़ करिरवा का अञ्जन आँखों में नहीं लगातीं। वे तो प्राणनाथ के मंगलमय पादारविन्द का जो श्यामल पराग है उसी को अञ्जन बना करके धारण करती हैं। वे उरोजों में श्रीश्यामसुन्दर को ही महेन्द्रमणि की माला बनाकर धारण करतीं हैं।

इस तरह मदनमोहन श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन ही कुवलय होकर गोपाङ्गनाओं के कुण्डल बने हैं। वे ही अञ्जन बन के उनकी आँखों की शोभा बढ़ा रहे हैं। उर:-स्थल में जो महेन्द्रमणि की माला है, वह भी श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन ही हैं। उरोजों में मृगमद भी श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही हैं। वृन्दावन की तरुणियों के अखिल मण्डन श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द ही हैं। इन गोपाङ्गनाजनों के विशेष कर राधारानी वृषभानुनन्दिनी के हृदय में वही श्यामरस भरपूर है। वे उसी श्यामतेज का नीलाम्बर, उसी श्यामतेज का अञ्जन, उसी श्यामतेज का कुवलय, उसी श्यामतेज की महेन्द्रमणिमाला और सम्पूर्ण अलंकार धारण करती हैं। उनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और किसी भी आभूषण को पहनना अत्यन्त ही हेय है। इसीलिये उन्होंने बाहर-भीतर सर्वत्र श्रीमदनमोहन श्यामसुन्दर को ही धारण किया है। इस प्रकार का तादात्म्य इन व्रजवनिताओं को ही हुआ है। अन्यत्र तादात्म्य आरोपित होता है। गोपाङ्गनाजनों का ही जीवन सार्थक है; क्योंकि इन्होंने पुरुषभूषण से ही अपने हृदय को विभूषित किया है—

ईदृशा पुरुषभूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः ।
धिक् तदीय कुलशीलयौवनं धिक् तदीय गुणरूपसंपदः ॥
(श्रीआनन्द वृन्दावन० ८. ३५)

"ऐसे पुरुषभूषण के द्वारा जिस ललना ने अपने उर:स्थल को अलंकृत नहीं किया, उसको धिक्कार है, उसके कुल, शील, यौवन, गुण और रूप-वैभव को धिक्कार है !"

कोई योगीन्द्र-मुनीन्द्र-अमलात्मा-परमहंस भी अपने हृदय को इनसे नहीं सजाया तो उसके भी योग को धिक्कार है ?

उधर श्यामसुन्दर का दामिनी-द्युति-विनिन्दक पीताम्बर कौन है, जानते हो ? राधारानी वृषभानुनन्दिनी ही । वही श्यामसुन्दर के हृदय में विराजमान हैं, वही उनके बाहर भी । श्यामतेज के भीतर गौरतेज है और श्याम तेज के बाहर भी गौर तेज ही । उसी गौर तेज परिवेष्टित, दामिनीद्युति-विनिन्दक पीताम्बर से भगवान् समलङ्कृत हैं । दामिनीद्युति-विनिन्दक पीताम्बर राधारानी वृषभानुनन्दिनी का ही मंगलमय स्वरूप है । महेन्द्र नीलमणि पर चाँद की चाँदनी के तुल्य श्रीश्यामसुन्दर के श्रीअङ्ग पर चन्दन बनकर श्रीगौराङ्गी राधारानी विराजमान हैं । तिलक, कौस्तुभ, मोती, वेणु, कङ्कण, सर्वाङ्ग विलिप्त चन्दन, कण्ठाभरण, पीताम्बर समस्त परिधान-अलङ्कार श्रीजी ही हैं—

कस्तूरी तिलकं ललाट फलके वक्ष:स्थले कौस्तुभम्
नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम् ।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावली
गोपस्त्री परिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः ॥
(श्रीकृष्ण कर्णामृत २. १०९)

निखिल रसामृतसिन्धु भगवान् की सब अलंकारादि सामग्री रस स्वरूप ही हैं । सौरभ्य से उनका उद्वर्तन (उबटन), स्नेह से अभ्यञ्जन (मालिश), माधुर्य अथवा स्वाङ्गतेज से स्नान, लावण्य से मार्जन, सौन्दर्य से अनुलेपन और त्रैलोक्य लक्ष्मी (शोभा) से अलंकार होता है—

अभ्यक्तमिव सुरभितमस्नेहेन, उद्वर्तितमिव सौरभ्येण, स्नातमिव माधुर्येण, मार्जितमिव लावण्येन, अनुलिप्तमिव सौन्दर्येण, विभूषितमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्या
(आनन्द वृन्दावन चम्पू २ ११)

वृषभानुनन्दिनी महाभाव स्वरूपा हैं । सखियों के प्रणयरूप सद्गन्ध से उबटन, करुणामृतधारा-लावण्यामृतधारा-तारुण्यामृतधारा से स्नान, लज्जारूप

श्यामल पट्टवस्त्र परिधान, उज्ज्वल कस्तूरी से विरचित देह है। कम्प-अश्रु-पुलक-स्तम्भादि से निर्मित उनके अलंकार हैं।

श्रीकृष्ण के परिधान पीताम्बर श्रीराधारानी हैं। श्रीराधारानी के कज्जल, मृगमद, कर्णोत्पल नीलाम्बर श्यामसुन्दर हैं। शृङ्गार रस की अङ्गिता और उज्ज्वलता-अनौपचारिक रीति से यहीं चरितार्थ है, कैसे ?

'श्रीकृष्ण कौन हैं ?' चन्द्र ! 'कहाँ के चन्द्र ?' श्रीराधारानी में जो श्रीकृष्ण विषयक सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्‌बुद्ध-उद्‌वेलित (विकसित और उच्छलित) उभयविध शृङ्गाररस महासमुद्र है, उसी से जो आविर्भूत निर्मल-निष्कलंक पूर्णचन्द्र वे ही श्रीराधारानी हैं।

श्रीराधाकृष्ण क्या हैं ? 'उभय-उभय भावात्मा, उभय-उभय रसात्मा।' अर्थात् दोनों-दोनों के भावस्वरूप और दोनों दोनों के रसस्वरूप हैं। श्रीराधारानी के भाव स्वरूप और रस स्वरूप हैं श्रीकृष्ण। श्रीकृष्णचन्द्र के भावस्वरूप और रसस्वरूप हैं श्रीराधावर । इस प्रकार दोनों लोकोत्तर वस्तु हैं।

महावाणी और अन्य ग्रन्थोंमें कहा गया है कि श्रीराधा-कृष्णका सम्बन्ध अकाट्य है, सर्वथा अभेद्य है। मरकतमणि में जैसे काञ्चन की तादात्म्यापत्ति हो अर्थात् मरकतमणि में कञ्चन खचित हो जाय और कञ्चन में मरकत खचित हो जाय ? इन सबसे ऊँचा सम्बन्ध है तरङ्ग और जल का। तरङ्ग से जल का विप्रलम्भ (विच्छेद या वियोग) नहीं होता।

माना जाता है कि 'क्लीं' जो कि काम बीज है, उसमें 'क' का अर्थ है श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन, 'ल्' का अर्थ है—राधारानी वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी, 'ई' जो कि दीर्घ चतुर्थस्वर है, उसका अर्थ है तन्त्रों में 'कामकला', जिसका तात्पर्य है उत्कृष्ट प्रीति और 'ं' (विन्दु) का अर्थ है, रसोद्रेक। इस तरह 'क्'—अचिन्त्य परमानन्दसुधासिन्धु श्रीकृष्ण, 'ल्'—सुधासिन्धु के माधुर्यसार सर्वस्व की अधिष्ठात्री राधारानी, 'ई'—आनन्दसार-सर्वस्व श्रीकृष्ण और माधुर्यसार-सर्वस्व श्रीराधारानी दोनों का परस्पर प्रेम, 'ं'—श्रीराधा-कृष्ण के परस्पर सम्मिलन से प्रादुर्भूत रसोद्रेक। अभिप्राय यह है कि **काम बीज 'क्लीं' का अर्थ है श्रीराधा-कृष्ण के परस्पर प्रेम पूर्ण-सम्मिलन से प्रादुर्भूत लोकोत्तर रसाद्रेक[३८] !**

३८.　'ककारः कृष्णरूपः स्याल्लकारश्चापि राधिका।
ईकाराख्या कामकला तद्विलासस्तु चन्द्रकः॥
प्रेमसारामृताम्भोधिः ककारार्थस्तु केशवः।
तन्माधुर्यैक साराब्धिर्लकारार्थस्तु राधिका॥

इस दृष्टि से राधा-कृष्ण में परस्पर अन्योन्यात्मकता है।

अहोचित्रमहोचित्रं वन्दे तत्प्रेम बन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्।।

"अहो! आश्चर्य है! मैं तो उस प्रेम बन्धन का वन्दन करता हूँ, जिससे बँधकर सबको मुक्ति प्रदान करनेवाला और स्वयं नित्यमुक्त ब्रह्म भी भक्तों का खिलौना बन जाता है।"

तभी तो रसिक महानुभावों ने कहा है—

बन्धनानि खलुसन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुकृत बन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रि-
र्निष्क्रियो भवति पंकजकोशे।।

(श्रीधरस्वामिपाद)

"लोग बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, हम उस प्रेमबन्धन की वन्दना करते हैं, जिसने प्रिया-प्रियतम को बाँध रखा है। वह बन्धन भी धन्य-धन्य है। जो स्वयं मुक्त हैं, अनन्त ब्रह्माण्ड को मुक्ति देने वाले हैं, परात्पर परब्रह्म हैं, वे प्रेम में बँधकर क्रीडामृग बन गये हैं—भक्तों के खिलौना बन गये?"

४. वेदान्तवेद्य हिततम-हितसखी रूप तत्त्व की प्रिय-प्रिया और प्रेम-त्रिदल रूप से स्फूर्ति

यहाँ तो प्रेम ही प्रिया और प्रेम ही प्रिय है। हित सम्प्रदाय वाले कहते हैं—'हित ही परम तत्त्व है।'

ईकारार्थः स्मरोऽपूर्वः साक्षान्मन्मथमोहनः।
तदुल्लासवशावेशवशयो रुद्भटं मुदा।
संश्लेषादि विलासात्मा चन्द्रकार्थः प्रकीर्तितः।।"
"ककारः पुरुषः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
ईकारः प्रकृती राधा नित्यं वृन्दावनेश्वरी।।
लश्चानन्दात्मकः प्रेमसुखं च परिकीर्तितम्।
चुम्बनाश्लेषमाधुर्यं विन्दुनादमुदीरितम्।।"

(बृहद्गौतमीयतन्त्र)

अर्थात् ककार 'कृष्ण' है, लकार 'राधा', ईकार 'कामकला', उसका विलास 'विन्दु'। अथवा ककार 'कृष्ण' है, ईकार 'राधा', लकार 'आनन्द'—'प्रेमसुख' और उसका माधुर्य है 'विन्दु'।

कौषीतकि उपनिषत् की कथा है कि एक बार राजर्षि प्रतर्दन ने इन्द्र पर हमला किया। वह बड़ा ही प्रतापशाली राजा था। इन्द्र ने उसके साहस पर प्रसन्न होकर कहा 'वरं ब्रूहि'— वर माँगो।', हम तुम्हारे साहस को धन्यवाद देते हैं।"

प्रतर्दन ने कहा, "हम नहीं जानते कि क्या माँगना उपयुक्त है ? हमने तो देना ही सीखा है। क्या माँगना चाहिए, यह तो आप ही जानते हैं। आप जो मनुष्यों के लिये हिततम जानते हैं, उसे ही हमारे प्रति कहिये !"

"प्रतर्दनो हवै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन पौरुषेण च तं हेन्द्र उवाच प्रतर्दन वरं ते ददानीति स होवाच प्रतर्दनस्त्वमेव वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति तं हेन्द्र उवाच न वै वरं परस्मै वृणीते त्वमेव वृणीष्वेत्यवरो वैतर्हि किल म इति होवाच प्रतर्दनोऽथो खल्विन्द्रः सत्यादेव नेयाय सत्यं हीन्द्रः स होवाच मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये।"

(कौषीतकि ब्राह्मणो० ३. १)

"दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन युद्ध और पराक्रम से इन्द्र के परम धाम को पहुँचा। उससे इन्द्र ने कहा, 'हे प्रतर्दन ! मैं तुझे क्या वरदान दूँ ?' प्रतर्दन ने कहा, 'आपको जो प्रसन्न हो, जिसको आप मनुष्य के लिये हिततम समझते हों, वह वरदान मुझे दीजिये।"

"इन्द्र बोला, 'कोई दूसरे के लिये वरदान पसन्द नहीं करता। तू अपने लिये आप ही वरदान माँग ?"

"प्रतर्दन बोला, 'मुझे पसन्द करने के लिये कुछ है ही नहीं।"

"इन्द्र ने कभी सत्य का परित्याग नहीं किया, क्योंकि इन्द्र सत्यरूप है। वह बोला, 'तू मुझे ही जान, मनुष्य के लिये यही उत्तम हित मानता हूँ कि यह मुझे (वस्तुतः—तत्त्वतः) पहिचाने।"

उपनिषत् के उस प्रसंग में हिततत्त्व का ही उपदेश है। हिततत्त्व 'ब्रह्म' है, जो कि एक प्रकार से 'प्रेमतत्त्व' ही है। अनन्त ब्रह्माण्डाधिष्ठान ब्रह्म परम प्रीति पात्र है। सब की जिसमें स्वाभाविक पराकाष्ठा की प्रीति होती है, वह ब्रह्मतत्त्व परप्रेमास्पद स्वयं प्रेमात्मक ही है। भोक्ता, भोग्य और प्रेरयिता (प्रेरक) रूप से वह प्रेमतत्त्व ही तीन प्रकार का है—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्

(श्वेताश्वतरोपनिषत् १. १२)

वेदान्तवाले इसका अपने ढङ्ग से अनुशीलन करते हैं। 'यहाँ की रस-रीति से यों समझो कि 'भोज्यं' माने राधारानी। हित ही भोग्य बन जाता है।

हित तत्त्व ही श्रीकृष्ण के रूप में भोक्ता बन जाता है। वही हमारे आपके हृदय में प्रिया-प्रियतम (श्रीराधा-कृष्ण) के सम्मिलन के दर्शन की प्रेरणा करता है। प्रेरणा भी 'प्रभु-सम्मित' ढङ्ग से राजा की तरह हुकूमत के ढङ्ग से नहीं, 'कांता-सम्मित' ढङ्ग से, सखी-सहेली-प्रिया की तरह प्यार से।

'हित' उसको कहते हैं जो वस्तु हमारे लिये उन्नति, कल्याण में उपकारक हो। वह अनेक प्रकार की होती है। उसमें जो सर्वातिशायी हित है, उसे 'हिततम' कहते हैं।

इन्द्र ने प्रतर्दन से वरके उत्तर में कहा—'मैं ही हिततम हूँ, मेरी उपासना करो', विचार करने पर निश्चय होता है कि यहाँ हिततम वस्तु ब्रह्म है, क्योंकि शास्त्र-दृष्टि से 'मैं' शब्द का अर्थ तत्त्वतः ब्रह्म ही सिद्ध होता है। वही हिततम है, निरतिशहय कल्याणप्रद है, परमानंदस्वरूप हैं।

परमप्रेमास्पद परमानन्द-स्वरूप ब्रह्म तत्त्व कूटस्थ एवं अद्वितीय है। वही अचिन्त्य दिव्य लीला-शक्ति के योग से नित्य नूतन दिव्य प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है। एक ही निर्विभाग चैतन्य स्वरूप परमानन्द 'प्रेम तत्त्व' लीला योग से आश्रयत्व-विषयत्व भागी होकर द्विधा, त्रिधा, प्रकट होता है। इसलिये उसको प्रेम की धारा अथवा प्रेम का प्रवाह कहना भी उपयुक्त हा है। प्रत्येक प्रवाह नूतन ही है, तथापि न उसका आदि है न अन्त। इसी अभिप्राय से उसे अनादि-अनन्त भी कहने की प्रथा है। इस प्रेम तत्त्व के नित्य नवीन होने के कारण ही सभी लीलाओं में रसिकजन दिव्य दम्पती राधा-कृष्ण को प्रतिदिन, प्रतियाम, प्रतिक्षण नवीन रूप में अनुभव करते हैं।

प्रिया-प्रियतम नित्य नव नवायमान होते रहते हैं। नया-नया रस, नया-नया रूप-सौन्दर्य, नया-नया लावण्य और नयी-नयी मदिमा। प्रतिक्षण स्नेह भी नया-नया। नया-नया पीताम्बर और नया-नया नीलाम्बर। प्रेमघन की बूँदे भी नयी-नयी। हृदय की आर्द्रता भी नयी-नयी। महाकवि कर्णपूर आनन्द वृन्दावन-चम्पू में कहते हैं कि चिदानन्द-सरसी यशोदा मैया की गोद में एक ऐसा नील कमल खिला जिसको भ्रमरों ने कभी सूँघा नहीं। वायु ने जिसके सौरभ का अपहरण किया नहीं। जो जल में पैदा हुआ नहीं, जिसने जल सीकरों की चोट खायी नहीं और उसके पहले कभी, कहीं किसीने जिसे देखा नहीं—

> अनाघ्रातं भृंगैरनपहृत – सौगन्ध्यमनिलै–
> रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मी कणभरैः।
> अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्द सरसो–
> यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥

(आनन्द वृन्दावन चम्पू २.११)

अनन्त, दिव्य अद्भुत प्रेमघन के मूर्त्तरूप श्रीराधा-माधव के रसात्मक विहार का नित्य प्रवाह बहते रहने पर भी आज तक दोनों में परस्पर परिचय नहीं हुआ ! यह तत्त्व ही ऐसा है कि इसमें प्रत्यभिज्ञा नहीं। नित्य नवनवायमान, अभिराम, आभा, प्रभा, शोभा और कान्ति से तथा वैसे ही सौन्दर्य माधुर्य,सौरस्य, सौगन्ध्य, वैदग्ध्य और औदार्य आदि गुणों से दोनों के प्रकाश में विलक्षणता का उदय होता है। दोनों के समन नयनों से निहारते रहने पर भी–परस्पर मुख-दर्शन परायण रहते हुए भी 'यह वही है, वही है' इस प्रकार परस्पर एक–दूसरे को पहचानना दुर्लभ ही रहता है। क्योंकि प्रेम सिन्धु में दोनों ही डूबते–उतराते रहते हैं—

न आदि न अन्त विलास करें दोउ,
लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नयी–नयी भांति नयी छवि कान्ति,
नयी नवला नव नेह विहारी।।
रहे मुख चाहि हिये चित चाहि,
परे रसरीति सुसर्व सुहारी।
रहें इक पास करें मृदु हास,
सुनो ध्रुव प्रेम अकत्थ कहारी।।
(ध्रुवदास जी)

भोक्ता-भोग्यरूप प्रियतम और प्रेयसी प्रेमोल्लास वश अद्वयभाव को प्राप्त हो जाते हैं। तब भी लीलोल्लास-विशिष्ट युगलरूप का अनुभव न करने के कारण व्याकुलता होती है। प्रेम-समुद्र से फिर युगलरूप प्रकट हो जाते हैं। प्रेम-तत्त्व ही प्रेरक है। युगल के रसास्वादन के लिये व्याकुलतावश वही निरुपम सख्य के कारण सखी होकर उनकी परिचर्या करता है। सखी के निरुपम रसा–मृत-सिन्धुमय हृदय से रासेश्वर युग्म का प्राकट्य होता है और वहीं पुनः दोनों निमग्न हो जाते हैं। इसलिये यह कहना पड़ेगा कि भक्तों के हृदयदेश में पूर्णानु-राग रसधाम सरोवर में नील-पीत कमल के समान दोनों परस्पर क्रीड़ा करते हैं। दोनों का हृदय अभिन्न है। आत्मा और प्राण भी एक हैं।

नयो नेह नवरङ्ग नयो रस,
नवल श्याम वृषभानु किशोरी।
नव पीताम्बर नव चूनरी,
नयी–नयी बूँदन भींजत गोरी।।

महानुभावों का यह भी कथन है कि दो होते हुए भी एक हो जाना, प्रेमानुभूति है। इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि दोनों वस्तुतः सत्य होते हुए ही एक होते हैं तो वह एक होना भावना-प्रकर्ष जनित ही है। यदि भेद औपाधिक है तो वह ऐक्यानुभूति प्रेमात्मिका है। प्रेमाद्वैत की अवस्था दो

हुए बिना सिद्ध नहीं हो सकती । माधुर्य विवश होकर परस्पर प्रेम के अमृत समुद्र में निमज्जन ही प्रेमाद्वैतावस्था है । द्वैत की अवस्था में चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है । छलकते हुए प्रेम समुद्र में डूब जाना ही एकता है । क्षण-क्षण में चैतन्य का उदय होना ही उसकी नव-नवायमानता है ।

अथवा यों भी कह सकते हैं कि भोग्यात्मा रासेश्वरी तत्त्व ही वह निरुपम कमल है । सौन्दर्य ही मकरन्द है, उसके निस्यन्द के लोभी हैं, निरुपम मिलिन्द (भ्रमर) नन्दनन्दन । रस धाम, सुखनिधान होने के कारण श्रीराधा गौर-ज्योति हैं । नित्य-नूतन अभिलाषरूप होने के कारण भोक्ता माधव नील-ज्योति हैं ।

श्रीराधा-माधव दोनों ही अलि हैं, दोनों ही कमल हैं दोनों ही चकोर हैं, दोनों ही चाँद हैं । दोनों ही प्रेम हैं, दोनों प्रेम पयोनिधि हैं, दोनों प्रेम पयो–निधि से आविर्भूत चन्द्र हैं । दोनों परमानन्द सुधा सिन्धु हैं, दोनों सुधासिन्धु के माधुर्य-सार-सर्वस्व हैं । न्यूनाधिक मानने पर प्रेम की उज्ज्वलता सिद्ध नहीं होता । एक रङ्ग, एक रुचि, एक भाव, एक वय, एक शील, एक स्वभाव, एक रस, एक ही दो दिव्य देह । दोनों पूर्ण, दोनों परात्पर पूर्ण-ज्योति, पूर्णानन्द, पूर्ण-रससिन्धु-माधुरी ।

५. पूर्ण प्रिया-प्रियतम, धाम और रसिकवृन्द का परस्पर आकर्षण–लीलासिद्ध आत्मविस्मृति मूलक या हित सखी निमित्तक ही––

प्रश्न उठता है, जब दोनों ही पूर्ण हैं, तब परस्पर इस तरह का अनुराग क्यों ? यद्यपि यह तो मान्य है कि दोनों में स्वाभाविक प्रेम है तो भी प्रश्न यह है कि जब दोनों ही आप्तकाम, पूर्णकाम, पुरुषोत्तम हैं, तब एक-दूसरे की ओर आकर्षण क्यों ? श्री वल्लभाचार्य के अनुसार एक भगवान् की जीवार्था सृष्टि होती है और दूसरी आत्मार्था । जीवार्था-सृष्टि जीवों के कल्याण के लिए–उन्हें भोगापवर्ग प्रदान कराने के लिये होती है । आत्मार्था-सृष्टि अपने ही रसास्वादन के लिये होती है । श्रीकृष्णचन्द्र के रूप में, श्रीराधारानी के रूप में या श्री वृन्दावन धाम के रूप में परमात्मा का प्रदुर्भाव आत्मार्था-सृष्टि है ।

'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तैत्तिरीयो० २।७)

श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने को ही श्यामसुन्दर के रूप में प्रकट किया है, राधारानी के रूप में प्रकट किया है, वृन्दावन धाम के रूप में प्रकट किया है और सहचरी गौराङ्गी गोपाङ्गनाओं के रूप में प्रकट किया है । आत्मार्था सृष्टि आनन्द रूप ही है ।

फिर भी प्रश्न उठता है कि अपने में आनन्द की पूर्णता न हो—अपना स्वरूप आनन्दरूप से न स्फुरित हो तो दूसरे से प्राप्त होनेवाले आनन्द में आकर्षण

होता है। जब वे पूर्णानन्द हैं तब फिर किसी का किसी में आकर्षण क्यों ? गोपांगनाओं का प्रिया-प्रियतम में आकर्षण क्यों ? इन सबका वृन्दावन में आकर्षण क्यों ? इसलिए प्रेरयिता की जरूरत है। प्रेरणा कई तरह की होती है। जैसे हरेक प्राणी सूर्योदय होते ही चारा-पानी ढूँढ़ने में किसकी प्रेरणा से प्रेरित होता है ? भूख-प्यास की प्रेरणा से। वह किसीको चैन से बैठने नहीं देती। उसके कारण कोई चैन से बैठ नहीं सकता। सूर्योदय होते ही पशु-पक्षी सभी दौड़ने, इधर-उधर फुदकने लगते हैं। आपको प्यास लगती है, पानी के लिए प्रयास करते हैं। बिना उसके आप चैन से बैठ नहीं सकते। कामिनी के अन्वेषण के लिये कौन प्रेरित करता है ? काम। तो जैसे भोजन-पानी के लिये भूख-प्यास प्रेरित करती है और कामिनी के लिये काम प्रेरित करता है, वैसे ही श्री प्रिया-प्रियतम के दर्शन के लिये 'हित सखी' प्रेरित करती है। 'प्रिया-प्रियतम के दर्शन से मैं कृतार्थ हो जाऊँगा, इसलिये प्रिया-प्रियतम के दर्शन में मैं प्रवृत्त होऊँ' ऐसी प्रेरणा 'हित सखी' करती है।

प्रिया-प्रियतम फिर एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट क्यों होते हैं ? ठीक है, जब तक दोनों को अपनी (उनकी) पूर्णता का भान है, तब तक भला-परस्पर आकर्षण कैसे हो सकता है, एक-दूसरे के बिना विह्वलता कैसे आ सकती है ! इसके लिये 'स्वरूप-विस्मृति' की अपेक्षा है। भला किस प्रकार ! जिस प्रकार कि रसिक लोग भङ्ग पान कर स्वरूप-विस्मृति लाभ करते हैं। वैसे विस्मृति आमतौर पर पुरुषार्थ नहीं। फिर भी प्रायः रसिक लोग भङ्गपान करके स्वरूप-विस्मृति रूप रसलाभ करते हैं। भगवान् की एक मोहिनी-शक्ति है। वह माया नहीं, माया तो जबरदस्ती मोहित करता है। स्वेच्छया मोहिनी-शक्ति का अवलम्बन करके श्रीप्रिया-प्रियतम स्वरूपानन्द को भूल जाते हैं। वृन्दावन भी स्वरूपानन्द को भूल जाता है। प्रिया-प्रियतम अपने परमानन्द को भूले हुए–से होकर वृन्दावन की लालसा करते हैं। यद्यपि श्रीराधा-माधव रस और श्रीधाम वृन्दावन इनका परम 'अविना भाव–सम्बन्ध' है।

श्रीराधामाधवयोर्यथा कदाचिन्न सम्भवो विरहः।
तद्रस वृन्दावनयोस्तथैव परमोऽविनाभावः।।

(श्री वृन्दावन–महिमामृत १२. २)

"श्रीराधा-माधव का जैसे कभी भी विरह सम्भव नहीं, वैसे ही दोनों का मधुररस के साथ और श्री वृन्दावन के साथ नित्य संयोग है।।"

भला वह कौन-सा अद्भुत-अनुपम धाम वृन्दावन है, जिसकी लालसा श्रीराधा-माधव भी करते हैं। वह है सत्त्व, रज. तमरूप त्रिगुण से अछूता, देश और काल की गति से अतीत स्वात्मज्योति विशुद्ध चिद्घन स्वरूप सान्द्रानन्दामृत शीतल कांति-मण्डल से सम्पन्न, फल-पुष्प-पल्लव-पत्रादि के भार से नत, लता-

वृक्षादि से शोभित, रत्नस्थली से मण्डित कृष्ण प्रेम रसाकुल आनन्द कोलाहल पूर खगकुल सेवित, रसिक जीवन धन—

यस्मिन् सत्त्वरजस्तमांसि न मनाक् सन्ति स्वकार्यैर्नवा
कालस्य प्रभुतास्ति सर्वमहतो देवादयः के परे ?
स्वात्मज्ज्योतिषि शुद्धचिद्रसघने वृन्दावने पावने
तस्मिन् मा कुरु मूढ़ ! दृष्टिमनृतां धैर्येण नित्यं वस ॥

(श्रीवृन्दावन महिमामृत १०. ५३)

सान्द्रानन्दसुधा मयैर्दशदिशः शीतच्छटा मण्डलैः
सिञ्चद्भिः फल पुष्प पल्लव दलाद्याभारवल्लीद्रुमैः ।
कृष्णप्रेमरसाकुलैः खग कुलैरानन्दकोलाहलै-
रम्यं रत्नमयस्थलीविलसितं ध्यायामि वृन्दावनम् ॥

(श्रीवृन्दावन महिमामृत ५. ८२)

"जिसके एक विन्दु में ही सर्वानन्द रस भरा हुआ है, ऐसे महा आनन्द को जो प्रवाहित करने वाला है, जो साक्षात् लक्ष्मीदेवी के भी हृदय एवं नेत्रों को आर्कषित करनेवाले सौन्दर्य से मण्डित है, विशुद्धानन्दवर्षी है. सौरभ्य, उज्ज्वलता, स्वच्छता, सुकोमलता एवं माधुर्य रस से परिप्लुत है, वह श्रीवृन्दावन है—"

'सर्वानन्दरसैकविन्दुपरमानन्दाम्बुधिस्यन्दनं
सर्वाश्चर्यवनं श्रियोऽपि हृदयाक्ष्याकर्षण श्रीभरम् ।
शुद्धानन्द रसैकसारसुचमत्कारैकधाराकरं
सौरभ्योज्ज्वलताऽच्छता मसृणतामाधुर्यवत्ताऽद्भुतम् ॥

(श्रीवृन्दावन महिमामृत ४. १०१)

जिस धाम में प्रवेश होकर समस्त जीव, समस्त पदार्थ ही, अज्ञ व्यक्तियों से अदृश्य स्वानन्द सच्चिदानन्दघनता को प्राप्त हो रहे हैं—

यत्र प्रविष्टः सकलोऽपिजन्तुः सर्वः पदार्थोप्यबुधैरदृश्य ।
स्वानन्द सच्चिद्घनता मुपैति तदेव वृन्दावनमाश्रयन्तु ॥

(श्रीवृन्दावन महिमामृत १७. ४३)

इस प्रकार अद्भुत आत्मविस्मृति कहो या हित सखी की प्रेरणा कहो, जिस कारण पूर्णानन्द सुधा-सिन्धु-सार-सर्वस्व प्रिया-प्रियतम में एक-दूसरे के प्रति परम आकर्षण सिद्ध होता है ।

६. रसाभिव्यक्ति में प्रयुक्त मनः स्थिति की अभिव्यक्ति के उपयुक्त आह्मीतनु और उसकी संस्फूर्ति की विविध उपाय परम्परा—

देखो संसार की लालसा तो अपने आप बन जाती है, परन्तु भगवद्दर्शन की लालसा अपने आप नहीं बनती । फिर कैसे बनती है ? इसके लिये वेद-वचन कहता है—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'
(बृहदारण्यकोपनिषत् ४. ४. २२)

'ब्राह्मण लोग यज्ञ करके, दान करके, तप करके, व्रत करके भगवद्दर्शन की लालसा व्यक्त करते हैं।'

भगवद्दर्शन की उत्कृष्ट लालसा-कामना वेदांत सिद्धांत के अनुसार बहुत उत्तम पुरुषार्थ है। साथ ही यह भी समझ लो सच्चा स्नेह–सच्ची प्रीति या सच्ची कामना-कमनीय को अवश्य ही प्राप्त करा देती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं—

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू।।
(रामचरितमानस १. २५९. ६)

कैसी कामना ? कैसी प्रीति ? कामी की जैसी कामिनी में प्रीति, लोभी की जैसी दाम में प्रीति। 'जो कुछ करना है कर लो, जो कुछ लेना है ले लो, मुझे तो अमुक कामिनी चाहिए, मुझे तो अमुक धन चाहिए।' ऐसी ही यदि आत्मा-परमात्मा में हो जाय, फिर **'को न मुच्येत बन्धनात्'**, क्या कहना ? कल्याण में क्या दूरी और क्या देरी ? महानुभावों ने ठीक ही कहा है—

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्।।
(पञ्चदशी ११. ११५. मैत्रेय्युपनिषत् १. ७)

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते।।(पञ्चदशी ७. २०)

''प्राणियों का मन इन्द्रियों के विषय शब्दादि में जैसे स्वभाव से ही समासक्त है, यह चित्त प्रत्यगभिन्न परमात्मा में यदि वैसा सो अनुरक्त हो जाय तो कौन मनुष्य संसार से मुक्त नहीं होगा !''

'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार देह में दृढ़ आत्मज्ञान जैसे लौकिक पुरुषों को है, वैसे ही देह में आत्म-बुद्धि का निवर्तक 'मैं' ब्रह्मरूप हूँ' ऐसा दृढ़ ज्ञान ब्रह्मात्म तत्त्व में ही जिसको होता है, वह नहीं इच्छा करता हुआ भी अवश्य मुक्त होता है।'

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽप सर्पतु।।[३९]
(पञ्चदशी ७. २०२, विष्णु पुराण १ २०. १९)

---

३९. (१) अविवेकिनामात्मज्ञान शून्यानां विषयेष्वनपायिनी दृढा या प्रीतिरस्ति, हे माप ! लक्ष्मी पते ! सा प्रीतिस्त्वामनुस्मरतस्त्वां सदा चिन्तायतो मे हृदयान्मनसः सर्पतु, अपगच्छतु, मम मनो विषयेष्वासक्तिं परित्यज्य त्वय्येव सदा तिष्ठत्वित्यर्थः।

"आत्मज्ञान रहित मनुष्यों का, संसार के विषयों में दृढ़ जो प्रेम है, हे लक्ष्मीपते ! वह प्रेम आपके सदा चिन्तन करनेवाले मेरे मन से हट जावे ।"

"अज्ञानियों की विषयों में जिस प्रकार की अतिदृढ़ प्रीति होती है, आपका चिन्तन करने वाले मेरे मन से वैसी दृढ़ प्रीति मत हटे (सदा बनी रहे) ॥"

प्रभु-सम्मिलन की उत्कण्ठा के लिये सत्सङ्ग है, सत्-शास्त्र का विचार है। इन सबसे अन्ततोगत्वा भगवत्प्रेम होना चाहिए। भगवच्चरण–कमलों में प्रीति के लिए ही अन्ततोगत्वा यह सब है । तभी तो श्री मद्भागवत में कहा है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

(भागवत १. २. ८)

"धर्म का ठीक-ठीक अनुष्ठान करने पर भी यदि मनुष्य के हृदय में भगवान् की लीला–कथाओं के प्रति अनुराग न हो तो वह निरा श्रम-ही-श्रम है ।"

वर्णाश्रम–धर्म का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान किया, यज्ञ किया, तप किया, व्रत किया, इनके द्वारा भगवत्कथा में यदि रति नहीं हुई तो केवल श्रम ही है, इन सब का कुछ भी फल नहीं। एतावता वर्णाश्रम धर्म का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करके श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पण करना चाहिए। तभी सिद्धि-अन्तःकरण की शुद्धि, भगवच्चरण-कमलों में रति का उदय होता है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(भगवद्गीता १८. ४६)

स्वकर्म से भगवान् की पूजा करो। जप-तप-व्रत करके 'श्रीकृष्णार्पण' करो, भगवत्कथा में उत्कट प्रीति होगी। कैसी ? जैसी कामियों को स्त्री-चर्चा अतिप्रिय होती है ब्रह्म-चर्चा से भी ज्यादे प्रिय लगती है, रात भर उनको उस कथा में बिठा लो उत्कट उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती है, क्यों न हो. प्रीति-चर्चा है न ! इस प्रकार प्राणनाथ प्रियतम श्रीकृष्ण और उनकी प्राणेश्वरी राधारानी में अनुराग हो ! परस्पर उनके होली खेलने, एक-दूसरे को चाव से निहारने, एकटक देखने, सर्वथा निभृत-निकुञ्ज में विराजने का उत्साह पूर्वक व्यवधान शून्य चिन्तन हो ! भला किस प्रकार ?

---

(२) यद्वा–अविवेकिनां विषयेषु दृढा या यादृशी प्रीतिरस्ति सा तादृशी विषयेषु विद्यमाना प्रीतिः त्वामनुस्मरतो मे हृदयान्मा अपसर्पतु मा अपगच्छतु, सदा तिष्ठत्वित्यर्थः ॥

(श्री रामकृष्ण टीका पञ्चदशी ७. २०३)

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्द सम्प्लुता ।।
(श्रीमद्भागवत १०. ३२. ८)

"वह गोपी नेत्रों के मार्ग से भगवान् को अपने हृदय में ले गयी और फिर उसने आँखें बन्द कर लीं। अब मन-ही-मन भगवान् का आलिङ्गन करने से उसका शरीर पुलकित हो गया, रोम-रोम खिल उठा और सिद्ध योगियों के समान परमानन्द में मग्न हो गयी ।।"

प्रियतम सखाओं के सङ्ग क्रीड़ा करते हुए आ रहे हैं। साथ में गाय-बछड़े हैं। वेणुवादन हो रहा है। कहीं भक्तों का रास-विलास हो रहा है। अनुरागिनी दर्शन कर रही है। उसके बीच में कोई आ जाय तो झुरमुट हो जाता है। प्रियतम के दर्शन में बाधा पड़ती है। जहाँ हार का व्यवधान भी असह्य है, वहाँ पर्वत-जैसा व्यवधान भला कैसे सह्य हो सकता है ?

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा ।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ।।
चन्द्रश्चण्ड करायते मृदुगतिर्वातोऽपि वज्रायते ।
माल्यं सूचि कुलायते मलयजो लेपः स्फुलिंगायते ।।
रात्रिः कल्पः शतायते विधिवशात्प्राणोऽपि भारायते ।
हा हन्त प्रमदावियोग समयः संहारकालायते ।।
(श्रीहनुमन्नाटक ५. २५, २६)

प्रियतम के दर्शन में बाधा पड़ती है तो कहने लगती है—'आओ प्रियतम ! एकांत में दर्शन करें। झुटमुट में बाधा पड़ी। यहाँ एक क्षण भी आपके मुखचन्द्र का ओझल होना सह्य नहीं। आपके मङ्गलमय श्री अङ्ग का, इन नयनों का क्षणभर के लिये भी वियोग असह्य है। आपको नेत्र रन्ध्र से हृदय में ले चलूँ, वहीं पधरालूँ और पलकें मूँदकर दरवाजा बन्द कर लूँ !'

तुलसीदास जी भी इस लोभ का संवरण न कर सके। उन्होंने लिख दिया—

लोचन मग रामहि उर आनी ।
दीन्हीं पलक कपाट सयानी ।।
(श्रीरारचरितमानस १. २३२. ७)

"प्रियतम को नेत्र रन्ध्र से श्रीजी भीतर पधराती हैं। चतुर नेत्ररूपी दरवाजा को बन्द कर लेती हैं।"

भागवत वाले और भी आगे बढ़े। सखी सोचती है, "प्रियतम तो अणु

से भी अणु और महान् से भी महान् हैं। **'अणोरणीयान्महतो महीयान्'**(नारायणोपनिषत् १२. १.)

बड़े चञ्चल भी हैं, कहीं रोम-रन्ध्र से न निकल जांय !"

बस क्या था? उसका श्री अङ्ग रोमाञ्चकण्टकित-पुलकावली से युक्त हो गया। उसने रोमों को खड़े कर लिये, 'खबरदार, कहीं निकल न जाना ?' फिर सोचा—'प्रियतम तो बड़े जबरदस्त हैं, कहीं इतने से भी न मानें तो निकल जायेंगे, ऐसा सोच कर उसने **'उपगुह्यास्ते'** अपने बाहुपाश-प्रेमपाश में बाँध लिया। फिर सखी ने सोचा, 'कहीं बाहुपाश को भी छुड़ा न लें,छुड़ा लिया था कई बार।' ऐसा सोचकर आनन्द सिन्धु में गोता लगाने लग गयी। **'योगीवानन्द सम्प्लुता'** अपने प्रियतमको बाहुपाशमें बाँधकर योगियों की तरह आनन्दसिन्धु में गोता लगाने लग गयी। अब कहाँ से निकल जायेंगे? पुत्र-मित्रादि से प्रत्यक् अन्नमय है। अन्नमय से प्रत्यक् प्राणमय है। प्राणमयसे प्रत्यक् मनोमय है। मनोमयसे प्रत्यक् विज्ञानमय है। विज्ञानमय से प्रत्यक् प्रिय-मोद-प्रमोदरूप फलात्मक आनन्दमय और **'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्, मामप्यऽहंनाज्ञासिषम्'** इस स्मरणात्मक परामर्श सिद्ध बीजात्मक सौषुप्त आनन्दमय है। सर्वान्तरङ्ग **'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'** (तैत्तिरीयो० २. ५) से निरूपित रसघन परमानन्द है। विजातीय प्रत्ययान्तरित सजातीय प्रत्यय प्रवाह द्वारा योगी लोग उसकी भावना करते हैं। वृत्ति को अखण्ड प्रवाहित करते हैं। गीता कहती है—

न चाभावयतः शांतिरशान्तस्य कुतः सुखम्।

(भगवद्गीता २. ६६)

भावना का महत्त्व है। उसीसे शांति और सुख की उपलब्धि होती है। एक बार यह समझ भी लिया कि प्रिया-प्रियतम सर्वोत्कृष्ट तत्त्व हैं, प्रिया-प्रियतम का सम्मिलन सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, फिर भी यदि चिन्तन नहीं है, भावना नहीं है तो कुछ शांति बनती नहीं –

'न चाभावयतः शांतिः'

इसी दृष्टि से नाम की महिमा है।

कह सकते हो, "नाम क्यों जपते हैं ? मिश्री–मिश्री, मिश्री–मिश्री कहने से क्या फायदा ? मिश्री खा लिया (ली) ठीक है,नाम रटने से क्या फायदा ?"

भाई ! नाम जप से वस्तु का रसास्वादन प्राप्त होता है। 'नामी के चिन्तन की अखण्ड धारा चले', यही जप का मतलब है, निदिध्यासन है। जैसे यहाँ के श्री राधावल्लभ, श्री निम्बार्क आदि-आदि सम्प्रदाय के 'समाज' में पदों के माध्यम से प्रिया-प्रियतम तत्त्व का रसास्वदन प्राप्त होता है। छप्पन भोग छत्तीसो व्यञ्जन के भोग लगाने का वर्णन, आस्वादन प्राप्त होता है। इस प्रकार

की भावना, इस प्रकार का रसास्वादन अपने आप में पुरुषार्थ है। अनन्त आनन्द-प्रद है। इसका मतलब निकलता है कि नाम की अखण्डधारा चले, नामी के चिन्तन की अखण्डधारा चले[४०], रसिकों का यही रस है। ऐसे भक्तों से कहो, 'भक्तराज ! कैवल्य ले लो', वे उत्तर देंगे तो यही उत्तर देंगे कि "इस अनन्त आनन्द से छुट्टी मिले तो सोचेंगे। हमारे लिये यही पुरुषार्थ है। कोई दूसरा पुरुषार्थ हमें ढूँढ़ना नहीं है। यह स्वयं में पुरुषार्थ है।"

बात क्या है ? जो हिततम तत्त्व है, वह स्वयं ही भोक्ता बन गया है, भोग्य बन गया है और प्रेरयिता बन गया है। इसी का अनुसन्धान करो।

देखो, एक बात है। हमारे यहाँ वेदों में कर्मकाण्ड आता है। लोग समझते हैं कि कर्मकाण्ड बड़ा नीरस है। पर हमको तो उसमें बड़ी सरसता दिखाई देती है। कर्मकाण्डी लोग हाथों से 'व्रीहि' (धान) निकालते हैं, पुरोडाश निर्माण के लिये। देवताओं के लिये हवि प्रदान करते हैं। देवता इतने महान् हैं तो क्या उनके लिये अपने इन हाथों से 'व्रीहि' निकालना, हवि प्रदान करना ? नहीं-नहीं। अश्विनीकुमार की सुन्दर बाहुओं से और पूषा के दिव्य हाथों से[४१]—

अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्'
(शु० य० माध्य० शाखा १. १०)

ऊँची दृष्टि से विचार करने पर सारा संसार अन्तर्यामी रूप अधिदैवमय है। पुरोडाशादि सभी चेतन देवता हैं। तभी तो इन्हें सम्बोधन किया जाता है ?

एक दिन हम रेडियो सुन रहे थे। आत्मकथा हम कभी नहीं कहते, लेकिन यह बहुत स्वाद की चीज है। रेडियो वाला अपनी साड़ी की महिमा का वर्णन कर रहा था।

विज्ञापन वाला कहता था (कि) "मेरी ऐसी अद्‌भुत साड़ी है कि इसे

---

४० 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (यो० दर्शन १. २८)
भगवन्नाम का जप और उसके अर्थ की भावना करनी चाहिये।

४१. अश्विनोर्बाहुभ्याँ न स्वाभ्याम्। अश्विनौहि देवानामध्वर्यू। पूष्णो हस्ताभ्यां न स्वाभ्याम्। पूषाहि देवानां भागधुक् भागपूरकः। अग्नये जुष्टम्। 'जुषी प्रीति सेवनयोः', अत्र जुषिः प्रीतौ वतते। (श्रीउव्वट; शु० य० मा० १ १०)

'सत्यं देवा अमृतं मनुष्याः' (श० प० १. १ २. १७) इति श्रुतेः देवतानां सत्यरूपत्वात्तदनुस्मृतिपूर्वकं भवतीति देवता स्मरणमित्यभिप्रायः (श्रीमहीधर, शुक्ल यजुर्वेद माध्य० १. १०)

केवल यौवनाङ्गी युवतियों को ही छूने देते हैं और किसी को नहीं।" मैंने कहा वाह-वाह ! बहुत बढ़ियाँ धन्य-धन्य !"

फिर, भगवान् को अदिव्य हाथों और वस्तुओं से कैसे स्पर्श करोगे ? इसलिए भावना करो कि ब्रह्मरन्ध्र में कोई अद्भुत चन्द्रमण्डल है। उसकी अनुपम अमृतधारा से स्नानादि समस्त पूजोपचार को प्रस्तुत करो।

प्रियतम को नाना प्रकार के भोगराग निवेदित करो। पुष्प, दीप, ताम्बूल, नैवेद्यादि समर्पित करो। पर ये सब हों, अलौकिक ? संकल्प से दिव्य वस्तुओं का उपस्थापन करो। दिव्य भूषण-वसन अलंकार, पुष्प-चन्दन-माला-धूप दीप-छत्र-चमर-सिंहासन और मधुर-मनोहर पक्वान्न यह सब संकल्प योग से उपस्थित होता है। उसके द्वारा श्रीभगवान् की आराधना करो। कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि इन सब से भी अनन्तकोटि गुणित चमत्कार भगवान् के ध्यान में है। भावना के द्वारा दिव्य-से-दिव्य वस्तुओं को भगवान् के लिए अर्पित करो।

आज तो नये पैसा का युग है। 'पूजे की सुपाड़ी, साड़ी' सब प्रसिद्ध ही है। 'पूजा को सामग्री' माने 'थर्ड क्लास की सामग्री', पर ऐसा नहीं। आजकल बाहर से दिव्य सामग्री कहाँ सम्भव है ! दरिद्र जगत् में है ही क्या ? भावराज्य में यह सब सम्भव है। भावराज्य का लोकोत्तर चमत्कार है। यहाँ के रसिक लोग कहते हैं—

"उड़त गुलाल लाल भये अम्बर"

ऐसा गुलाल उड़ा कि सारा आकाश ही लाल हो गया। यहाँ एक-दूसरे के रंग में रंगे हुए हैं। श्रीराधारानी के रंग में श्यामसुन्दर रंगे हुए हैं और श्यामसुन्दर के रंग में श्रीराधारानी रंगी हुई हैं। दोनों सारे विश्व को केसरों के चन्दन से, दिव्य गुलाल से रंग रहे हैं। सारा विश्व उनके प्रेम में अनुरञ्जित हो जाता है।

गोपाङ्गनाएँ श्रीप्रिया-प्रियतम के प्रेम में पगी हुई हैं। वे काली, धूमरी, गङ्गा, यमुना गायों को मधुर-मनोहर पक्वान्न पवाती हैं, चारा खिलाती हैं। बड़े प्यार से दूध दुहती हैं। दही जमाती हैं। गायों और पात्रों को मनाती हैं। उनसे प्रार्थना करती हैं, 'हे गङ्गे ! तू कल मधुर मनोहर दूध देना। मैं प्रियतम के लिये दही जमाकर नवनीत (मक्खन) निकालूँगी।'

दूध जमाने के पात्रों से गोपियाँ प्रार्थना करती हैं, 'हे पात्र ! हमारे प्रियतम को जो बहुत ही रुचिकर हो, ऐसा दही जमाना।', दही से प्रार्थना करती हैं—'तुम प्रियतम को इतना मीठा लगना कि हम भी उनको मीठी लगने लगें।'

इस तरह उत्तम वस्तु उत्तम भावना से उत्तमोत्तम बन जाती है।

भावना द्वारा वस्तु में लोकोत्तर मिठास आ जाता है। भक्त भोग लगाते हुए क्या भावना करते हैं ?

'अन्नं ब्रह्म रसोविष्णुः भोक्ता देवो महेश्वरः'।

'अन्न' ब्रह्मा है, रस विष्णु और भोक्ता शंकर हैं।

बाहर से भले ही मटर की या बाजरे की रोटी हो, पर भावना के द्वारा उसमें दिव्यता आती है। मधुसूदन सरस्वती तो संन्यासी थे। वृन्दावन में भिक्षा माँग कर लाते भगवान् को भोग लगाते। भगवान् बड़े प्रेम से पाते थे। एक ब्राह्मण भगवद्दर्शन के लिये तप कर रहा था। भगवान् ने उसे स्वप्न दिया—'तुम वृन्दावन चले जाओ। वहाँ मेरे भक्त मधुसूदन सरस्वती भिक्षा माँग कर लाते, मुझे भोग लगाते, वहीं तुझे मेरा दर्शन होगा।'

कहने का मतलब यह है कि यह सब चमत्कार भावना का है। अन्तरङ्ग में वस्तु का नहीं, भावना का प्राधान्य है। अहर्निश चिन्तन करो। एक क्षण भी व्यर्थ मत जाने दो। सुना है न ?

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

(भागवत ११. २. ५३)

"बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरण को भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं, भगवान् के ऐसे चरण-कमलों से आधे क्षण, आधे पल के लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन चरणों की सन्निधि और सेवा में ही संलग्न रहता है, यहाँ तक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवन की राज्यलक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृति का तार नहीं तोड़ता, उस राज्यलक्ष्मी की ओर ध्यान नहीं देता, वही पुरुष वास्तव में अग्रगण्य है, सबसे श्रेष्ठ है।"

भागवत कौन है ! जो अहर्निश तैलधारावत् भगवान् का स्मरण करता है। कोई उससे कहता है—'प्रभु से एक क्षण के लिये मन को हटा ले, त्रिभुवन की सम्पत्ति देते हैं;' फिर भी जिसका मन भगवान् के चरणारविन्द से चलित नहीं होता। त्रिभुवन के विभव को ठुकरा देता है, प्रियतम के चरण-कमलों का एक क्षण के लिये भी त्याग नहीं करता।

बड़ा आश्चर्य है ! श्वेतद्वीप निवासी जो भगवान् के भक्त हैं, उनके ध्यान की धारा अखण्ड रहती है। उन्हें देवर्षि नारद के दर्शन में विघ्न-बुद्धि है। जबकि नारद दर्शन इतना प्रिय है कि हनुमान् जैसे भक्त नारद के सत्सङ्ग में मोहित हो जाते हैं। कहते हैं—नारदजी एक बार रावण के यहाँ आए। रावण ने उन्हें

प्रणाम किया। बोला—'महाराज ! आप तो सबका काम करते हैं, एक काम हमारा भी करें ?'

'नारद बोले—'कौन-सा काम तुम्हारा करें ?'

रावण बोला—'जरा, इस हनुमान् को एक क्षण के लिये गाफिल कर दो।'

नारद बोले—'अच्छा, कर देंगे।'

युद्ध हो रहा था। हनुमान् के पास पहुँचे। नारद को देखा। देखते ही हृदय गद्-गद् हो गया। देवर्षि भगवच्चरितामृत की बात करने लगे। अब भक्त-राज हनुमान् का ध्यान मारा गया। मेघनाद से युद्ध हो रहा था। पहाड़ को उठा-उठाकर मेघनाद को मार रहे थे। नारद हरिगुण गा रहे थे। ध्यान उधर लग गया। धीरे-धीरे नारदजी पीछे हटने लगे। उनके साथ ही हनुमान्‌जी भी पीछे हटने लगे। जरा-सी असावधानी हुई। मेघनाद को मौका मिल गया उसने लक्ष्मणजी को शक्ति मारी। लक्ष्मणजी मूर्च्छित होकर गिर पड़े। नारद ने सोचा —'अब हो गया काम', बस क्या था चल दिये। इधर हनुमान् सावधान हुए। देखा कि लक्ष्मणजी मूर्च्छित पड़े हैं। मेघनाद उन्हें उठाकर ले जाने का प्रयास कर रहा है। मुक्का मारकर भगाया उसे। लक्ष्मणजी को उठाकर लाये। भगवान् राम ने कहा—'हनुमान्‌जी ! आप असावधान रहे होंगे।'

हनुमान् ने कहा—'हाँ प्रभो ! मेरी थोड़ी-सी असावधानी के कारण ऐसा हुआ।'

मतलब यह है कि इतने कर्त्तव्यपरायण भगवद्रसिक हनुमान्‌जी भी नारद-दर्शन से गद्-गद् हो जाते हैं। पर श्वेतद्वीप निवासी उनके दर्शन को विघ्न मानते हैं। उनकी ध्याननिष्ठा इतनी अखण्ड होती है। इसी प्रकार भगवान् के मुखचन्द्र के, पादारविन्द की नखमणि चन्द्रिका के सौन्दर्य के निरन्तर अनुसन्धान की अखण्डधारा चले तो इसमें सत्संग भी नहीं सुहाता। नारददर्शन भी नहीं सुहाता, कुछ भी नहीं सुहाता। यह स्थिति अद्भुत है। पदों का अनुसन्धान करते हुए चिन्तन करनेवाले रसिक की स्थिति निराली होती है।

सचमुच में दूसरे स्मरण का उनके जीवन में गुंजाइश नहीं। चक्षु, त्वक् इन सबकी सुधि भूल जाते हैं ध्यान में। 'सुधि हूँ सुधि बिसर गयी' आनन्द और आह्लादिनी-शक्ति के फाग के इस रंग में सुधि भी सुध भूल जाय ! रसिक 'मन-मति-चित्त-अहंमिति' बिसर जाँय ! इस प्रकार के अनुसन्धान-अनुशीलन का बड़ा अद्भुत महत्त्व है।

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम।।

* श्रीहरिः *

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

दशम-पुष्प

१. सम्बन्ध-चतुष्टय-दिग्दर्शन

भगवत्पदप्राप्ति के लिये उत्कट-उत्कण्ठा हो, यही मुख्य बात है। ऊँचा-से-ऊँचा पुरुषार्थ—सबसे बड़ा पुरुषार्थ यही है। नारदजी को भगवान् ने एक बार माधुर्यामृत का आस्वादन करा दिया। माधुर्यामृत के रसविन्दु को अनुभव कराने का तात्पर्य यही था कि नारदजी को इसके पाने की उत्कट उत्कण्ठा हो जाय !

सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चतिहृच्छयान् ॥
(भागवत १. ६. २३)

"हे अनघ-निष्पाप ! तेरे हृदय में मुझे प्राप्त करने की उत्कट-उत्कण्ठा जाग्रत् हो, इसलिये मैंने तुम्हें एकबार अपना दर्शन कराया। मुझे प्राप्त करने की इच्छावाला भक्त धीरे-धीरे हृदय की सम्पूर्ण कामनाओं का भलीभाँति त्यागकर देता है।"

इस सम्बन्ध में वेद मन्त्र कहता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।[४२]
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(ऋक्० १. १६४. २०; मुण्डकोपनिषत् ३. १. १.)

"जीव और ईश्वर दोनों ही एक ही वृक्ष पर साथ-साथ रहनेवाले सखा और सुवर्ण-पक्षी हैं। उनमें एक तो—जीव, स्वादिष्ट पिप्पल—कर्मफल का भोग करता है और दूसरा भोग न भोगकर केवल देखता रहता है।"

---

४२. श्वेताश्वतरोपनिषत् ४. ६। द्वा=द्वौ, सुपर्णा=सुपर्णौ, सयुजा=सयुजौ, सखाया=सखायौ। सखायौ=समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणौ एवम्भूतौ सन्तौ। (शाङ्कर-भाष्य)

मोहन जोदड़ो-हड़प्पा की खुदाई में एक चित्र मिला। उस चित्र में एक वृक्ष की टहनी पर दो पक्षी बैठे थे। एक पक्षी के मुख में फल था, दूसरे के मुख में नहीं था। विचार चला, 'यह किस सभ्यता का चित्र है ?' लोग कहने लगे, 'सुमिरियन सभ्यता का चित्र है।', हड़प्पा में सुमिरियन सभ्यता थी।

किसी ऋग्वेदी को वह चित्र मिला। वह नाच उठा—"अहह ! ऋग्वेद के **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं'** इस मन्त्र के अनुसार ही यह चित्र है।"

इस श्रुति का क्या अर्थ है ? कई लोग कहते हैं—'द्वैतवाद', कई लोग कहते हैं—'अद्वैतवाद', कई लोग भिन्न-भिन्न वाद मानते हैं। असल में यह मन्त्र तो जीव के हृदय से निराशा पिशाची को निकालने के अभिप्राय से है। 'निराशा पिशाची निकल जाय, आशा कल्पलता उदित हो !' असल में इसी के लिये यह मन्त्र है।

दुनियाँ के लोगों का यह स्वभाव है कि जिसके पाने की आशा नहीं, लाख पीढ़ी के दादा, पर बाबा आदि ने जिसे कभी पाया नहीं, आगे भी जिसके पाने की कभी संभावना नहीं, उसकी कामना भी नहीं। सम्राट् बनें, स्वराट् बनें चक्रवर्ती नरेन्द्र बनें, राष्ट्रपति बनें प्राइम-मिनिस्टर (प्रधानमन्त्री) बनें—आदि ऊँची-ऊँची कामनाएँ तो हो जाती हैं, पर भगवत्पद प्राप्ति की कामना कहाँ ? कहते हैं—'हमारे भाग्य में भगवत्साक्षात्कार कहाँ लिखा है ?'

उनसे कहो—'आओ, आओ, सत्संग हो रहा है, सुनो !'

बोलेंगे—'महाराज ! हमको तो मरने की भी फुर्सत नहीं।'

मतलब यह है कि निराशा मन में जमी हुई है। 'भगवान् का मिलन हमारे भाग्य में नहीं लिखा है।', ऐसी बद्धमूल मान्यता बनी हुई है। **'द्वा सुपर्णा' यह वेद मन्त्र कहता है—"नहीं जीव ! तुम इस निराशा-पिशाची को हृदय से निकालो। आशा-कल्पलता को अंकुरित करो। विश्वास करो, 'भगवान् मिलेंगे।"**

भाई ! खरगोश को ऊँट से मिलना हो तो कठिनाई, कहाँ खरगोश, कहाँ ऊँट ? दोनों का कोई मेल-जोल नहीं। खरगोश का ऊँट से मिलना असम्भव; परन्तु हंस का हंस से मिलना कहाँ असम्भव ? एक हंस दूसरे हंस से मिले, इसमें कौन-सी कठिनाई ? परमात्मा भी शोभन पंखवाले सुपर्ण-पक्षी, जीवात्मा भी सुपर्ण। दोनों सुपर्ण ही तो हैं ? सुपर्ण को सुपर्ण से मिलने में क्या कठिनाई ! दोनों में 'साजात्य' सम्बन्ध है। भले एक सम्राट्, स्वराट्, विराट् चक्रवर्ती नरेन्द्र, हो और एक कमजोर हो, वराटिका (कौड़ी) पति हो, तो भी एक जाति के होने के कारण एक खाट पर बैठने के हकदार हैं।

भगवान् भी सुपर्ण, जीवात्मा भी सुपर्ण, दोनों में सुपर्ण होने के कारण

'साजात्य सम्बन्ध' है। दोनों सजातीय हैं। सजातीय को सजातीय से मिलने में क्या कठिनाई ? इसलिये निराशा पिशाची को निकालो, आशा कल्पलता को अंकुरित करो। विश्वास करो, प्रभु तुमको अवश्य मिलेंगे। यत्न करो।

जीव के मन में शङ्का होती है—'ठीक है, हम दोनों सजातीय हैं; परन्तु कौरव-पाण्डव भाई-भाई थे, फिर भी लड़ मरे। बालि-सुग्रीव भाई-भाई लड़ मरे। इसलिये 'हम दोनों सुपर्ण हैं', इतने मात्र से मिलने की भावना नहीं होती।'

श्रुति आश्वासन देती है—**"नहीं-नहीं 'सखायौ' दोनों सखा हैं। भगवान् तुम्हारे सखा तुम भगवान् के सखा। दोनों में साजात्य ही नहीं, सख्य सम्बन्ध भी है। भगवान् तुम्हारे सजातीय, भगवान् तुम्हारे सखा ! प्रभु तुम्हारे पालक-सखा और तुम उनके बालक-सखा। जीवात्मा अल्पज्ञ-अल्पशक्तिमान् बालक-सखा और परमात्मा सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् पालक-सखा।"**

हनुमान्‌जी पूछते हैं—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नरकी नाईं॥
(रामचरित मानस ४. २. ८)

'मैं तो अल्पज्ञ हूँ प्रभो ! अल्पशक्तिमान् हूँ। मैं तो अपने को भी भूल सकता हूँ, आपको भी भूल सकता हूँ। मैं पूछूँ-तो-पूछूँ, पर आप कैसे नर की नाईं पूछते हो ? आप तो सर्वज्ञ शिरोमणि हैं, आप कैसे भूलते हैं ?"

प्रभु जीवात्मा के सजातीय हैं और सखा हैं। सखा का बहुत ऊँचा महत्त्व है। श्रीदामा भगवान् के सखा थे। दोनों खेल खेलते थे। तय था कि जो हार जायगा, उस पर चड्डी ली जायगी। कई वार बेचारा श्रीदामा हारता रहा, घोड़ा बनता रहा, श्रीकृष्ण चड्डी लेते रहे। खेल ही तो है ? कृष्ण हार गये। श्रीदामा कहने लगे—'दाव दो ?'

श्रीकृष्ण ने कहा—'भैया आज नहीं कल, आज देर हो गयी है। गैयों को घेर लाओ। दाव कल लेना ?'

श्रीदामा बोला—'नही, आज ! आज तो हमको दाव मिला है, तुम कल दोगे ?'

श्रीदामा ऐसा कहकर बिगड़ गया। तभी तो कहा है—

करि न्यारी हरि आपुनि गैयाँ।
नाहि न बसति लाल कछु तुम्हरें, तुमसे सबै ग्वाल इक ठैयाँ॥
नाहि आधीन तेरे बाबा के, नहि तुम हमरे नाथ-गुसैयाँ।
हम तुम जाति-पाँति के एकै, कहा भयो अधिकी द्वै गैयाँ॥

श्रीदामा—तुम भी गोपाल, हम भी गोपाल। तुम भी अपने बाबा के लाड़ले, हम भी अपने बाबा के लाड़ले। तुम्हारी दो गइयाँ ज्यादा, हमारी दो गइयाँ कम। यही न? खेल खेलना है तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता की ठसक भूल जाओ। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता का घमण्ड भूल जाओ! हम देहेन्द्रियादिनायकता का घमण्ड भूल जाँय? बस, भागत्यागलक्षणा से हम दोनों एक।

श्रीदामा भागत्यागलक्षणा तो नहीं जानता था, पर कहने लगा—"हम हार जाँय तो हम घोड़ा बनें, तुम चड्डी लो और तुम हार जाओ तो तुम घोड़ा बनो, हम चड्डी लें। इसमें गड़बड़ी है तो हमारा खेल खुट! नहीं खेलते!"

पुराणान्तर में भगवान् ने मनाया है श्रीदामा को। भैया हम खेल खुट नहीं होने देंगे; आओ हम घोड़ा बनते हैं।

श्रीमद्भागवत के शब्दों में—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्॥

(भागवत १०. १८. २४)

"हारे हुए श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को अपनी पीठ पर चढ़ाया, भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्ब ने बलरामजी को।"

श्रीदामा से पराजित होकर भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ा बनते हैं। दामा लताओं का लगाम लगाता है, चुटिया पकड़ता है। 'कित-कित' कहता है। वाह! वाह! यह खेल भक्तों का! तो सखा का बड़ा महत्त्व—बड़ा ऊँचा दर्जा।

जीव कहता है—हाँ माता श्रुति, आप ठीक कहती हो! भगवान् सुपर्ण हैं, हम भी सुपर्ण हैं। भगवान् सखा हैं, हम भी भगवान् के सखा हैं। मिल सकना असम्भव तो नहीं है? पर क्या करें, भगवान् तो साकेत धाम में, गोलोक धाम, वैकुण्ठ धाम में विराजमान हैं। हम तो अपार भवसिन्धु में डूबते-उतराते हुए हैं। तो कैसे भगवान् मिलेंगे? साथ ही चकवी-चकवा दोनों सुपर्ण हैं, दोनों सखा हैं। चक्रवाकी का सखा चक्रवाक और चक्रवाक की सखी चक्रवाकी दोनों ही तो सुपर्ण हैं और सखा भी हैं, परन्तु दुर्दैव के दुर्विपाक से रात होते ही दोनों का वियोग हो जाता है। इस तरह, दोनों सखा और सुपर्ण होते हुए भी दुर्दैव के दुर्विपाक से विप्रलम्भजन्य तीव्रताप का अनुभव करते हैं। इसी तरह भले ही भगवान् और हम, दोनों ही सुपर्ण हों, सखा हों तो भी दुर्दैव के दुर्विपाक से हम अपार संसार-समुद्र में डूब रहे हैं। वे साकेत धाम, गोलोक धाम में विराजमान हो रहे हैं और हम इस मर्त्यलोक में। भला, वे कैसे हमको मिलेंगे?"

इस तरह जीव को शङ्का होती है कि "दुर्दैव के दुर्विपाक से भगवद् विप्रलम्भ जन्य तीव्रताप ही हमारे भाग्य में लिखा है, क्या करें?"

तब श्रुति आश्वासन देती है—'नहीं, **'समानं वृक्षं परिषस्वजाते'** एक

नदी के इस पार, एक नदी के उस पार वाली बात नहीं है, एक ही वृक्ष पर दोनों हैं। **जहाँ हृदय में जीवात्मा, वहीं हृदय में परमात्मा। अन्तर्यामी भगवान् कभी भी जीव को छोड़ते नहीं। नरक में जीव जाता है, सभी सगे-सम्बन्धी तो साथ छोड़ देते हैं, भगवान् वहाँ भी रहते हैं, साथ नहीं छोड़ते, सर्वव्यापी हैं न?** नरक में नहीं हैं तो फिर कहाँ सर्वव्यापी होंगे? सर्वव्यापी हैं, इसलिये वहाँ भी हैं। फिर, आश्वासन देने के लिये भी तो परमात्मा वहाँ रहेंगे ही। जिस समय (जब) जीव घबड़ायेगा, तब आश्वासन कौन देगा? वही प्रभु प्रियतम परम प्रेमास्पद सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर ही तो आश्वासन देंगे? इसलिये समानवृक्ष पर-एक ही वृक्ष पर, एक ही टहनी पर दोनों रहते हैं। एक नदी के इस पार तो दूसरा नदी के उस पार नहीं। इस तरह **जीव और ईश्वर के तीन संबंध हुए—(१) साजात्य, (२) सख्य और (३) सादेश्य-संबंध।**

'सादेश्य'—एक देश में दोनों रहते हैं। कहीं जापान, इंगलैण्ड, न्यूयार्क में कोई भारतीय मिल जाय तो बड़े गले लगाते हैं। 'ओ हो हो! भारतीय हो, वाह! वाह! भारत में कहाँ के हो भाई?', 'वृन्दावन धाम के!' 'वाह! तब तो कहना ही क्या!', इस तरह सादेश्य की बड़ी महिमा। देश की महिमा बाहर जाने से मालूम पड़ती है। इसलिये **साजात्य, सख्य और सादेश्य तीन-तीन प्रबल संबंधों के रहते हुए निराश मत होओ। निराशा-पिशाची को निकालो। प्रभु मिलेंगे, आशा कल्पलता को अंकुरित करो।**

जीव कहता है—"हाँ, हाँ। आपने बहुत ठीक कहा। एक शङ्का फिर भी और है, बस एक शङ्का।"

श्रुति पुनः कहती है—'बोलो कौन-सी है वह शङ्का?'

जीव कहता है—"शङ्का यह है कि वेदों ने भगवान् को असङ्ग कहा है—

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृहदारण्यको० ४. ३. १५).

'भगवान् असङ्ग है।', पानी में कमलपत्र रहता है, पर निर्लेप रहता है। जिस तरह पानी में रहता हुआ भी कमल-पत्र निर्लेप रहता है, उसी तरह जीव के पास रहता हुआ भी भगवान् निर्लेप है। युक्ति भी है—यदि जीवों के दुःख से उसे दुःख हो तो सबसे ज्यादा दुःख परमात्मा को ही हो। जीव तो केवल अपने दुःख से ही दुःखी हो, जब कि परमात्मा अनन्त ब्रह्मांड के अनन्त-अनन्त प्राणियों के दुःखों से सम्बन्धित होकर महान् दुःखी हो, तब तो बड़ा उपद्रव खड़ा हो जाय। इसलिये

'असङ्गो न हि सज्जते' (बृहदारण्यको०) ऐसा मानना ही उचित है। दीपक ने चोर आया तो चोर को प्रकाशित कर दिया, घर का मालिक आया तो

घर के मालिक को भी प्रकाशित कर दिया। भगवान् शङ्कराचार्य ने एक जगह निर्गुण ब्रह्म की स्तुति की है—

उदासीनः स्तब्धः सततमगुणः सङ्गरहितो
भवांस्तातः काऽतः परमिह भवेज्जीवनगतिः।
अकस्मादस्माकं यदि न कुरुषे स्नेहमथ तद्
वसस्व स्वीयान्तर्विमल जठरेऽस्मिन्पुनरपि॥

(प्रबोध सुधाकर २४५)

"हे देव ! आप उदासीन, अनमन स्वभाव, कूटस्थ, निर्गुण, सङ्ग रहित हमारे तात–पिताश्री हैं। फिर भी मेरी क्या गति है ? देव ! यदि आप हम पर निष्प्रयोजन स्नेह नहीं करते तो भी हमारा विमल हृदय आपका भवन है, वहाँ आप निवास तो कीजिये !"

हे, निर्गुण दादा जी ! आप तो उदासीन हो। बालक चाहे जिये चाहे मरे, आप उदासीन से क्या मतलब ? सङ्ग ही नहीं आपमें। कहाँ का बेटा, कहाँ की बेटी ! ऐसा जिसका तात है, उस पुत्र की क्या गति होगी ? जिसका तात असङ्ग हो, उदासीन हो, स्तब्ध हो, अगुण हो, उसके बेटे की क्या गति होगी ? अच्छा कुछ नहीं करते तो कम-से-कम हृदय में निवास तो करो, वहाँ बैठे तो रहो।

तुलसीदास जी कहते हैं—

मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्रीरघुबीर धीर हितकारी॥१॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ आइ बसे बहु चोरा॥२॥
अति कठिन करहिं बर जोरा। मानहिं नहिं विनय निहोरा॥३॥
तम, मोह, लोभ, अहङ्कारा। मद, क्रोध, बोध–रिपु मारा॥४॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा॥५॥
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा॥८॥
चिंता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होय तुम्हारा॥९॥

(विनय पत्रिका १२५)

एक भक्त कहते हैं—'हम तो दुःख भोगने के आदी हैं। जन्म-जन्मान्तर, कल्प-कल्पान्तर में न जाने कितना दुःख भोग चुके हैं और भोग लेंगे, कोई बात नहीं; परन्तु चिन्ता यह है कि आपका अपयश न हो ! हमारी तो दुर्दशा होती रही है और अनन्त काल तक हो सकती है। हमको इसकी चिन्ता नहीं है। हे नाथ ! जो आपके चरणों में आ चुके हैं, आपके शरणागत हैं, उनका पराभव आपके अनुरूप नहीं है। हमारा जो होना होगा सो ठीक है—

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा
सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।

किन्तु त्वदग्रे शरणागतानां
पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः ।।

(आलवन्दारस्तोत्रम् २८)

माँ ! इस तरह की बातें मन में आती हैं। जो असङ्ग है, उसको इन सब बातों की क्या चिन्ता ? इसलिये भगवान् की असङ्गता से डर लगता है, निराशा पिशाची फिर आ घेरती है।

पुनः श्रुति ने कहा—"नहीं, नहीं डरो मत। सुनो— **'सयुजौ'** । अरे, भगवान् असङ्ग हैं, पर किससे ? आत्मा से ? नहीं, नहीं। अनात्मा से असङ्ग हैं, न कि तुझ आत्मा से। आत्मा का अनात्मा के साथ संसर्ग नहीं है। तू तो आत्मा है। आत्मा-आत्मा के संसर्ग में क्या गड़बड़ ? दोनों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

भला कैसे ?

श्रीरामानुजाचार्य ने कहा—"जीव का परमात्मा के साथ **'नीलमुत्पलं'** जैसा सम्बन्ध है। **'नीलं'** के समान जीव है। **'उत्पल'** के समान परमात्मा है। **'उत्पलं'** का **'नीलं'** से असाधारण सम्बन्ध है। कभी भी **'नीलं'**, **'उत्पलं'** से अलग नहीं हो सकता। विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध है। **'नीलं'** विशेषण है। 'उत्पलं' विशेष्य है। इस तरह कभी जीव और परमात्मा का विछोह नहीं हुआ।"

श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा—"जीव और परमात्मा में स्वाभाविक भेदाभेद है। सुवर्ण को सुवर्ण जानने पर भी कुण्डल विषयिणी जिज्ञासा देखी जाती है **'किमिदम्'**; इसलिये मालूम होता है सुवर्णत्वेनरूपेण ज्ञान है, लेकिन कुण्डलत्वेनरूपेण कोई अलग चीज है। इसलिये **'सुवर्णं कुण्डलम्'** सामान्य व्यपदेश से अभेद होने पर **'किमिदं'** इत्याकारक जिज्ञासा देखने से मालूम पड़ता है, कुण्डल कुछ और है, अर्थात् दोनों का कुछ भेद भी है। गोरसव्रती दूध, दही दोनों खाता है। पयोव्रती खाली दूध पीता है। दधिव्रती केवल दधि खाता है, दूध नहीं। माने गोरसत्वेन रूपेण इनका अभेद है और दधित्वेन, पयस्त्वेनरूपेण इनका भेद है। यह स्वाभाविक भेदाभेद है।"

"इस वास्ते चिदचिद्भिन्नाभिन्न परमतत्त्व जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण है। सुवर्णादिकारणाधीन कार्य की स्थिति एवं प्रवृत्ति के समान परमात्मा के अधीन प्रपञ्चकी स्थिति-प्रवृत्ति है, अतः अभेद भी है। अभिप्राय यह है कि व्यवहार-दृष्टि से विरुद्ध धर्मवाले होने के कारण चित् भोक्तृवर्ग और अचित् भोग्यवर्ग परमात्मा से भिन्न हैं, तदधीन स्थिति-प्रवृत्तिवाले होने के कारण अभिन्न भी हैं।"

इस मत में भी जीवात्मा का परमात्मा से विछोह नहीं होता। कुण्डल का सुवर्ण से कहाँ विछोह होता है ?

श्री मध्वाचार्य के अनुसार भी अन्तर्यामी परमात्मा सर्वव्यापी है। वह कभी भी जीवात्मा से वियुक्त नहीं होता। जीव का भी परमात्मा से वियोग नहीं होता।

श्रीशङ्कराचार्य के मत में तरङ्ग और जल के समान जीव और परमात्मा का सम्बन्ध है। तरङ्ग चाहे कितनी उछले-कूदे, कहीं आये-जाये, कभी भी जल से वियुक्त नहीं हो सकती। इस तरह जीवात्मा कभी भी परमात्मा से वियुक्त नहीं हो सकता—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥
(श्रीशङ्कराचार्य कृत षट्पदी ३)

इस तरह, **परमात्मा असङ्ग अवश्य हैं, परन्तु** आत्मा से नहीं। **जीवात्मा और परमात्मा का सायुज्य सम्बन्ध भी है। चार सम्बन्ध हो गये— साजात्य सम्बन्ध एक, सख्य सम्बन्ध दो, सादेश्य सम्बन्ध तीन, सायुज्य सम्बन्ध चार। बोलो, चार-चार सम्बन्धों के रहते हुए भी निरासा ? 'भगवान् न मिलेंगे' यह काहे को ? मिलेंगे भगवान्। चार-चार सम्बन्ध के रहते भगवान् तो मिले मिलाये हैं। यहाँ जो गड़बड़ी है, वह तो चटपटी पैदा करने के लिये है।**

अरबरात निशि दिन मिलिवे को।
मिले रहत मानो कबहुँ मिले ना॥

प्रीति अत्यन्त सुलभ में नहीं होती **और अत्यन्त दुर्लभ में भी नहीं होती। केवल दुर्लभ में असंभावना हो जाती है, केवल सुलभ में उपेक्षा हो जाती है। दौर्लभ्य-सौलभ्य की संधि में प्रीति होती है।** गङ्गा किनारे के लोग गङ्गा में दतून करते हैं, कुल्ला करते हैं। लेकिन मारवाड़ में देखो, गोवर से लीप करके गङ्गा जल से भरी हुई शीशी को प्राङ्गण में रखकर स्तुति करते हैं। उसमें रखा हुआ जल कभी-कभी बढ़ने लगता है। मारवाड़ में रहने वाले का जैसा गङ्गा में प्रेम है, वैसा गङ्गा-किनारे रहनेवाले का नहीं। सुना है न ?

'अति परिचयादवज्ञा'

इस तरह, श्रुति ने जीव से कहा—"चार-चार सम्बन्धों के रहते निराश मत होओ, आशा-कल्पलता को अंकुरित करो।"

२. पापापहारक भगवन्नाम—

जीव ने कहा—'एक शङ्का है।'

श्रुति ने कहा—'बोलो, अब कौन-सी शङ्का है ?'

जीव ने कहा—'हमने पाप बहुत किये हैं। जन्म-जन्मान्तर, युग-युगा-

न्तर से इतना पाप किये हैं कि प्रभु के सम्मुख पाप के कारण मन होता ही नहीं। पापों से निस्तार का क्या उपाय है ?"

श्रुति-सार-सर्वस्व पुराणसर्वस्व के मर्मज्ञ व्यास ने निराश जीवों को सान्त्वना देते हुए कहा —

नाम्नोस्ति यावतीशक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
(तावत्कर्त्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः ।।)
श्वपचोऽपि नरः कर्तुं क्षमस्तावन्न किल्बिषम् ।।

(महाभारत, अनुस्मृति ९८)

'हे द्विज ! हरि के नाम में पापियों के पाप नाश करने की जितनी शक्ति है, उतनी पापियों में पाप करने की है ही नहीं ।।"

अनन्त ब्रह्मांड के अनन्त-अनन्त प्राणियों में अनन्त-अनन्त जन्मों में इतना पाप बन ही नहीं सकता, जितना 'एक' भगवन्नाम में पाप मिटाने की शक्ति है। पाप कोई हरा, पीला, काला, गोरा, तन, मन, रत्तो, मासा, तोला का होता दिखाई देता है क्या ? शास्त्र-प्रामाण्य से ही पाप है और शास्त्र प्रामाण्य से ही भगवन्नाम के द्वारा उसका नाश मान्य है। यदि पाप का प्रतिपादक–शास्त्र प्रमाण है तो पाप का निवारक–शास्त्र क्यों नहीं प्रमाण है ? यदि भगवन्नाम से सर्व पापों की निवृत्ति का प्रतिपादक–शास्त्र प्रमाण नहीं है तो पाप होने में ही शास्त्र क्यों प्रमाण है ?

"व्यास भगवान् ने गर्जकर कहा—'नाम्नोस्ति यावती शक्तिः' भगवान् के नाम में पापों को मिटाने की जितनी शक्ति है, पापी उतना पाप कर ही नहीं सकता।"

एकवार प्रेम से बोलो—"श्रीराम ! श्रीराम !! श्रीकृष्ण !!! विश्वास करो तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर के युग-युगान्तर के, कल्प-कल्पान्तर के सभी पाप नष्ट हो गये।"

चैतन्य महाप्रभु ने यही किया—नाम का दान किया। वे जोर से चिल्लाते थे, जिससे कि पशुओं और पक्षियों का भी, कीड़ों और मकोड़ों का भी, वृक्षों का भी-जो इसी तरह से नाम से संपृक्त हो सकते हैं, उन सबका कल्याण हो जाय !

हाँ लेकिन, एक बात कहीं न समझ बैठना कि 'भगवान् के नाम में तो पाप मिटाने की शक्ति है ही, थोड़ा पाप और कर लें ! अन्त में भगवन्नाम कह लेंगे ! सब पाप खत्म हो जायगा।', नहीं, नहीं। तुलसीदास जी कहते हैं—

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
रामकृपा भव–निशा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ।।१।।

पायेउँ नाम चारु चिन्तामनि, उर करतें न खसैहौं ।
श्यामरूप शुचि रुचिर कसौटी, चित कञ्चनहिं कसैहौं ।।२।।
बरबस जनमि फँस्यो इन इन्द्रिन,निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन-मधुकर पन कै तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैहौं ।।३।।

(विनय पत्रिका १०५)

भूल–चूक से जो गड़बड़ी हुई सो हुई । 'अब लौं जो गड़बड़ानी सो गड़-बड़ानो अब न गड़बड़ हों', इस तरह से भगवान् के मङ्गलमय नाम का आश्रयण करो । आशा–कल्पलता को अंकुरित करो, भगवान् मिलेंगे ।

३. सगुण-निर्गुण-विवेचन—

अब प्रश्न उठता है कि जो **भगवान्** जीव के सखा हैं, स्नेही हैं, अत्यन्त सन्निकट हैं, अनात्मवर्ग से अत्यन्त अलिप्त हैं, वे **कौन हैं सगुण या निर्गुण ?**

हमारे शैवाचार्य, वैष्णवाचार्य कहते है—"प्राकृत गुणगण हीन होने के कारण भगवान् निर्गुण हैं और अचिन्त्य दिव्य-कल्याण गुणगणों के होने के कारण भगवान् सगुण हैं । यह सगुण-निर्गुण की परिभाषा है ।

लेकिन दार्शनिक नैयायिक लोग कहते हैं—**'निर्घटं भूतलम्'** कहने के लिये घटत्वावच्छिन्न घट प्रतियोगिताकाभाव चाहिये । एक भी घट रहे तो **'निर्घटं भूतलं'** यह व्यवहार (शब्द प्रयोग) ही नहीं होगा । घटत्वावच्छिन्न घट-सामान्य है प्रतियोगी जिसका, ऐसे अभाव से ही **'निर्घटं भूतलं'** बनता है । इसी तरह, गुणत्वावच्छिन्न गुण प्रतियोगिताकाभाव चाहिये । गुण सामान्य है प्रति-योगी जिसका एवं भूत (इस प्रकार के) अभाव को ही निर्गुण कहते हैं । यह कह दो सीधे कि हम निर्गुण मानते ही नहीं, तब तो बात समझ में आ जाय ! लेकिन अमुक-अमुक गुण नहीं हैं, इसलिये ईश्वर निर्गुण बन जायेंगे , यह बात दार्शनिक दृष्टि से सङ्गत नहीं ।

सगुणवादी कहते हैं—"लेकिन बहुत रूखी बात है यह । 'भगवान् निर्गुण हैं', यह कोई बात हुई ? अरे, अनन्त ब्रह्मांड को बनाने वाला ज्ञानवान्, इच्छावान्,क्रियावान् नहीं ? जो ज्ञानवान्, इच्छावान् और क्रियावान् है वह सगुण नहीं, यह कैसे ? भगवान् निर्गुण नहीं, सगुण हैं सगुण ।'

निर्गुणवादी कहते हैं—'पर, क्या करें ! लाचारी है । श्रुतियाँ कहती हैं, 'निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं' (अध्यात्मोपनिषत् ६२), परमात्मा को निर्गुण न मानने में कठिनाई तो इस बात को लेकर है ।'

इसी बात के आधार पर भागवत में प्रश्न बना—

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे ।।

(भागवत १०. ८७. १)

"भगवन् ! ब्रह्म कार्य-कारणातीत है। सत्त्व, रज, तम–ये तीनों गुण उसमें हैं नहीं। वह सर्वथा अनिर्देश्य है। मन और वाणी से संकेत रूप में भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। वैसे भी श्रुतियों की प्रवृत्ति सगुण में ही होती है। वे जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध अथवा रूढ़िका ही निर्देश करती हैं। ऐसी स्थिति में श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किस तरह करती हैं? क्योंकि निर्गुण के प्रतिपादन में उसकी पहुँच हो, ऐसा तो प्रतीत नहीं होता।"

'ब्रह्म' सत्-असत् से परे है, अर्थात् कार्य-कारण से परे है। निर्गुण है, निष्क्रिय है। एक होने के कारण अजाति है। शब्दों की प्रवृत्ति तो स्वरूप से होती है, क्रिया से होती है, गुण से होती है, सम्बन्ध से होती है। 'धनी, गोमान्' आदि शब्दों की प्रवृत्ति सम्बन्ध के आधार पर होती है। 'नीलमुत्पलं' आदि शब्दों की प्रवृत्ति गुण के आधार पर होती है। 'लावकः पाचकः' आदि शब्दों की प्रवृत्ति क्रिया के आधार पर होती है। 'ब्राह्मणः गोः' आदि शब्दों की प्रवृत्ति जाति के आधार पर होती है। जिसमें जाति नहीं, गुण नहीं, क्रिया नहीं, सम्बन्ध नहीं, उसमें शब्दों की प्रवृत्ति कैसे हो?[४३] इसलिए 'निर्गुणे गुणवृत्तयः श्रुतयः कथं चरन्ति' यह प्रश्न है।

इसका उत्तर आगे उन्होंने दिया है। श्रीधरस्वामी ने स्पष्ट किया है[४४] कि भाई! ठीक है, श्रुतियाँ सगुण-ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं, निर्गुण का नहीं, क्योंकि **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** तैत्तिरीयोपनिषत् ३. १), यह परमात्मा का लक्षण है। सम्पूर्ण प्रपञ्च–प्राणिवर्ग का जो अभिन्न निमित्तोपादान

---

४३. 'अन्यदेव तद्विदितादथ अविदितादधि' (केनोपनिषत् १. ३) इति श्रुतेः।........ उपपत्तेश्च सदसदादिशब्दैर्ब्रह्म नोच्यते इति। सर्वो हि शब्दोऽर्थ प्रकाशनाय प्रयुक्तः, श्रूयमाणश्च श्रोतृभिः, जाति-क्रिया-गुण-सम्बन्ध द्वारेण संकेत ग्रहणं सव्यपेक्षोऽर्थं प्रत्याययति नान्यथा, अदृष्टत्वात्। तद्यथा गौरश्व इति वा जातितः, पचति पठतीति वा क्रियातः, शुक्लः कृष्ण इति वा गुणतः, धनी-गोमान् इति वा सम्बन्धतः। न तु ब्रह्म जातिमदतो न सदादि शब्दवाच्यम्। नापि गुणवद् येन गुण शब्देनोच्येत निर्गुणत्वात्। नापि क्रियाशब्द वाच्यं, निष्क्रियत्वात् 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं' (श्वेता० ६. १९) इति श्रुतेः। न च सम्बन्धी एकत्वात्। अद्वयत्वादविषयत्वादात्मत्वाच्च न केनचिच्छब्दे-नोच्यत इति युक्तं, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तैत्त० २. ९) इत्यादि श्रुतिभिश्च (शाङ्करभाष्य, भगवद्गीता १३. १२)

४४. जहदजहत्स्वार्थ लक्षणया सोऽयं देवदत्त इतिवद्विरुद्धांशत्यागेनानुगतचिदं-शेनैकार्थेन सामानाधिकरण्येन निर्गुणे पर्यवसानम्। अस्थूलादि वाक्यानां तु साक्षादुपाधिनिषेधेन तत्पदार्थ शोधन उपयोगान्निर्गुण एव पर्यवसानम्।
(श्रीधरी भागवत १०. ८७. २)

कारण है, वही परमेश्वर है। वामनी, भामनी, ये सब उसके गुण हैं—

यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति हो वाचैतदमृतमभयमेतद्-ब्रह्मेति। तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति ॥ एतँ संयद्वाम इत्याचक्षत एतँ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति। सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ एषउ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि। नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥

(छान्दोग्योपनिषत् ४. १५. १–४)

"यह जो नेत्र में पुरुष दिखायी देता है, यह आत्मा है'—ऐसा उसने कहा—'यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है', उस पुरुष के स्थानरूप नेत्र में यदि घृत या जल डालें तो वह पलकों में ही चला जाता है। इसे 'संयद्वाम' ऐसा कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओर से इसे ही प्राप्त होती हैं, जो इस प्रकार जानता है उसे सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओर से प्राप्त होती हैं। 'यही, वामनी हैं, क्योंकि यह सम्पूर्ण वामों का वहन करता है।' जो ऐसा जानता है, वह सम्पूर्ण वामों का वहन करता है। 'यही भामिनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकों में भासमान होता है।' जो ऐसा जानता है, वह सम्पूर्ण लोकों में भासमान होता है ॥"

'वामनानि वननीयानि संभजनीयानि शोभनानि'

वाम-वननीय-सम्भजनीय अर्थात् शोभन पदार्थ। **'सर्वाणि वामानि'=** **'पुण्य कर्म फलानि'=सम्पूर्ण वाम-पुण्यकर्म फल।**

इसलिये भगवान् सगुण हैं। उन्हीं का प्रतिपादन श्रुतियाँ करती हैं, लेकिन पर्यवसान उनका निर्गुण में है। इसलिये कहते हैं—

'नेति-नेति' (बृहदारण्यकोपनिषत् २. ३. ६)

नेति नेति जेहि वेद निरूपा। निजानन्द निरुपाधि अनूपा ॥

(रामचरित मानस १.१४४. ५)

जनकनन्दिनी जानकी भगवती रामचन्द्र राघवेन्द्र भगवान् के साथ, लखन (लक्ष्मण) लाल के साथ जा रही थीं। चित्रकूट के आस-पास की ग्रामवधूटियाँ इकट्ठी हो गयीं। उन्होंने प्रश्न किया—

राजकुअँर दोउ सहज सलोने। इन ते लही दुति मरकत सोने ॥
स्यामल गौर किशोर बर सुन्दर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुख सरद सरोरुह नैन ॥

(रामचरित मानस २. ११५. ८)

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥

(रामचरित मानस २. ११७. १)

'सुमुखि ! इनमें कौन तुम्हारे पति हैं ?' तब उन्होंने अपने देवर का वर्णन किया—ये जो बड़े दिव्य सौन्दर्यपूर्ण हैं, कनक की द्युति-कान्ति इनके अङ्ग के सामने फीकी लगती है, हमारे देवर हैं—

सकुचि सप्रेम बोल मृग नयनी । बोलीं मधुर वचन पिक बयनी ।।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नाम लखनु लघु देवर मोरे ।।
(रामचरित मानस २ ११७. ४, ५)

अपने प्रियतम को कहना था, कैसे कहतीं ?

बहुरि बदनु विधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहिं सियँ सयननि ।।
(रामचरित मानस २. ११७. ६, ७)

श्रीसीता ने 'ये हमारे हस्वेण्ड हैं' ऐसा नहीं बताया । ऐसा बताने में कोई रस भी नहीं । आँचल से अपने मुखचन्द्र को ढाँक करके श्रीरामभद्र को निहारते हुए इशारे से अर्थात् मौन रहते हुए ही अपने पति को बताया ।

किसी सभा में एक नवोढा पत्नी का पति बैठा है । सभा में उसकी सखियाँ पूछती हैं—'कहो सखी ! इनमें कौन हैं तुम्हारे ? क्या ये हैं ?'

नवोढा—'ऊहूँ !'

सखियाँ—'तो ये हैं ?'

नवोढा—'ऊहूँ !'

सखियाँ—'तो सखि ये हैं ?'

सखियों ने पति पर उँगली दी तो चुप । **'अवचनेनैव प्रोवाच'** कुछ न बोलकर ही उत्तर दिया । कहा भी है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा ।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ।।
(दक्षिणामूर्ति स्तोत्र १२)

"वट-तरु के मूल में एक आश्चर्य दृश्य है । शिष्यगण तो वृद्ध हैं और गुरु युवा । गुरु का व्याख्यान मौन है और शिष्य संशयमुक्त हो गये हैं ।"

इस तरह **'नेति-नेति'** के द्वारा श्रुति निर्गुण के प्रतिपादन में चरितार्थ होती है । ब्रह्म निर्गुण ही है तो सृष्टि का अधिष्ठान (चरम उपादान) ही कैसे होता है ? अधिष्ठाता (निमित्त) ही कैसे बनता है ?

श्रीमैत्रेय उवाच—

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः ।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ।।
(विष्णु पुराण प्रथमे ३ १)

"भगवन् ! जो ब्रह्म निर्गुण, अप्रमेय शुद्ध और निर्मलात्मा है, उसको सर्गादि का कर्ता होना कैसे माना जा सकता है ?"

श्रीपाराशर उवाच—

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याः भावशक्तयः ।।
भवन्ति तपसां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ।
तन्निबोध यथा सर्गे भगवान्सम्प्रवर्तते ।।
(श्रीविष्णुपुराण प्रथमे ३. २. ३)

"तपस्वियों में श्रेष्ठ मैत्रेय ! समस्त पदार्थों की शक्तियाँ अचिन्त्य ज्ञान की गोचर-विषय होती हैं । उनमें कोई युक्ति काम नहीं देती; अतः अग्नि की शक्ति उष्णता के समान ब्रह्म की भी सर्गादि रचनारूप शक्तियाँ स्वाभाविक हैं । अब जिस प्रकार भगवान् सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होते हैं, सुनो ।"

४. गुणगण भगवान् के अनुपकारक

थोड़ी देर के लिये मान लिया कि गुणगण हैं अनन्त और भगवान् हैं अनन्त गुणगणनिलय । पर, गुणगण भगवान् में क्या उपकार करेंगे ? गुणगणों की महिमा क्या है ? यही कि वे अपने (उसके) आश्रय में महत्त्वातिशय का आधान करते हैं । 'आप बड़े सर्वज्ञ हैं, आप बड़े शक्तिमान् हैं' तो आपकी महिमा इन गुणगणों से बढ़ जायगी ।

क्या इसी प्रकार अनन्त कल्याण-गुणगण-निलय भगवान् में गुणगण महत्त्वातिशय या सौख्यातिशय का आधान कर सकेंगे ? तभी कर सकेंगे जब भगवान् का महत्त्व सीमित हो । यदि प्रभु सीमित हों, तब तो उनमें महत्त्वातिशयाधान हो सकेगा, पर वे हैं निःसीम-महान् । **'बृहि वृद्धौ'** धातु का ब्रह्म शब्द है । कितना बृहत् ? सङ्कोचक प्रमाण होता तो यह कह देते इतना । **'सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः'**, परन्तु सर्वदेश, सर्वकाल के ब्राह्मणों का भोजन करना बन सकता नहीं । इसलिये सङ्कोच करना चाहिये । **'निमन्त्रिता ब्राह्मणाः भोजनीयाः'** निमन्त्रित ब्राह्मणों का भोजन बन सकता है । ऐसे ही यदि यहाँ कोई सङ्कोचक प्रमाण होता तो कहते, इतने बड़े का नाम ब्रह्म । ऐसा कोई संकोचक प्रमाण है नहीं, इसीलिये कितना बड़ा ब्रह्म ? **'निरतिशयं यद् बृहत् तद् ब्रह्म ।'**, वाचस्पति की मति

भी जहाँ अतिशयता की कल्पना करते-करते थक जाय, ऐसे निरतिशय तत्त्व को ब्रह्म कहते हैं।

तत्रापि (वहाँ भी, इतने पर भी) **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तैत्तिरीयोपनिषत् २. १) 'अनन्त' पद समभिव्याहृत ब्रह्म। ब्रह्म के साथ **'अनन्त'** जुड़ा हुआ है। **'अनन्त'** का अर्थ 'देश-काल-वस्तु परिच्छेदशून्य' है। वह अन्योन्याभाव का प्रतियोगी नहीं, अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं, प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी नहीं। चतुर्विध अभाव का जो अप्रतियोगी वह ब्रह्म। अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी देश परिच्छिन्न, अन्योन्याभाव का प्रतियोगी वस्तु परिच्छिन्न, प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी काल-परिच्छिन्न। जो चारों अभावों का प्रतियोगी नहीं, वह देश-काल-वस्तु-परिच्छेद शून्य। ऐसा अनन्त-बृहत् ब्रह्म है, उसमें गुण-गणों के द्वारा महत्त्वातिशय का आधान नहीं हो सकता।

गुणगणों के द्वारा आनन्दातिशय का भगवान् में आधान किया जाय, यह भी नहीं हो सकता। आनन्द जहाँ सीमित हो, वहाँ आनन्द बढ़े। जहाँ निःसीम आनन्द पहले से है, वहाँ आनन्द की वृद्धि भी नहीं हो सकती। ब्रह्म क्या है? परिपूर्ण स्वप्रकाश आनन्दरूप-रसस्वरूप—

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृहदारण्यको० ३. ६. २८)
'रसो वै सः' (तैत्तिरीयोपनिषत् २ ७)

तब गुणगण क्या करेंगे? अनर्थ निवर्हण करेंगे? कोई भी अनर्थ प्रभु में पहले से है ही नहीं, अनर्थ हो तब निवर्हण हो।

इस तरह, गुणगण के प्रयोजन तीन हो सकते हैं—(१) स्वाश्रय में महत्त्वातिशय का आधान, (२) स्वाश्रय में आनन्दातिशय का आधान और (३) स्वाश्रय में अनर्थ निवर्हण। ये तीनों कार्य ब्रह्म में सम्भव नहीं हैं। गुणगण भगवान् में निरर्थक हैं। श्रीहरि स्वयं ही कहते हैं भागवत में—

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः॥
(भागवत ११. १३. ४०)

"मैं समस्त गुणगणों से रहित हूँ। किसी की अपेक्षा नहीं रखता। फिर भी, साम्य-असङ्गता आदि गुणगण मेरा ही सेवन करते हैं, मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि मैं सबका हितैषी सुहृत्, प्रियतम और आत्मा हूँ। वस्तुतः वे गुण हैं भी नहीं, सर्वथा दिव्य ही हैं।"

अब देखो कितनी मीठी बात है। निर्गुण ब्रह्म को गुण भजते हैं। मुकुट, किरीट, कुण्डल ने तपस्या किया (की)। जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर तक तप करने पर प्रभु प्रसन्न हो गये। बोले—'वरदान माँगो।'

किरीट, मुकुट, कुण्डल ने कहा—'प्रभो हमको अङ्गीकार कर लो, हमें धारण कर लो !'

प्रभु इतने सुन्दर हैं, इतने सुन्दर हैं कि भूषण इनकी सुन्दरता को ढकते हैं। अन्यत्र तो भूषण अङ्ग को अलंकृत करते हैं, विभूषित करते हैं। यहाँ तो भगवान् के मङ्गलमय अङ्ग ही अलङ्कारों को अलंकृत करते हैं। प्रभु के चिदानन्दमय श्रीविग्रह ही भूषणों को भूषित करते हैं।

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥
(भागवत ३. २. १२)

"श्रीप्रभु ने अपनी योगमाया का प्रभाव दिखाने के लिये मानव लीलोपयुक्त जो दिव्य श्रीविग्रह प्रकट किया था, वह इतना सुन्दर था कि उसे देखकर सारा जगत् तो मोहित हो ही जाता था, वे स्वयं भी मोहित हो जाते थे। सौभाग्य और सुन्दरता की पराकाष्ठा थी उस रूप में। उससे आभूषण भी विभूषित हो जाते थे।"

भगवान् के मङ्गलमय अङ्ग भूषणों के भूषण, अलङ्कारों के अलङ्कार हैं।

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः
पुंसांमनोनयननिर्वृतिमादधानम्।
कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं
कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य॥
बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान्।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः
शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम्॥
(भागवत ३. २८. २६, २७)

"श्रीहरि का वक्षःस्थल महालक्ष्मी का निवास स्थान है। ऐसा ध्यान करके फिर सम्पूर्ण लोकों के वन्दनीय भगवान् के गले का चिन्तन करे, जो मानो कौस्तुभमणि को भी सुशोभित करने के लिये ही उसे धारण करता है। समस्त लोकपालों की आश्रयभुता भगवान् की चारों भुजाओं का ध्यान करे। जिसमें धारण किये हुए कङ्कणादि आभूषण समुद्रमन्थन क समय मन्दराचल की रगड़ से और भी उज्ज्वल हो गये हैं। इसी प्रकार जिसके तेज को सहन नहीं किया जा सकता, उस सहस्रधारों वाले सुदर्शन चक्र का तथा उनके कर-कमलों में राजहंस के समान विराजमान शङ्ख का चिन्तन करे।"

श्रीहरि का जो कण्ठ है, उसने कौस्तुभमणि को धारण करके उसकी शोभा बढ़ा दी है। कौस्तुभमणि से भगवान् के श्रीअङ्ग की शोभा नहीं बढ़ी। इन अलङ्कारों ने भगवान् के श्रीअङ्ग से अलंकृत होकर प्रभु के मङ्गलमय अङ्ग को अलंकृत किया तो सही, पर पहले वे स्वयं ही प्रभु के मङ्गलमय अङ्गों से अलंकृत हुए। ऐसे (इसी प्रकार) गुणों ने भी तप किया जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर तक। प्रभु प्रसन्न हुए।

गुणों ने कहा—"प्रभो! आप नहीं स्वीकार करोगे तो हम में दोष हो जायेंगे, गुण कहाँ रहेंगे? जिसको प्रभु ने नहीं स्वीकार किया वह 'गुण' काहे का? वह तो दोष है। इसलिये आज हमको गुण बनाना चाहते हो तो अङ्गीकार करो।'

प्रभुने अनुग्रह करके गुणों को अङ्गीकार कर लिया। इसलिये—'निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्' (भाग० ११. १३ ४०), 'भगवान् निर्गुण हैं, गुण उनको भजते हैं, अतः भगवान् सगुण भी कहे जाते हैं।

अशब्दगोचरस्यापि तस्य वै ब्रह्मणो द्विज।
पूजायां भगवच्छब्दः क्रियते ह्युपचारतः॥
(विष्णु पुराण ६. ५. ७१)

"हे द्विज! ब्रह्म यद्यपि शब्द का विषय नहीं है, तथापि उपासना के लिये उसका भगवत्-शब्द से उपचारतः कथन किया जाता है।"

इस तरह, भगवान् सगुण भी हैं, निर्गुण भी हैं। सगुणोपासक-निर्गुणोपासक दोनों ही भगवान् का भजन करते हैं। इसलिये—

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण बिगत बिनोद।
सो अज भगति प्रेमबश कौसल्या के गोद॥
(रामचरित मानस १. १९८)

जो व्यापक-ब्रह्म-निरञ्जन और निर्गुण है, विगत विनोद है, वही परमानन्दकन्द मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और जगज्जननी भगवती सीता के रूप में अवतरित हुआ, वही परमानन्दकन्द मदनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन और माधुर्यसार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री राधारानी वृषभानुनन्दिनी नित्य निकुञ्जेश्वरी के रूप में प्रकट हुआ।

५. अवतार-विमर्श

'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप'
(भागवत १०. २९. १४)

उस अचिन्त्य, अनन्त, अग्राह्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य तत्त्व का सगुण-साकार विग्रह-रूप में इसीलिये प्राकट्य है कि किसी भी भाव से लोगों की उसमें प्रीति हो और उसका कल्याण हो। सहजभाव रागात्मिका प्रीति है। रागतः प्राप्त

में विधि नहीं होती वह तो अत्यन्त अप्राप्त में होती है। कान्ता का अपने (उसके) कान्त में स्वाभाविक राग होता है। सर्वेश्वर-सर्वशक्तिमान् प्रभु इसी आशय से-सहजभाव से उपास्य बनने के लिये प्राकृत-से होते हैं।

सर्वोपाधिविनिर्मुक्त ब्रह्म निरतिशय परम-प्रेमास्पद है, परमानन्दस्वरूप है। उससे अधिक प्रेमास्पदता और आनन्दरूपता की कल्पना नहीं की जा सकती। जब तक प्रारब्ध-अवशेष है, तब तक ज्ञानी को भी अन्तःकरण रूप उपाधि पर ही ब्रह्म-दर्शन होता है। अन्तःकरण से ब्रह्मदर्शन वैसा ही समझना चाहिये जैसे नेत्र से सूर्य-दर्शन। जैसे दूरवीक्षण-यन्त्र की सहायता से नेत्र द्वारा सूर्य का अति दिव्य एवं स्पष्ट रूप दिखायी देता है, वैसे ही दिव्यलीला-शक्ति से परम मनोहर सगुणरूप में प्रकट तत्त्व में अन्तःकरण से और विलक्षण चमत्कार अनुभूत होता है। प्रारब्धक्षय हो जाने पर, सर्वोपाधियों के मिटने पर, साक्षात् सूर्य्यरूप आत्म-स्वरूप उपलब्ध होता है, वह तो सर्वथा ही अनुपमेय है।

जैसे श्रीवृषभानुनन्दिनी दर्पण में अपने मुखचन्द्र की मधुरिमा का अनुभव करती हैं, अस्वच्छ दर्पण आदि की अपेक्षा स्वच्छ आदर्श पर, किंवा श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर, उन्हें अपने मुखचन्द्र की मधुरिमा अधिक भासित होती है; परन्तु उनके मुखचन्द्र का जो माधुर्य है, वह तो उनके अन्तरात्मभूत प्रियतम श्री-कृष्ण को ही विदित हो सकता है, किञ्चित् भी व्यवधान होने पर रसास्वाद में कमी ही रहती है।

अतएव भावुकों का कहना है कि मधुर रूप में ही चक्षु हो तभी रूप-माधुर्य का अनुभव हो सकता है और यदि पुष्प में ही घ्राण हो, तब ठीक गन्ध-माधुर्य का अनुभव हो सकता है।

यद्यपि वस्तु वही है, तथापि अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्ति के अद्भुत प्रभाव से ज्ञानियों का मन प्रभु के मधुर स्वरूप में बलात् आकर्षित हो जाता है। जैसे फल, वृक्ष, अंकुर, बीज यद्यपि भूमि के ही स्वरूप विशेष हैं तथापि फल में भूमि, बीज, अंकुर, वृक्ष इन सब की अपेक्षा विलक्षण सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौरस्य होता है। गुलाब के बीज या नाल में जैसे शाखा, उपशाखा, कण्टक, पत्रादि के उत्पादन करने की शक्ति है, वैसे ही पुष्प के उत्पादन करने की शक्ति है; परन्तु जैसे कण्टकादि उत्पादिनी शक्ति की अपेक्षा सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य सम्पन्न पुष्प उत्पादन करने की शक्ति विलक्षण होती है, वैसे ही भगवान् की महाशक्ति में जैसे प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति है, वैसे ही उससे परम विलक्षण परात्पर पूर्णतम भगवान् की स्वरूपभूता मधुर-मनोहर-मङ्गलमयीमूर्ति का प्रादुर्भाव करनेवाली शक्ति भी है।

अचिन्त्य दिव्यलीला शक्ति के योग से निराकार भगवान् साकार उसी प्रकार होते हैं, जिस प्रकार शैत्य के योग से निर्मल जल बर्फ रूप में व्यक्त होता है

अथवा संघर्ष विशेष से अव्यक्त अग्नि (या विद्युत्) दाहक और प्रकाशक रूप में व्यक्त होती है। निराकार ब्रह्म की अपेक्षा भी भगवान् की मधुरमूर्ति में वैसे ही चमत्कार भासित होता है, जैसे चक्षु (ईख-गन्ना) दण्ड और चन्दन वृक्ष ही मधुर और सुगन्धित होते हैं, यदि कदाचित् इक्षु में सुमधुर फल और चन्दन वृक्ष में अति सुन्दर और सुगन्धित पुष्प प्रकट हो, तब उसके माधुर्य और सौगन्ध्य की जितनी बड़ाई की जाय, उतनी ही कम है। इसी तरह, अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत आनन्द-विन्दु का उद्गम-स्थान अचिन्त्य-अनन्त-परमानन्दघन ब्रह्म ही अद्भुत रसमय है, फिर उसके फलरूप माधुयसार मङ्गलस्वरूपमें कितना चमत्कार हो सकता है, यह तथ्य तो सहृदय ही जान सकता है। इक्षुरस का सार शर्करा, सिता आदि का भी सार जैसे कन्द होता है, वैसे ही औपनिषद परब्रह्म रससारसर्वस्व भगवान् का मधुर-मनोहर सगुण स्वरूप है।

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मयादृष्टम्।
धूलीधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥
परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥
(श्रीकृष्णकर्णामृतम् २. २८)

अर्थात् कुछ महानुभाव निगमाटवी में ब्रह्मतत्त्वान्वेषकों के परिश्रम पर दयार्द्र होकर, उनके अन्वेष्टव्य ब्रह्म को श्रीयशोदा के उलूखल में बँधा बता रहे हैं, तो कुछ श्रीमन्नन्द के प्राङ्गण में धूलि-धूसरित वेदान्त सिद्धान्त के नृत्य का कौतुक बता रहे हैं। परम कौतुकी प्रभु में यह कौतुक ही तो है?

इतने पर भी लोगों के प्रश्न होते हैं कि निराकार भगवान् साकार कैसे हो सकता है? परन्तु इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता कि जब कौतुकी कृपालु प्रभु की लीला से निराकार जीव साकार होता है, स्पर्श-विहीन आकाश-स्पर्शयुक्त वायु के रूप में अवतीर्ण होता है, नीरूप वायु रूपवान् तेज के रूप में, रस-गन्ध-विहीन तेज रसयुक्त जल के रूप में और गन्धहीन जल गन्धवती पृथ्वी के रूप में प्रादुर्भूत होता है, तब क्या वह प्रभु निराकार होकर भी साकाररूप में प्रकट नहीं हो सकते?

ज्ञानी के निर्वृतिक मन पर अविषय रूप से प्रकट वही वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्दघन प्रभु अनन्तकोटि कन्दर्प के दर्प को दूर करने वाले, दिव्य-सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाजलनिधि, मधुरातिमधुर स्वरूप से प्रकट होकर, अपने स्नेह द्वारा भावुक के द्रवीभूत अन्तःकरण को अपने रङ्ग में रङ्ग देते हैं।

भक्ति क्या है? भावुक के द्रुत चित्त पर निखिल रसामृतमूर्ति भगवान् का प्राकट्य ही भक्ति पद का अर्थ है। द्रवीभूत लाक्षा में एक हुए रङ्ग की तरह भक्त के प्रेमार्द्र हृदय में भगवान् की अभिव्यक्ति 'भक्ति' है।

६. भजनीय-विमर्श

जैसे कर्म के स्वरूप द्रव्य और देवता हैं, वैसे ही भक्ति का स्वरूप भजनीय नहीं होगा तो भक्ति क्या होगी ? इसलिये भजनीय चाहिये। निराकार-निर्विकार तो स्वरूप ही है, उसका भजन क्या होगा ? फिर, भक्ति में थोड़ा-सा द्वैत चाहिए। एक भक्त चाहिये और एक भजनीय। भजनीय के विना भक्ति नहीं हो सकती। प्रेम लक्षणा भक्ति का आलम्बन कोई अत्यन्त चित्ताकर्षक और परम अभिलषित तत्त्व ही हो सकता है। जो महामुनीश्वर प्रकृति-प्राकृत प्रपञ्चातीत परमतत्त्व में परिनिष्ठित हैं—उनके मन का आकर्षण भगवान् के सिवा प्राकृत पदार्थों में तो हो ही नहीं सकता।

ऐसी स्थिति में आवश्यकता होती है कि उनके परमाराध्य भगवान् ही अचिन्त्य एवं अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमयी मङ्गलमूर्ति में अवतीर्ण होकर उन्हें भजनीय रूप से अपना स्वरूप समर्पण कर भक्तियोग का सम्पादन करें, क्योंकि जो कार्य पूर्ण परब्रह्म परमात्मा के अवतीर्ण हुए विना सम्पन्न न हो सकता हो, जिसके सम्पादन में उनकी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कुण्ठित हो जाय, उसी के लिये उनका अवतीर्ण होना सार्थक हो सकता है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(भागवत १. ७. १०)

"जो आत्माराम हैं, महामुनीन्द्र हैं, निर्ग्रन्थ हैं, वे लोग भी भगवान् में अहैतुकी भक्ति करते हैं; क्योंकि भगवान् के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भी अपनी ओर खींच लेते हैं।"

तत्त्व-विदुषी कुन्ती देवी भगवान् के अवतार का प्रयोजन बताती है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥
(भागवत १. ८ २०)

"भगवन् ! जो अमलात्मा परमहंस मुनि हैं, उनको भक्तियोग का विधान करने के लिये आपका अवतार होता है; हम स्त्रियाँ इस रहस्य को कैसे समझ सकती हैं ?"

'नहि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते'

विना प्रयोजन के किसी मन्द की भी प्रवृत्ति नहीं होती। फिर अमलात्मा मुनीन्द्र परमहंसों की भगवद्भक्ति में क्यों प्रवृत्ति होती है ? इसी का उत्तर है— **'इत्थं भूतगुणो हरिः'** भगवान् का गुण ही ऐसा है। आत्माराम चित्ताकर्षक गुण

के कारण ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ भी भगवान् की ओर आकृष्ट होते हैं। जैसे जो जितना शुद्ध लोहा होता है, वह उतना ही चुम्बक के द्वारा आकृष्ट होता है; वैसे ही जितना निर्मल-निष्कलङ्क परम पवित्र अमलात्मा परमहंस होता है, वह उतना ही भगवान् के द्वारा आकृष्ट होता है।

एक और दृष्टि है—

पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठोपनिषत् २. १ १)

'**स्वयम्भू** परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया' यदि केवल इन्द्रियों की रचना अभीष्ट हो तो '**व्यरचयत्**' कह देते। '**त्रिह्नु हिंसायाम्**' धातु का प्रयोग क्यों किया? '**त्रिह्नु**' धातु तो हिंसार्थक है। इसका अर्थ यह है कि भगवान् ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर उनकी हिंसा किया (की)। हिंसा क्या है? 'न हि शस्त्र वध एव वधः', 'शस्त्र वध ही वध नहीं है, किन्तु—

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेहकिं वधः॥
(भागवत १०. ३१. २)

"हमारे अनुराग पूर्ण हृदय के नाथ! हम तुम्हारी निःशुल्क दासी हैं। तुम शरत्कालीन जलाशय में सुन्दर-से-सुन्दर सरसिज की कर्णिका के सौन्दर्य को चुराने वाले नेत्रों से हमें घायल कर चुके हो। हे वरद! प्राणेश्वर! क्या नेत्रों से मारना वध नहीं है? अस्त्रों से मारना ही वध है?"

दृष्टि वध भी तो वध है? इसी तरह, दर्शनीय के दर्शन से विमुख रखना भी तो वध है? इसलिये इन्द्रियों ने जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर तक तप किया। भगवान् उनकी तपस्या से प्रसन्न हो गये। बोले—'वरदान माँगो!'

इन्द्रियों ने कहा—"प्रभो! आपने हमें अपने अनन्त माधुर्यामृत के रसास्वादन से वञ्चित कर दिया है। हम बहिर्मुख हैं, इसलिये आपको नहीं पा सकतीं। आपने हमारी हिंसा की। बुद्धि आपका दर्शन करती है—

'**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**'
(कठो० १. ३. १२)

मन आपका दर्शन करता है—'**मनसैवानुद्रष्टव्यं**' (बृहदाण्यकोपनिषत् (४. ४. १९), '**मनसैवेदमाप्तव्यम्**' (कठोपनिषत् २. १. ११), '**स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते**' (मैत्रायण्युपनिषत् ४. ६) हम भी आपका दर्शन करना चाहती हैं।"

भगवान् ने कहा—'एवमस्तु ।'

फिर क्या था ? इन्द्रियों को उस वस्तु के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो गया । चक्षुरादि इन्द्रियाँ जिसे नहीं देख सकतीं—**'यच्चक्षुषा न पश्यति'** (केनोपनिषत् १. ६), मन जिसका मनन नहीं कर सकता—**'यन्मनसा न मनुते'** (केनोपनिषत् १. ५), 'चक्षुके द्वारा जिसे देखा नहीं जा सकता और मनके द्वारा जिसका मनन नहीं किया जा सकता' ऐसा जो अलक्ष्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, निराकार, निर्विकार, अद्वैत परात्पर पर ब्रह्म वही श्रीकृष्णचन्द्र बन गया ।

श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहन के मधुर-मनोहर-मङ्गलमय-मुखचन्द्र, पादारविन्द की नखमणि चन्द्रिका, मङ्गलमय दिव्य अङ्ग की आभा-प्रभा-कांति, दिव्य पीताम्बर-ये सब अभौतिक वस्तुएँ हैं, भौतिक वस्तुएँ नहीं । ये जड़ वस्तुएँ भी नहीं । 'नेति-नेति' कहकर वेद-वेदान्त जिस परब्रह्म का वर्णन कर रहे हैं, वही श्रीकृष्णचन्द्र के मधुर-मुखचन्द्रादि के रूप में अभिव्यक्त है । भगवान् के श्री अङ्ग की दिव्य आभा-प्रभा-शोभा और कांति भी स्वयं परात्पर परब्रह्म ही है । नयनों को रूपामृत प्रदान करने के लिये अदृश्य, अग्राह्य ब्रह्म ही रूप बना है । जिसने उस रूप को निहार लिया वह धन्य-धन्य हो गया ।

जिन नयनन सों यह रूप लख्यो
उन नयनन सों अब देखिय का ।

सूरदास जी महाराज कुएँ में गिर पड़े । भगवान् ने कृपा की । उनको लोकोत्तर स्पर्श प्रदान किया । कुएँ से निकले । **भगवान् के हस्तारविन्द का स्पर्श ब्रह्मस्पर्श है । शुद्ध परात्पर परब्रह्म हो श्री कृष्ण का पादारविन्द, हस्तारविन्द, वदनारविन्द है । सब कुछ रसस्वरूप ब्रह्म ही है—**

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरं ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।।
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरं ।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।।
(श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत मधुराष्टक)

सूरदास जी ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त कर रोमाञ्चकण्टकित हो गये । आनन्दाश्रु से उनकी आँखें भरपूर हो गयीं । बड़ा प्रेम किया भगवान् ने । अनुग्रह करके नेत्र प्रदान किया । सूरदास ने पादारविन्द नख-मणि चन्द्रिका का दर्शन किया । मङ्गलमय श्रीअङ्ग की दिव्य आभा-प्रभा-शोभाकांति को निहारा ।

भगवान् ने कहा—'अब जायेंगे, भाई सूरदास !'

सूरदास ने कहा—'हाँ हाँ, महाराज ! जाना ।'

श्री भगवान् चल पड़े । तो सूरदास ने कहा 'अरे ! एक सर्वज्ञ, सर्व-

शक्तिमान् अनन्त ब्रह्मांड नायक-एक अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् देहेन्द्रियादि नायक हाथ छुड़ाकर भाग चले, कोई बहादुरी तो नहीं ! हम जानें आपकी बहादुरी तब जब आप हृदय से निकल जाओ।'

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥
(लीलाशुक-बिल्वमङ्गल)

बाँह छुड़ाके जात हो निबल जानिके मोहि।
हिरदै से जब निकसिहौ मरद बखानौं तोहि॥

'अच्छा ठीक है, जाओ ! पर मेरी आँखें जैसी थीं, वैसी बनाके जाओ।'

भगवान् ने कहा—'नहीं, नहीं, रखो, रखो।'

सूरदास ने कहा—'क्या करेंगे, अब क्या करेंगे ?'

'जिन नयनों से आपके इस मुखचन्द्र के सौरस्यामृत, सौन्दर्यामृत का अनुभव कर लिया, उनसे अब क्या देखें ?'

उपलक्षण है। ऐसे ही समझ लेना चाहिये. जिन घ्राणों से भगवान् के मङ्गलमय पादारविन्द के दिव्य सौगन्ध्यामृत का आस्वादन हो गया, उनसे अब क्या सूँघें ? जिन कानों से भगवान् के दिव्य मुखचन्द्र निर्गत वचनामृत का रसास्वादन हो गया, अब उन कानों से क्या सुनना है ?

इस तरह से वह जो सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म है, वह इन्द्रियों को वरदान देकर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के रूप में प्रकट हुआ। वह दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य रूप, दिव्य रस और दिव्य गन्ध के रूप में प्रकट होकर भक्तों की इन्द्रियों को आह्लादित कर रहा है। इन्द्रियाँ भगवान् का अनुभव कर रहीं हैं—**'मयैव वृन्दावन गोचरेण'** (भागवत ११।१२।११), **'वृन्दावने गाः इन्द्रियाणिचारयति।'**

इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं, उन्हें ब्रह्मानुभूति नहीं होती। परमात्मा ने उन्हें भी ब्रह्मानुभूति कराया। अर्थात् अनन्त अखण्ड परात्पर परब्रह्म का आस्वादन कराया।

इन सब दृष्टियों से स्पष्ट होता है कि **कुन्ती का कहना बिलकुल ठीक है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्तियोग का विधान करके उन्हें 'श्री परमहंस' बनाकर उनके ज्ञान-विज्ञान को सुशोभित-समलंकृत करने के लिए, उनमें चार चाँद लगाने के लिए ही श्रीकृष्णचन्द्र का अवतार हुआ है। यही भगवान् के आविर्भाव का प्रयोजन है।**

'तथा परमहंसानां' के साथ 'परित्राणाय साधूनां' की सङ्गतिः—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

(भगवद्गीता ४।७, ८)

"अर्जुन ! प्राणियों के अभ्युदय और निःश्रेयस के साधन रूप वर्णाश्रम धर्म की जब-जब हानि एवं अधर्म का उत्थान होता है,तब-तब मैं प्रकट होता हूँ—अपने आपको अभिव्यक्त करता हूँ। साधुओं-सन्मार्गस्थ सत्पुरुषों की रक्षा एवं दुष्टों का विनाश और धर्म की सस्थापना करने के लिये युग-युग में आविर्भूत होता हूँ ॥"

भगवद्वचनों को कुन्ती-वचन के अनुसार लगाओ। किन साधुओं का परित्राण ? उन साधुओं का जिनका परित्राण करने के लिये भगवान् के पास दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं। कोई मोक्ष चाहे भगवान् उसको मोक्ष दे दें, भोग चाहे भगवान् उसको भोग दे दें। कोई साम्राज्य, वैराग्य चाहे उसे साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराग्य दे दें; परन्तु कई ऐसे हैं जो कुछ नहीं चाहते हैं, केवल मुखचन्द्र का दर्शन ही चाहते हैं—

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥

(भागवत १०।१९।१६)

"इधर व्रज में गोपियोंको श्रीकृष्ण के बिना एक-एक क्षण सौ-सौ युग के समान हो रहा था। जब भगवान् श्रीकृष्ण लौटे तब उनका दर्शन करके वे परमानन्द में मग्न हो गयीं ॥"

गोपाङ्गनाओं को भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन में अनन्त आनन्द होता था। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के बिना एक क्षण सौ युग के तुल्य बीतता था। फिर घड़ी कैसे बीतती होगी ? जहाँ एक क्षण सौ युग के समान बीते, वहाँ दण्ड, घड़ी और प्रहर कैसे बीते ? भगवान् के पास कोई उपाय नहीं, बस एक ही उपाय था कि उनको दर्शन देते। ऐसे भक्तों को भगवान् का दर्शन तो तभी सम्भव हुआ, जब वे निर्गुण निराकार, अद्वैत सच्चिदानन्दघन परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र के रूप में प्रकट हुए।

७. वरणीय-विमर्श—

भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार भगवान् के विशेष अनुग्रह से ही होता है। कहा भी है—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥
(भागवत १०. १४. २९)

"हे देव ! भगवन् ! आपका लोकोत्तर स्वरूप और माहात्म्य सर्वथा अद्भुत ही है। उसके ज्ञान से सकल दुःख-दोषों की निवृत्ति हो जाती है। जो पुरुष आपके युगल चरण-कमलों का तनिक-सा भी कृपा-प्रसाद प्राप्त कर लेता है, उससे अनुगृहीत हो जाता है, वही आपके लोकोत्तर-माहात्म्य को जान सकता है, दूसरा कोई ज्ञान वैराग्यादि साधन रूप अपने प्रयत्न से बहुत काल तक कितना भी अनुसन्धान करता रहे, आपकी महिमा का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता ॥"

भगवान् के मङ्गलमय पादाम्बुज द्वन्द्व का प्रसादलेश (कण) भी प्राप्त हो जाय तो भगवत्तत्त्व को—भगवान् की महिमा के तत्त्व को समझा जा सकता है। अन्यथा कोई उपनिषदों में ब्रह्मात्मतत्त्व का अन्वेषण करता-करता बहुत समय व्यतीत कर दे, तो भी ब्रह्मात्म-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाता। यह कोई नयी बात नहीं है। वेदों (उपनिषदों) में यही कहा गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषत् ६. १८)

इस तरह **भगवत्-प्रपत्ति-शरणागति के बिना भगवत्स्वरूप का अनुभव असम्भव** है। ज्ञान के साधनों में गीता कहती है—

'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।'
(भगवद्गीता १३. १०)

'और मुझमें अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति हो, तब तत्त्व को जान सकते हैं।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(भगवद्गीता १४. २६)

"मुझ सर्वभूत हृदयस्थित नारायण का जो कभी भी न व्यभिचरित होने वाले भक्तियोग के द्वारा सेवन करता है, वह गुणातीत होकर मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है ॥"

बहुत स्पष्ट-सुखद राजमार्ग है **'भक्ति'**। बिना भगवदनुग्रह के कभी भी भगवत्स्वरूप साक्षात्कार नहीं हो सकता ॥ तुलसीदास जी महाराज का फैसला (निर्णय) है--

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई ॥
(रामचरितमानस २. १२७. ३)

'आप जिसको चाहें, उसको जना दें।'

तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन ॥
(रामचरितमानस २. १२७ ५)

'हे भक्तवत्सल प्रभो ! आपकी कृपा से ही आपके स्वरूप का बोध सम्भव है।'

इसलिये कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
(कठोपनिषत् १, २. २३)

"अर्थात् बहुत प्रवचन से ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है,ऐसा मत समझो। बहुत श्रवण से ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है, ऐसा भी मत समझो। धारणा शक्तिमती मेधाके द्वारा भगवत्तत्त्व समझ में आ जायगा, सो भी नहीं। तब कैसे आयेगा ? **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'**

श्रीरामानुजाचार्य महाराज की व्याख्या है—

भगवान्(परमात्मा)जिस साधकको स्वयं वरण करते हैं,वही उनको पाता है। स्वयंवरा राजकन्या जिसके गले में जय माला डाल दे, जिसको वरण कर ले, वही उसके अनन्त माधुर्य के रसास्वाद का अनुभव कर सकता है। ऐसे सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर, सर्वाधिष्ठान प्रभु जिसके गले में जयमाला डाल दें, जिसको अपना बना लें, उसीको भगवत्स्वरूप का अनुभव हो सकता है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' एष परमात्मा यं साधकं प्रार्थयते तेन लभ्यः। **'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'** तस्य उपासकस्य एष आत्मा परमात्मा स्वरूपं प्रकाशयति स्वात्मानं प्रयच्छति। (कठोपनिषत्, श्रीभाष्य)

अन्त में (अन्ततोगत्वा एकस्थल पर) श्रीरामानुजाचार्य जी स्वयं ही कहते हैं—

औपनिषदपरमपुरुषवरणीयताहेतु गुण-विशेष विरहिणाम् (ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य, जिज्ञासाधिकरण)

श्री शङ्कराचार्य महाराज अर्थ करते हैं—यमेव स्वात्मानमेव साधका वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानमेव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः। कथं लभ्यत इत्यु-

च्यते—तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यमित्यर्थः ।

(कठोपनिषत् १. २. २२।२३)

"यह साधक जिस अपने आत्मा का वरण—प्रार्थना करता है, उस वरण करने वाले आत्मा द्वारा यह स्वयं ही प्राप्त किया जाता है, अर्थात् उससे ही 'यह ऐसा है' इस प्रकार जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि केवल आत्मलाभ के लिये ही प्रार्थना करनेवाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मलाभ होता है। किस प्रकार उपलब्ध होता है? इस पर कहते हैं—उस आत्मकामी के प्रति यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप अर्थात् अपने याथात्म्य को विवृत प्रकाशित कर देता है ।।"

अन्त में श्रीरामानुजाचार्य और श्रीशङ्कराचार्य का समन्वय हो जाता है, क्योंकि श्रीरामानुजाचार्य 'भगवद्वरणीयता गुणगण विरहितों को भगवत्साक्षात्कार नहीं होता', ऐसा मान लेते हैं। एतावता मालूम पड़ता है कि कुछ अपेक्षा है। भगवान् भी सर्वथा निरपेक्ष वरण नहीं करते। करें तो वैषम्य–नैर्घृण्य (निर्दयता) दोष आ जायगा।

'यमेवैष वृणुते' का मतलब यह नहीं कि प्रवचन व्यर्थ है, श्रवण व्यर्थ है, स्वाध्याय व्यर्थ है। प्रवचनादि का तत्त्व से सम्बन्ध है। तैत्तिरीय उपनिषत् में और सब साधन एक-एक बार है, जब कि स्वाध्याय और प्रवचन का आवर्तन बार-बार—

ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च ।।
तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।।
शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।।
अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।।
मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजाच स्वाध्याय प्रवचने च ।।
प्रजनश्चा स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च।।

(तैत्तिरीयोपनिषत् १.९)

एतावता—

वरणं विना केवलेन प्रवचानेन भगवान् न लभ्यः।
वरणं विना केवलया मेधया भगवान् नोपलभ्यते।
वरणं विना केवलेन श्रवणेन भगवान् नोपलभ्यते।
वरण सहितेन प्रवचानेन तु भगवान् उपलभ्यते।
वरण सहितया मेधया तु भगवान् उपलभ्यते।
वरण सहितेन श्रवणेन तु भगवान् उपलभ्यते।

कहा भी है—

> स्वाध्याय संयमाभ्यां स दृश्यते पुरुषोत्तमः ।
> तत्प्राप्तिकारणं ब्रह्म तदेतदिति पठ्यते ।।
> स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमावसेत् ।
> स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।।
> तदीक्षणायस्वाध्यायश्चक्षुर्योगस्तथा परम् ।
> न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतस्य शक्यते ।।

(विष्णु पुराणे ६. ६. १–३)

"वे पुरुषोत्तम स्वाध्याय और संयम के द्वारा देखे जाते हैं। ब्रह्म की प्राप्ति का साधन होने से ये भी ब्रह्म ही कहलाते हैं। स्वाध्याय के अनन्तर योग का और योग के अनन्तर स्वाध्याय का आश्रय ग्रहण करो। इस प्रकार स्वाध्याय और योगरूप संपत्ति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं। ब्रह्मस्वरूप परमात्मा को मांसमय चक्षु से नहीं देखा जा सकता। उन्हें देखने के लिये स्वाध्याय और योग ही दो नेत्र हैं।।"

इस प्रकार भगवद्वरणीयता गुणगण सम्पन्न सत्पात्र भगवान् के वरणीय बनते हैं और सर्वभूतों का शरण्य जानकर भक्त भगवान् को वरेण्य समझते हैं। वरेण्य भगवान् ही शरण्य हैं।

८. शरण्य–स्वरूप–विमर्श—

सर्वेश्वरत्व, सर्वकारणत्व, सर्वशेषित्व और सुलभत्व ये शरण्य के प्रयोजक हैं। जो सर्वेश्वर हो, सर्वकारण हो, सर्वशेषी हो और सर्व सुलभ हो, वह शरण्य हो सकता है। विभीषण की शरणागति सफल हुई; क्योंकि उसने शरण्य ठीक चुना। श्रीराम भगवान् की शरणागति विफल हुई, क्योंकि उन्होंने शरण्य ठीक नहीं चुना। श्रीराम शरण हुए समुद्र के, परन्तु उनकी शरणागति कहाँ सफल हुई ?

> समुद्रं राघवो राजा शरणं गन्तुमर्हति।

(बाल्मीकि रामायण युद्ध० १९. ३०)

भगवान् राम-कृष्ण सर्वेश्वर, सर्वकारण, सर्वशेषी और सर्व सुलभ हैं, पर उनसे भी अधिक सुलभ श्रीजी हैं। सर्वेश्वरत्व, सर्वकारणत्व, सर्वशेषित्व और वात्सल्यपूर्ण मातृत्वकी दृष्टि से श्रीजी की शरणागति अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुलभत्व तो उनसे अधिक और किसीमें है ही नहीं। तत्त्वतः दोनों में अभेद है—

> एकञ्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकम्।

'श्री' जी कौन हैं ?

(१) श्रयते हरिम् या सा श्रीः (श्रिञ् सेवायाम्)

'जो भगवान् की सेवा करे, वह श्री तत्त्व है।'

(२) श्रीयते सर्वैर्गुणैर्यासा श्रीः

'अनन्त कल्याण–गुण-गण जिनकी आराधना करते हैं, उनका नाम है श्री।'

(३) श्रीयते सर्वैर्जगद्भिः स्थावरैः जङ्गमैश्च या सा श्रीः

'सारे स्थावर-जङ्गम जिसका सहारा पकड़ते हैं, वह है श्री।'

(४) श्रीयते श्रीकृष्णेनापि (हरिणापि) या सा श्रीः

'श्री हरि स्वयं ही जिसकी आराधना करते हैं, वह है श्री।'

(५) शृणोति भक्तानां दुःख गाथाः श्रुत्वा च भगवन्तं श्रावयति इति श्रीः(श्रु श्रवणे)

'जो भक्तों की दुःख गाथा को सुनती हैं और फिर भगवान् को सुनाती हैं, वे हैं श्री।'

(६) शृणाति भक्तानां दोषान् हिनस्ति इति श्रीः (शृ हिंसायाम्)

भगवत्पद प्राप्ति में जो बाधक दोष हैं, उनका जो समूल उन्मूलन कर देती हैं, उनका नाम है श्री।'

(७) श्रीणाति परिपक्वान् करोति शुभगुणान् इति श्रीः (श्रीञ् पाके)

'विवेक–वैराग्यादि–गुण–गणों को जो परिपक्व कर देती हैं, वे हैं श्री।'

इसलिये भगवत्प्रपत्ति–भगवत्–शरणागति यह बहुत ऊँची चीज है। भगवान् ने गीता में भी यही कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(भगवद्गीता १८. ६६)

"तुम सब धर्मों को त्याग कर, मुझे सर्वात्मा ईश्वर जानकर मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुझे धर्माधर्म रूप बन्धन से छुड़ा दूँगा—आत्मस्वरूप प्रकाश से अज्ञानरूप अन्धकार का नाश कर दूँगा, शोक मत कर।"

'मामेकं शरणं व्रज'—मामेकमद्वितीयं शरणमाश्रयं व्रज निश्चिनु, यथा घटाकाशस्याश्रयो महाकाशः तरङ्गस्याश्रयो महासमुद्रः।

सब धर्मों का परित्याग करके मुझ एक अद्वितीय अखण्ड परमात्मा की शरण ग्रहण करो। शरण क्या है ? **'शरणं गृहरक्षित्रोः'** शरण का अर्थ है आश्रय और रक्षिता। **'मामेकं अद्वितीयं परमात्मानंशरणं आश्रयं, व्रज-अवगच्छ। 'व्रज गतौ'** मुझ एक अनन्त अखण्ड परात्पर परब्रह्म को ही अपना आश्रय जानो।

जैसे तरङ्ग अपना आश्रय समुद्र को जाने, घटाकाश अपना आश्रय महाकाश को जाने, जैसे कटक-मुकुट-कुण्डल अपना आश्रय अखण्ड सुवर्ण को जाने, वैसे ही **'मां एकं अद्वितीयं परमात्मानं शरणमाश्रयं व्रज अवगच्छ निश्चिनु'**, यही कल्याण का रास्ता है। **'भगवान् ही हमारे आश्रय हैं, तरङ्ग का आश्रय महासमुद्र जैसे है'** यह निश्चय करना चाहिये। जीवात्मा के आश्रय अनन्त ब्रह्माण्डाधिष्ठान स्वप्रकाश परात्पर परब्रह्म हैं। अथवा **'शरणं'** माने **'रक्षितारं'** है। **'मां एकं परमात्मानं रक्षितारं निश्चिनु'** – मुझ एक अखण्ड परमात्मा को अपना रक्षिता जानो।' भगवान् ही रक्षिता हैं।

एक बात है। वेद कहता है—

स एनमविदितो न भुनक्ति (बृहदारण्यको० १.४.१५)

'देवता का जब तक साक्षात्कार नहीं होता, तब तक वह पालक नहीं होता, रक्षा नहीं करता।'

एतदर्थ देव का साक्षात्कार होना चाहिये—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय

(यजुर्वेद ३१.१८)

६. शरणागति-प्रपत्ति-स्वरूप

केवल 'प्रपत्ति' शब्द भी शरणागति का बोधक होता है; परन्तु जहाँ 'शरण' शब्द भी सन्निहित हो, वहाँ प्रपत्ति का अर्थ 'सम्यक् ज्ञान' है। यथा 'शरणं प्रपद्ये (परमार्थसार १), 'शरणं व्रज' (भगवद्गीता १८.६६) इत्यादि स्थलों में 'शरण (रक्षक) जानता हूं', शरण (रक्षक) जानो' ऐसा अर्थ समझना चाहिये। 'पद्, व्रज' आदि धातु ज्ञानार्थक हैं; जैसे रज्जु के ज्ञान से उसमें कल्पित सर्प एवं तज्जन्य भय मिट जाता है, वैसे ही ब्रह्मात्म-तत्त्वज्ञान से उसमें कल्पित संसार एवं तज्जन्य भय की निवृत्ति हो जाती है। जैसे विज्ञात रज्जुतत्त्व भय-निवर्तक-रक्षक होता है, वैसे ही विज्ञात ब्रह्मतत्त्व संसार निवर्तक-रक्षक होता है। यही रक्षक रूप से भगवान् को जानना है। अथवा 'शरण' का अर्थ आश्रय है। जैसे घटाकाश का आश्रय महाकाश होता है, तरङ्ग का आश्रय जलाशय होता है, वैसे ही उपाधि परिच्छिन्न चैतन्यरूप जीव का आश्रय अनवच्छिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म है। 'शरणं प्रपद्ये (परमार्थसार १) का अर्थ होता है—'सर्वाधिष्ठान स्वप्रकाश ब्रह्मरूप नित्य अपरोक्ष भगवान् को मैं अपना भयनिवर्तक रक्षक रूप से एवं आश्रय रूप से निश्चय करता हूँ।'

'शृ हिंसायां' धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय होने से शरण शब्द निष्पन्न होता है।

'शृणोति हिनस्ति दुःखमनेनेति शरणम्'
'शरणम् आगतः शरणागतः'

'शरण' का अर्थ है रक्षक तथा गृह। श्रीहरि ही जीवों के रक्षक हैं। करुणावरुणालय सर्वाधिष्ठान प्रभु ही जीवों को आश्रयार्थ स्थान देते हैं, अतः गृह भी वही हैं। 'शरणागति' शब्द में 'आगति' शब्द परम महत्त्व का है। यह इस तथ्य का परिचायक है कि श्रीप्रभु के चरणारविन्द से विमुख होकर ही जीव नाना दुःखों का भाजन बनता है। मूल स्थान से च्युत होने का यह परिणाम स्वाभाविक है। जीव के मूल हैं सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान्। उन्हीं से विमुख होने पर जीव दुःख के महार्णव में गोते लगाता है। आनन्दसन्दोह प्रभु के सम्मुख हो जाय, यही उसके क्लेशों की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है। आनन्दकन्द प्रभु के आनन्दरस-निर्झर चरणों में समर्पित हो जाय, बस जीव के निस्तार का यही अमोघ उपाय है। आगति (आना, लौटना) शब्द का यही तात्त्विक स्वारस्य है। फलतः भगवान् के श्रीचरणों में अपने आपको सर्वात्मना समर्पण कर देना ही 'शरणागति' का मुख्य तात्पर्य है। सारे दृश्य प्रपञ्च से विरक्त होकर अर्थात् भगवद्भिन्न सारे पदार्थों से विमुख-निराश होकर एकमात्र सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही प्राप्त होना 'प्रपत्ति' है—

भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गतः।
परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च॥
(वाल्मीकीय रामायणे युद्धकाण्डे १९ ५)

"हे श्रीरामभद्र ! आप समस्त प्राणियों को शरण देने वाले हैं, इसलिये मैंने आपकी शरण ली है। अपने सभी मित्र, धन और लङ्कापुरी को छोड़कर आया हूँ।"

सर्व परित्यागपूर्वक सर्वात्मना-सर्वभावेन-मनसा-वाचा-कर्मणा भगवत्प्र-पत्ति—भगवत्-शरणागति बड़ी ऊँची बात है। इससे तत्क्षण कल्याण होता है, देरी की कोई बात ही नहीं। भगवान् का ऐसा भक्त परम प्यारा हो जाता है—

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि जेरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष शोक भय नहि मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहि आन निहोरें॥
(रामचरित मानस ५. ४८. ४-८)

ऐसी भगवत्प्रपत्ति बहुत ऊँची है। अच्छा, यह न बन सके तो ? **'तवास्मीति च याचते'** यह याच्ञा (याचना) करो कि 'हे प्रभो ! हमें अङ्गीकार

कर लीजिये। हे अकारण करुणकरुणावरुणालय ! अशरण-शरण ! हमें स्वीकार कर लीजिये—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम[४५] ॥
(वाल्मीकीयरामायणयुद्धकाण्डे १८. ३३)

"जो एकबार भी शरण में आकर 'मैं तुम्हारा प्यारा हूँ' ऐसा कहकर मुझ से रक्षा की प्रार्थना करता हैं. उसे मैं समस्त प्राणियों से अभय कर देता हूँ। यह मेरा सदा के लिये व्रत है।"

भक्तों ने कहा—'महाराज ! आपने यह प्रतिज्ञा अकेले में नहीं की है, तीर्थ में की है। किस तीर्थ में ? समुद्र में। सारे तीर्थ उसी में तो जाते हैं। गङ्गा भी वहीं जाय, यमुना भी वहीं जाय ! तीर्थों का अधिष्ठान है समुद्र। उसके किनारे आपने प्रतिज्ञा की है। अकेले नहीं थे आप, ऋषि थे, महर्षि थे, बन्दर-भालू थे, इन सबके मध्य आपने प्रतिज्ञा की है। इसलिये मुकर नहीं सकते महाराज !'

महाराज श्रीरामभद्र मुकरें भी कैसे ? तुलसीदासजी महाराज के राम तो कहते हैं—

शरणागत कहुं जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहिं बिलोकत हानि ॥
(रामचरित मानस ५. ४२)

महाभारत वाले कहते हैं—

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेतांश्छरणं प्राप्तान् विषमेऽपि न सन्त्यजेत् ॥
(महाभारते उद्योगपर्वणि ३३, ६८)

"भक्त, सेवक तथा 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहने वाले—इन तीन प्रकार के शरणागत मनुष्यों को संकट पड़ने पर भी नहीं छोड़ना चाहिये।"

---

४५. सकृदावां प्रपन्नो य उपास्ते त्यक्तसाधनः।
गोपीभावेन देवेश स मामेति न चेतरः ॥
सकृदावां प्रपन्नो वा मत्प्रियामेकिकामुत।
सेवतेऽनन्यभावेन स मामेति न संशयः ॥
यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर।
न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम् ॥
सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीतिवदेदपि।
साधनेन विनाऽप्येवमाप्नोति न संशयः ॥
(पाद्म ५ पातालखण्डे ८२. ८२ ८५)

(१) भक्त—अर्थात् हृदय में भक्ति है, परन्तु सेवा का अवसर प्राप्त न हो सका; (२) भजमान अर्थात् हृदय में भक्ति भी है और सेवा का अवसर भी प्राप्त है, साथ ही सेवा कर भी रहा है तथा (३) 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहनेवाला है, अर्थात् पहले से हृदय में भक्ति थी, अकस्मात् उसके ऊपर आपत्ति आयी और शक्ति-औदार्य आदि गुण देखकर हृदय उन्मुख हुआ और बोला 'मैं आपका हूँ; ऐसे ये तीन तरह के शरणागत होते हैं। भयङ्कर-से-भयङ्कर आपत्ति के समय में भी इन शरणागतों का परित्याग नहीं करना चाहिये।

रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात् सर्वे ब्रह्महभिः समाः।

(महा० उद्योग० ३५. ४८)

'ये हमारी रक्षा करेंगे' इस विश्वास के साथ कोई किसी के पास गया और अपनी प्राण रक्षा की प्रार्थना की, शक्ति रहते हुए भी यदि उसने रक्षा नहीं की अथवा उसका परित्याग कर दिया तो उसे ब्रह्महत्या-जैसा पाप होता है।

श्रीरामभद्र ने वाल्मीकि-रामायण में कपोत का दृष्टान्त दिया है। कपोत के शरण कोई व्याध आया। शरण माने घर। जिस पेड़ पर कपोत रहता था, उसी के नीचे कोई ऐसा व्याध आया, जिसने उस कपोत की कपोती को अपने जाल में फँसा रखा था। शत्रु-सरीखा व्याध कपोत के शरण आया। जाड़े में वह ठिठुर रहा था। कपोत ने अतिथि का सत्कार करना चाहा, उसके प्राणों को बचाना चाहा। कहीं से जलती हुई लकड़ी ले आया। इधर-उधर से लकड़ियों को बटोर कर उस पर रखा। अग्नि प्रज्वलित कर अतिथि को शीत से बचा लिया। फिर कपोत ने सोचा, 'यह अवश्य ही भूखा है', ऐसा सोचकर वह स्वयं ही अग्नि में कूद पड़ा—'लो भैया ! इस अग्नि में मुझे भून करके भूख मिटालो।'

श्रीराम ने यह दृष्टान्त दिया है। उन्होंने कहा है—'शरणागत का इतना बड़ा महत्त्व है। पक्षियों ने भी शरणागत को महत्त्व दिया है। हम तो रघुकुल में उत्पन्न हैं, फिर शरणागत की रक्षा क्यों न करें ?'—

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥
स हि तं प्रतिजग्राह भार्याहर्तारमागतम्।
कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुनर्मद्विधोजनः॥

(वाल्मीकिरामायणेयुद्धकाण्डे १८. २४, २५)

भगवान् रामभद्र ने सुग्रीव से कहा—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वाल्मीकि रामायण ६. १८. ३४)

अर्थात् यदि रावण ही आया हो तो भी लौटकर पूछने की जरूरत नहीं है, ले आना। विभीषण हो अथवा रावण—जो भी आया हो, ले आओ। सदोष हो तो भी भूषण है। सदोष शरणागत को ग्रहण करना यह तो भूषण है।

शरणागति एक बड़ी ऊँची चीज है; परन्तु इसमें एक खतरा है। यह ब्रह्मास्त्र है। ब्रह्मास्त्र जिसके ऊपर प्रयुक्त हो गया, उसके ऊपर यदि दूसरा बन्धन डाल दोगे तो वह विफल हो जायगा। मेघनाद ने हनुमान्‌जी पर ब्रह्मास्त्र डाला। ब्रह्मास्त्र का सम्मान करते हुए हनुमान्‌जी उससे निबद्ध हो गये। मेघनाद जरा आराम करने लगा। युद्ध करते-करते थक गया था। इधर राक्षसों ने सोचा—'यह बन्धन तो बड़ा कमजोर है', बड़ी-बड़ी शृङ्खलाओं को लाकर हनुमान् को बाँध दिया। मेघनाद की आँखें खुलीं। उसने देखा—हनुमान् को इन राक्षसों ने लोहमयी शृंखलाओं से बाँध रखा है। उसने सोचा—'इन दुष्टों ने बड़ा खराब काम किया। ब्रह्मास्त्र तो दूसरा बन्धन सहन करता नहीं। ब्रह्मास्त्र का प्रभाव तो जाता रहा है। इस हनुमान् के लिये शृङ्खलाएँ भला क्या चीज हैं?'

इसी तरह भगवत्-शरणागति दूसरी शरणागति को सहन नहीं करती।

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा विश्वासा॥
(रामचरित मानस ७. ४५. ३)

वेदान्त देशिकाचार्य जी कहते हैं—

दुरीश्वरद्वारबहिर्वितर्दिका दुरासिकायै रचितोऽयमञ्जलिः।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति मे धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम्॥

अर्थात् दुरीश्वरों के द्वार की बहिर्वितर्दिका पर दुराशा को लेकर जो बैठना है, उसके लिए मैंने हाथ जोड़ दिया; क्योंकि हमारे पास तो धनञ्जय के रथ पर विराजमान अति सुन्दर अञ्जनाभ श्रीकृष्ण ही अनपाय-धन हैं। फिर, हमें और की क्या आशा है?

किसी ने चातक से कहा है—

रे रे चातक सावधान मनसा मित्र? क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥
(नीति शतक ५१)

अर्थात् अरे मित्र! तू पीहू-पीहू करता है, बादल को देखते ही। जानता है? आकाश में बहुत ढङ्ग के बादल होते हैं, कोई अपनी वृष्टि से वसुधा को आर्द्र करते हैं, कोई केवल गर्जन-तर्जन करते हैं, एक भी बिन्दु डालते नहीं। बहुत-से

संसार में व्यक्ति हैं, जो आया उसी के सामने **'त्राहि मां, त्राहि माम्'**, यह पद्धति गलत है।

हाँ एक बात है, ऐसा नहीं कि शरणागति दूसरी नहीं करनी चाहिये। इष्ट-शरणागति के अनुकूल जो शरणागति हो, वह स्वीकार करने योग्य है।

'श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये' (रामरक्षास्तोत्र ३३)

श्रीराम की शरणागति ग्रहण करोगे तो उसमें पुष्टि के लिये रामदूत-हनुमान् की शरणागति भी आवश्यक होगी। इसी दृष्टि से शरण्य की शरणागति अपेक्षित है, हरेक की नहीं।

एक विचार और है। शरणागति बार-बार या एक बार ? महानुभावों ने विचार किया है—

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामोयजेत्'

स्वर्ग-प्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान बार-बार करने की आवश्यकता नही, एक बार ही पर्याप्त है। एक बार के अनुष्ठान से स्वर्गप्राप्ति निश्चित हो गयी; क्योंकि आवृत्ति का विधान नहीं है। लेकिन एक वार ही वेदान्त श्रवण से काम नहीं चलेगा—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् (ब्रह्मसूत्र ४. १. १.)

"प्रत्यय की आवृत्ति करनी चाहिये; क्योंकि **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** (बृहदारण्यको० ४. ५. ६) आदि श्रुतियों में इस प्रकार का बार-बार उपदेश है।"

वेद में लिखा है—

व्रीहीनवहन्ति

'धानों को कूटे', कितने वार मूसल चलाये ? एकवार मूसल चलाने पर भी अवघात हो गया, परन्तु नहीं—

यावत्तण्डुलनिष्पत्तिर्न स्यात्

'यावत्पर्यन्त तण्डुल-निष्पत्ति न हो, तावत्पर्यन्त अवघात करे', इसी प्रकार वेदान्त श्रवण की सीमा है, अपरोक्ष साक्षात्कार। वह जब तक न हो, तब तक मनन-निदिध्यासन करते चलो। लेकिन शरणागति के लिये ऐसी कोई बात नहीं। एक बार भी शरणागति हो गयी तो ठीक है।

भगवान् के चरणपङ्कज में पहुँचे विना, इस अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनाट्य के सूत्रधार प्रभु के शरण गये विना शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। पृथ्वी, जल,

तेज, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमण्डल, नक्षत्रमण्डल जिसके संकेत पर नाचते हैं, उसकी शरणागति के बिना अखण्ड शांति कहाँ ? पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण बोध, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण शांति एवं पूर्ण नियामकत्व भगवान् में ही होता है। सब लोग चाहते हैं कि "आनन्दस्वरूप बन जाऊँ पूर्ण स्वतन्त्र हो जाऊँ, सबका नियमन-शासन करूँ।" जब आस्तिक-नास्तिक सभी पूर्ण स्वातन्त्र्य, नियामकत्व, पूर्ण बोध, पूर्णानन्द, पूर्ण अबाध्यता या सत्ता के लिये व्यग्र तथा इनकी प्राप्ति के लिये जो जानसे प्रयत्न करते हैं, तब कौन कह सकता है कि अज्ञानी किं वा नास्तिक भी जिसकी प्राप्ति के लिये व्यग्र हैं, वह तत्त्व भक्तों तथा ज्ञानियों के ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, परब्रह्म भगवान् नहीं हैं। प्राणिमात्र के अन्तरात्मा भगवान् हैं, फिर उनसे विमुख होकर निःसत्त्व, निःस्फूर्ति कौन होना चाहेगा ? इसी आशय से वाल्मीकि जी की उक्ति है—

लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।

(वाल्मीकि रामायणे २. ३७. ३२)

'लोक में कोई ऐसा हुआ नहीं, है नहीं, हो सकता भी नहीं जो राम का अनुगामी न हो।'

निजी सर्वस्व के बिना किसीको भी कैसी विश्रान्ति ? अतएव तरङ्ग की जैसी समुद्रानुगामिता है, ठीक वैसी ही प्राणिमात्र की भगवदनुगामिता है। भेद यह है कि ज्ञानी अपने प्रियतम को जानकर प्रेम करता है, दूसरे उसीके लिये व्यग्र होते हुए भी उसे नहीं जानते। अस्तु, स्वसम्बन्धित्वेन ज्ञानपूर्वक प्रभु को ही भर्ता शरण, सुहृत् हृदयंगम कर उनसे प्रेम करना चाहिये—

गतिभर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(भगवद्गीता ९. १८)

भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है। भक्ति से ही पूर्णानुरागरस-सारसिन्धु प्रभु के अमृतमय मुखचन्द्र के प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति

(तैत्तिरीयोपनिषत् २. ७)

भक्ति से ही अरविन्दनयन भगवान् के श्रीचरणारविन्दमकरन्दरस का समास्वादन प्राप्त होता है। प्रेमी भक्त श्री आनन्दकन्द कोशलचन्द्र के अनुराग भरे कटाक्षपात से युक्त अमृतमय मुखचन्द्र के सौन्दर्य-माधुर्यामृत का पान करने में ही अपने को कृतकृत्य समझते हैं और निर्निमेष नयनों से उसी दिव्य माधुरी का पान करते हुए आनन्दोन्मत्त हो जाते हैं। इनका भगवान् में स्वाभाविक सहज, अकृत्रिम प्रेम होता है। विशुद्ध प्रेम में कुछ भी कामना नहीं होती। इसी विशुद्ध प्रेम का वर्णन देवर्षि नारद ने अपने भक्ति सूत्र में किया हैं—

'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्' (नारद भक्तिसूत्र ५४)

"प्रेम गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़ने वाला, कभी न टूटने-वाला, अत्यन्त सूक्ष्म तथा अनुभवस्वरूप है ।।

प्रेमी को अपने निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेमास्पद प्राणधन भगवान् में गुण-दोष देखने का अवकाश नहीं मिलता। वे इसलिये भगवान् में प्रेम नहीं करते कि 'हमारे भगवान् अचिन्त्य, अनन्त कल्याण गुणगणनिलय हैं, अनन्तकोटि ब्रह्मांडनायक हैं, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश हैं, देवाधिदेव हैं, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं, दिव्यातिदिव्य सर्वैश्वर्य परिपूर्ण हैं एवं परमानन्द रससार सिन्धु सर्वस्व हैं, क्योंकि किसी गुण को देखकर जो प्रेम होता है, वह तो गुण न दीखने पर नष्ट हो जा सकता है। विशुद्ध प्रेम में गुणगणों की अपेक्षा ही नहीं होती। प्रेमी अपने प्रेमास्पद में प्रेम ही करता है, चाहे वह अचिन्त्य अनन्त कल्याण गुणगणनिलय हो अथवा सर्वगुण-विहीन, चाहे दिव्य वसन-भूषण-अलङ्कार से सुसज्जित सुन्दरातिसुन्दर हो, चाहे सौन्दर्य विहीन हो, चाहे दिव्यातिदिव्य ऐश्वर्य सम्पन्न हो, चाहे दीन-हीन-दरिद्र हो, चाहे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हो, चाहे बन्धन युक्त।

माता पार्वती के दृढ़ निश्चय को जानते ही हो—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी।
बरउँ शंभु न त रहउँ कुआरी।।

(रामचरितमानस १. ८१. ५)

जन्म–जन्मान्तर कुमारी रहूँगी–तो–रहूँगी, पर शादी करूँगी तो भूत-भावन शङ्कर से ही।'

सप्तर्षि गये विघ्न मचाने-परीक्षा लेने। शिव जी ने ही भेजा—"जाकर परीक्षा तो लो।", सप्तर्षियों ने कहा—"तुम बड़ी पगली हो। आखिर तो पत्थर की लड़की हो ? अरे, तुम्हें शङ्कर मिल भी जाऐगें तो क्या होगा ? वे तो बस-बस कुछ मत पूछो, मुण्डमाला पहने होंगे, चिता का भस्म लगाए होंगे। साँपों का यज्ञोपवीत होगा। तुम्हारा उनसे विवाह भी हो जायगा, तो क्या करोगी ? चलो हम तुम्हारी शादी श्रीमन्नारायण परात्पर परब्रह्म विष्णु से करा दें। उनका दामिनी द्युतिविनिन्दक पीताम्बर देखकर निहाल हो जाओगी। वह दिव्य मकराकृति कुण्डल, वह दिव्य मङ्गलमय अङ्ग की आभा-प्रभा-कांति ! अरे क्या कहना। गिरिजे, आओ तुम्हारी शादी विष्णु से करा दें ?"

सप्तर्षियों की बात सुनकर पार्वती कठमुल्लों की तरह शास्त्रार्थ में नहीं पड़ीं। उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि नहीं-नहीं शिव जी अच्छे हैं, विष्णु खराब हैं। इस झंझट में नहीं पड़ीं—

महादेव अवगुन भवन विष्णु सकल गुण धाम।
जेहि कर मनु रमु जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

(रामचरितमानस १. ८०)

उन्होंने कहा—"महर्षियों ! आप यही कहना चाहते हो कि महादेव में बहुत दोष हैं। माने लेती हूँ महाराज ! 'महादेव अवगुण के भवन हैं और विष्णु' बड़े अच्छे हैं। आप यही कहना चाहते हो न ? मान्य है, मान्य है। माना कि विष्णु सकल गुणधाम हैं। विष्णु भगवान् अनन्त-अनन्त गुणगणों के धाम हैं। जितना आप कहते हो, उससे भी अधिक अनन्त गुणित गुणधाम हैं। महादेव अवगुण के धाम हैं, बस यही तो ? पर क्या करें, 'जाकर मन रम जाइ जहँ....'"

सारा शास्त्रार्थ खत्म हो गया। अगर झंझट में पड़तीं तो यह शास्त्रार्थ करो, वह शास्त्रार्थ करो। यह खण्डन हुआ, वह मण्डन हुआ। दुनियाँ भरका प्रपञ्च खड़ा होता। यह अडिग प्रीति है ,

कोई सन्देह नहीं, जिसको जिसपर सत्य-स्नेह है, वह अवश्य मिलेगा। कोई शक्ति नहीं कि दुनियाँ में रोक ले—

जेहि पर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू॥

(रामचरितमानस)

यही बात गोपाङ्गनाजनों में है—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

(उज्ज्वलनीलमणौ स्थायि० २९)

"मेरे श्यामसुन्दर असुन्दर हों, चाहे सुन्दरशेखर हों, चाहे सर्वगुणों से रहित हों, चाहे अनन्त-अनन्त गुणगणों के धाम हो, वे श्रीश्यामसुन्दर ही तो अब मेरे सदा–सर्वदा के लिये सर्वस्व हैं, प्राणधन हैं।"

मां धवो यदि निहन्ति हन्यतां,
बान्धवो यदि जहाति हीयताम्।
साधवो यदि हसन्ति हस्यतां,
माधवः स्वयमुरीकृतो मया॥

(आनन्दवृन्दावन चम्पू ८. ३७)

"मेरे पति यदि मुझे मारते हों तो भले ही मारें। मेरे बान्धव यदि छोड़ते हों तो सहर्ष छोड़ दें ? साधुगण भी यदि मेरी हँसी उड़ाते हों तो उड़ाते रहें, क्योंकि मैंने तो विचार पूर्वक स्वयं ही उन्हें अङ्गीकार किया है॥"

('माधवो' पाठ मानकर–) "मेरे प्राणनाथ प्रियतम श्यामसुन्दर

व्रजेन्द्रनन्दन मदनमोहन माधव यदि हमारा वध करना चाहते हों, तो भले ही करें, उनकी मर्जी। मैंने तो उनको अपना सर्वस्व–आत्मनिवेदन कर दिया है। हमारे बन्धु-बान्धव यदि हमारा परित्याग कर देते हों तो भले ही करें। साधु-सन्त हँसते हों तो भले ही हँसें, खूब हँसें, पर मैंने तो माधव को अङ्गीकार कर लिया। डङ्का बजाकर अपने मदनमोहन प्रियतम को—अपने प्राणधन को अङ्गीकार कर लिया ॥"

यहाँ भी कोई शर्त नहीं। शुद्ध प्रीति इसी ढङ्ग की होती है। **ब्राह्मण लोग यज्ञ करके, तप करके, दान दे करके, जप करके, व्रत करके परात्पर परब्रह्म विषयिणी विविदिषा लाभ करते हैं। भगवत्तत्त्ववेदनकी उत्कट उत्कण्ठा हो जाय, इसीके लिये पूर्ण यज्ञ, पूर्णतप, पूर्णदान, पूर्णव्रत है और इच्छाएँ तो इधर-उधर से देख-सुनकर भी हो सकती हैं, पर भगवत्तत्त्ववेदन की उत्कण्ठा बड़े भाग्य से उत्पन्न होती है।**

साक्षात्कार की कहानी अलग है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन की कहानी अलग है। खाली विविदिषा भी दुर्लभ है। बुभुक्षा (खाने की इच्छा) सब को हो जायगी, पर मुमुक्षा कहाँ ? किसीके सिर में आग लगी, कोई बोला—'देखो इस रास्ते से चले जाओ, सरोवर मिलेगा, उसमें गोता लगाओ।' चला सरोवर की ओर। सिर में, दाढ़ी–मूँछ में आग लगी थी। उधर बीच में टी-पार्टी' हो रही थी नर्तकी नृत्य कर रही थी। मित्रों ने कहा—'भाई ! दो मिनट 'टी-पार्टी' में शामिल हो लो। नृत्य देख लो।', भला बताओ ? जिसके सिर में आग लगी हुई है, वह सिनेमा देखेगा या टी-पार्टी में बैठेगा या किसीसे इधर-उधर आँख मिलाएगा ? कुछ नहीं। ऐसे ही जिसको बुभुक्षा के तुल्य, पिपासा के तुल्य विविदिषा हो जाय तो 'को न मुच्येत बन्धनात्' दुनियाँ में कौन प्राणी है जो बन्धन से मुक्त न हो जाय। अवश्य ही बन्धन से मुक्त हो जायगा। ऐसी इच्छाओं के लिये यज्ञ, दान, तप करना पड़ता है। भगवत्कृपा से भगवत्प्रेप्सा–भगवत्प्राप्ति की उत्कट उत्कण्ठा उदित होती है। विषय तृष्णा तो पिशाची है, पर भगवत्-तृष्णा दिव्य। भगवान् के मधुर-मनोहर मङ्गलमय मुखचन्द्र के दर्शन की इच्छा, भगवान् के पादारविन्द की नखमणिचन्द्रिका के दर्शन की इच्छा, दामिनी द्युति विनिन्दक पीताम्बर के दर्शन की उत्कण्ठा दिव्य है। यह जन्म जन्मान्तरों के पुण्य-पुञ्जों से मिलती है। यह पुण्य-पुञ्ज का फल है—

कृष्णभावरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं कोटिजन्मसुकृतैर्न लभ्यते ॥

(पद्यावली १४. श्रीविल्वमङ्गल)

अर्थात् 'कृष्ण भावरस भाविता मति' कहीं से खरीदने से मिलती हो तो खरीदो। बोले 'मिलेगी कैसे ?', उत्तर मिला—'उसके लिये व्याकुलता होनी – यही उसकी कीमत है। जैसे बुभुक्षु भोजन के लिये और पिपासु पानी के लिये

व्याकुल हो उठता है, ऐसे ही भक्त प्राणवल्लभ–प्रियतम के मुखचन्द्र का दर्शन करने के लिये व्याकुल हो उठता है।'', 'यह लौल्य कैसे मिलता है ?', 'कोटि-कोटि जन्मों के सुकृत से ही मिलता है, बिना उसके नहीं। जन्म-जन्मान्तर कल्प-कल्पान्तर का पुण्य-पुञ्ज समुदित हो, तब ऐसी उत्कण्ठा होती है। भगवत्पाद-पङ्कजसमर्पण बुद्धि से अनुष्ठित कर्मों के द्वारा ही पुण्य–पुञ्ज हो पाता है।', इस तरह ऐसी उत्कृष्ट विविदिषा–तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न हो यही कर्मों का फल है।

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।
(बृहदारण्यकोपनिषद् ४. ४. २२)

(**'सुकृतैर्नलभ्यते'** पाठ मानकर–) उसमें भी मेरे 'पुण्यों के फलस्वरूप मुझे भगवान् मिलेंगे' ऐसा अभिमान नहीं रखना चाहिये। 'उत्कट उत्कण्ठा तो प्रभु की अहेतुकी अनुकम्पा से प्राप्त होगी' ऐसा भाव रखना चाहिये। सभी बात सब के मन में नहीं आती। कृष्ण नाम सभी सुनते हैं। हम भी सुनते हैं। आप भी सुनते हैं। राधारानी वृषभानुनन्दिनी भी सुनती थीं। उनको क्या होता था—

व्रीडां विलोडयति लुञ्चति धैर्यमार्य-
भीतिं भिनत्ति परिलुम्पति चित्तवृत्तिम्।
नामैव यस्य कलितं श्रवणोपकण्ठे
दृष्टः स किं न कुरुतां सखि ! मद्विधानाम्॥
(श्री० आनन्द वृन्दावन चम्पू ८. ३८)

"किन्तु हे सखि ! जिसका केवल नाम ही हम जैसी अनुरागिनियों के कानों के निकट जाते ही लज्जा को लोट-पोट कर देता है—भग्न कर देता है, धैर्य को नोंच लेता है—दूर कर देता है। वृद्धजनों से होनेवाले भयको टूक–टूक कर देता है। चित्त को चारों ओर से छिन्न-भिन्न कर देता है। तब ऐसी स्थिति में वह दृष्टिगोचर होकर क्या नहीं करेगा ? इसको कौन कह सकता है ?"

श्रीराधा जी के मङ्गलमय दिव्य अङ्ग में कानों के पास श्रीकृष्ण-नाम आया—'श्रीकृष्ण' 'श्रीकृष्ण' ! कितना मधुर नाम। श्रीराधारानी व्रजेन्द्रनन्दिनी ने उसी समय निर्णय कर लिया—'मैंने अपना सर्वस्व इसी नाम पर न्योछावर कर दिया है। अब कोई कृष्ण मिले या न मिले, मैंने तो इसी नाम पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया है।' इसलिये कहते हैं—एक दिन चित्रा सखी ने मदनमोहन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र का चित्र लाकर दिखाया। चित्र देखकर राधारानी बहुत मोहित हो गयीं। उसी क्षण वह रोने लग गयीं।

पूछा सखियों ने—'क्यों रोती हो सखी ?'

बोलीं—"हमारा तो पातिव्रत्य भङ्ग हो गया। अब जिएगीं नहीं।"

सखियों ने कहा—'क्यों सखी ! तुम्हारा पातिव्रत्य कैसे भङ्ग हो गया ?'

बोलीं—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
सान्द्रोन्मादपरामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्ना सकृद्वीक्षणात्
कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिः श्रेयसी ।।

(विदग्धमाधवे' २. ६, उज्ज्वलनीलमणि स्थायि० १०)

वृन्दावन का वर्णन सुनके श्रीराधा जी ने ललिता जी से पूछा यह सुन्दर वृन्दावन किसका है ? ललिता जी ने कहा—यह श्रीकृष्ण का है। ललिता जी से कृष्ण नाम सुनते ही श्रीराधा जी ने ललिता जी से कहा—सखि ! एक दिन मेरे कानों में कृष्ण नाम आया। कृष्ण नाम ने व्रीड़ा का विलोडन कर डाला। कुलांगनाओं में जो धैर्य होता है, जिसके बल पर वे सतीत्व की रक्षा करती हैं उसका भी लुञ्चन कर डाला, नोच डाला। गुरुजनों का जो डर है, उसे भी छिन्न-भिन्न कर डाला। अपना सर्वस्व उस नाम पर न्यौछावर कर डाला। सोचा—बस, जीवन इसी पर युग-युगान्तर-कल्प-कल्पान्तर के लिये न्यौछावर कर डाला, परन्तु सखि ! एक दिन किसी के मुखचन्द्र से निर्गत वेणुगीतामृत मेरे कानों में आ गया। उसने तो उन्माद की अखण्ड धारा जारी कर दिया। यह चित्र चित्रा जी लाई हैं। स्निग्ध नीले-नीले बादलों के तुल्य है यह। यह नूतन जलधर रुचिवाला, यह दिव्य चित्र है। इसे देखकर तो मेरा मन लोट-पोट हो गया है। मुझे धिक्कार है। तीन पुरुषों में मेरी बुद्धि हो गई है। पतिव्रता को एक पुरुष में बुद्धि होती है। हमारी तीन पुरुषों में बुद्धि—मैं जीवित नहीं रहूँगी। अब मैं अपना प्राण त्याग दूँगी। अब मैं मरना ही श्रेष्ठ समझती हूँ।

सखियाँ खिल-खिलाकर हँस पड़ीं। बोलीं—"सखी तुम बड़ीं भोली हो। अरी ओ ! वह कृष्ण उसीका नाम है। ओ हो हो ! उसीके मुखचन्द्र से निर्गत वेणु गीतामृत है, जिसके प्रभाव से तुम्हारे हृदय में सान्द्रोन्माद प्रेम परम्परा का विस्तार होता है। उसीका यह मधुर मनोहर मङ्गलमय चित्र है।"

सखियों के ऐसा कहने पर श्रीराधारानी आश्वस्त हुईं।

अभिप्राय यह कि गुण-दोष का पर्यवेक्षण छोड़कर परमानन्द-रससार-सिन्धु-सर्वस्व में डूबा हुआ प्रेमानन्दमय प्रेमी सर्वत्र अपने परम प्रियतम प्रेमास्पद प्राणधन को ही देखता है। उसे समस्त नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च का भान ही नहीं रहता। ऐसी ही स्थिति में एक व्रजाङ्गना कहती है—

'जित देखूँ तित श्याममयी है।'

१०. शरणागति का महत्त्व—

अहा ! प्रेम की बात हो निराली है। प्रेमी प्रेमपाश में बँधकर अपने जीवन को भी खतरे में डाल देता है, पर अपनी (उसकी) टेक नहीं छोड़ता। प्रेमियों में चातक अग्रगण्य समझा जाता है।

एक भ्रमर था। वह कमल के भीतर बैठा मकरन्दरस का पान कर रहा था। उसके सौगन्ध्य से मस्त हो रहा था। इतने में सन्ध्या हो गयी। सूर्यास्त होते ही कमल बन्द हो गया। मोटे-मोटे शाल और शीशम के पेड़ों को भी छेद डालने की ताकत रखने वाला भ्रमर उसके अन्दर ही रह गया। विचार करने लगा—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

(सुभाषितरत्नभाण्डागारम् व्योमचरान्योक्तयः ५. ७८)

"रात बीत जायगी। प्रातः होगा। भगवान् भास्कर की किरण रश्मियों से कमल फिर खिल जायगा, तब मैं इसमें से निकल जाउँगा। तब तक आनन्द से मकरन्द का आस्वादन करता रहूँ।' वह यों विचार कर ही रहा था कि इतने में एक मत्त गयन्द ने आकर कमल को उखाड़कर मुँहमें डाल लिया। कमल के साथ भौंरा भी हाथी के दाँतों से पिस गया।"

यदि वह चाहता तो बड़ी सुगमता से, कमलकोश के बाहर आ जाता, परन्तु प्रेम-बन्धन बड़ा ही मजबूत होता है—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रि-
निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे ॥

(श्रीधरस्वामिपाद)

इसी प्रकार प्रेम के कारण ही पतङ्ग दीपक पर बैठकर जल जाता है। मृगयु के बीणावादन पर मुग्ध होकर हरिणियाँ अपना प्राण दे देतीं हैं। वे सब हैं विशुद्ध प्रेम के ज्वलन्त उदाहरण। सूर के शब्दों में—

ऊधो ! मन माने की बात।
दाख छोहारा छाँड़ि अमृत फल विष कीरा विष खात ॥

जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अङ्गार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठ में बँधत कमल के पात ॥

ज्यों पतङ्ग हित जानि आपनो दीपक सों लपटात।
सूरदास जाको मन जासों ताको सोइ सुहात ।।

इस प्रकार प्रेमी भक्त एकमात्र अपने प्रियतम निरतिशय, निरुपाधिक, प्राणधन को ही अपना सर्वस्व समझते हैं। वे प्रभु का ही समाश्रयण लेते हैं। श्रीविभीषण जी रावण से तिरस्कृत होकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक महाराजाधिराज, परात्पर पूर्णतम, पुरुषोत्तम श्रीमद्राघवेन्द्र जी को ही अपना **'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'** जानकर आनन्द में विभोर होकर और मन में अनेकानेक मनोरथ सङ्कल्प-विकल्प करते हुए चले—

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं ।।
(रामचरित मानस ५. ४२. ४)

वह मनोरथ मनोराज्य नहीं। **सांसारिक अभीष्टों के लिये जो सङ्कल्प-विकल्प होता है, उसको मनोराज्य कहते हैं। भगवान् के प्रति जो सङ्कल्प-विकल्प होता है, उसे मनोराज्य नहीं कहते हैं।**

निराशारूपी पिशाचनी को दूरकर सङ्कल्प बल से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। सत्यसङ्कल्प के द्वारा साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्यादि सुख-सामग्री एवं स्वर्ग-अपवर्ग सब कुछ मिल सकता है। विश्वास करो चिद्रूप जीवात्मा के साथ भगवान् का अभेद सम्बन्ध है। जीव कभी भी अनन्त आनन्दसिन्धु, परमानन्दकन्द भगवान् से वियुक्त नहीं होता। फेन, तरङ्ग, बुदबुद के भीतर-बाहर जैसे जल ही ओतप्रोत है, वैसे ही स्वांशभूत जीवों के बाहर-भीतर, चारों ओर भगवान् ही व्याप्त है। **'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं० १० १३. १)**

आस्तिक-नास्तिक सभी जीव भगवान् के पुत्र हैं। जैसे सिंह का पुत्र सिंहही होता है वैसे ही अमृतका पुत्र अमृतही होता है। जलमें जो रसादिगुण होते हैं, वे सभी उसके विकार फेन बुदबुद, तरङ्ग में भी होते हैं। अग्नि के विस्फुलिङ्गों में अङ्गिगत दाहकत्व, प्रकाशकत्व सभी गुण होते हैं। इसलिये सर्वविभासक, अखण्ड, अनन्त, आनन्दसिन्धु, परमानन्दकर भगवान् जीव के हैं और जीव में हैं। जीव के परमाश्रय जीवनधन हैं। भगवान् परम कारुणिक हैं। वे चाहते हैं कि जीव किसी प्रकार से निरावरण निजानुभव करके जन्म-मरण-विच्छेद-लक्षण संसृति से विनिर्मुक्त हो जाय। तभी तो सृष्टि का निर्माण करते हैं।

यद्यपि महाप्रलय में सभी जीव भगवन्-सम्मिलन से सुखी थे, परन्तु फिर भी परम प्रियतम प्राणधन भगवान् ने उनको सृष्टिकाल में जगाया। जिस प्रकार पुत्रवत्सला माता स्वाङ्क में प्रसुप्त स्वपुत्र को किसी उत्तम फल के मिलने पर उसे खिलाने को जगाती है, उसी प्रकार भगवान् के सभी पुत्र उनकी गोद में सोते थे—

'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति'
(छान्दोग्योपनिषत् ६. ८. १)

महाप्रलय में सावरण भगवान् का अनुभव होता है भगवान् ने सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि परम्परा से सन्तप्त जीवों को देखकर उन्हें निरावरण निजानुभव कराने के लिये सृष्टि का निर्माण किया। ऐसी स्थिति में महर्षि आदिकवि का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि—

यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति॥
(वाल्मीकि रा० २. १७. १४)

"जिसने स्नेहभरी दृष्टि से श्रीरामभद्र को नहीं देखा और श्रीरामचन्द्र ने अनुकम्पा भरी दृष्टि से जिसे नहीं देखा, वह सर्वलोक निन्दित है और उसकी आत्मा भी उसकी विगर्हणा—धिक्कार करती है।"

जैसे कमलनयन पुरुष के अतिशोभन नयन व्यर्थ हैं, यदि प्रभु के रूप दर्शन में उनका उपयोग न हुआ, वैसे ही ज्ञानी के भी प्रारब्ध भोग पर्यन्त अनिवार्य रूप से रहने वाले देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि व्यर्थ और नीरस ही रहे, यदि उन सबका सदुपयोग प्रभु के सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्यामृत के समास्वादन में न हुआ। इसलिये व्रजाङ्गनाओं ने भी कहा है—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥
(भागवत १०. २१. ७)

नेत्रवालों के नेत्रों की सार्थकता और इनका चरम फल यही है कि श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के अनुराग भरे कटाक्ष पात से युक्त वेणुचुम्बित अमृतमय मुखचन्द्र के सौन्दर्य-माधुर्यामृत का दर्शन किया जाय! त्वक् की सार्थकता इसी में है कि उससे प्रभु के सुस्पर्शामृत का आस्वादन किया जाय। अन्यथा इन करणग्रामों का होना बिलकुल व्यर्थ है।

इस प्रकार अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोम को अपने दिव्य रस से सरस और मङ्गलमय बनाने वाले भगवान् की शरणागति अनुपम है।

पुराणों में एक भद्रतनु नामक व्यक्ति की कथा आती है। वह यद्यपि जन्मान्तर का परम तपस्वी और भगवत्परायण था, तथापि किसी दुर्दैव के योग से वेश्यागामी हो गया। एक दिन उसके पिता का श्राद्ध था। उसकी साध्वी धर्म-

पत्नी ने कहा, 'आज आप अवश्य नियम से रहें, क्योंकि पिता का श्राद्ध है।', परन्तु उससे न रहा गया और वह रात्रि के समय वेश्या के पास जा पहुँचा। अपने उत्कट प्रेम की कथा उसने कह सुनायी। वेश्या ने खिन्न होकर उसे बहुत ही तिरस्कृत किया और कहा कि "जब आप इतनो नीच प्रकृति के हैं कि अपने पिता के लिये भी साधारण-सा नियम पालन नहीं कर सकते, तो हमारे लिये आप क्या कर सकते हैं ? आप चले जाइये !"

वेश्या के इन वचनों को सुनकर भद्रतनु को ग्लानि हुई और वह उसे गुरु मानकर वहाँ से चल पड़ा। महात्मा मार्कण्डेय के पास पहुँचा। उनसे जाकर अपनी सारी सत्यस्थिति कही। उन्होंने कहा— अब घबड़ाओ नहीं, तुम्हारा कल्याण होने ही वाला है। मुझे तो समय नहीं है। तुम समीप में ही महात्मा दान्त रहते हैं, उनके पास चले जाओ।', वह गया और उनसे भी अपनी स्थिति बतलायी। उन्होंने उसे भगवान् की उपासना बतलायी। बड़ी तत्परता से वह उपासना में लग गया। बहुत थोड़े दिनों में भगवान् प्रत्यक्ष हो गये। प्रसन्न होकर उन्होंने उसके सब पापों को नष्ट कर दिया। उसे अपना मित्र बना लिया। फिर भी उसे दिनों दिन दुर्बल देखकर भगवान् ने कहा—'मित्र तुम दिनों दिन दुर्बल क्यों हो रहे हो ? देखो, तुम हमारे मित्र होकर फिर चिन्तित क्यों हो ?'

उसने कहा—'भगवन् ! मुझे हर समय लगा रहता है कि मुझ से कहीं कोई ऐसा अपराध न बन जाय कि प्रभु की मैत्री से भी वञ्चित रह जाऊँ ?'

भगवान् ने कहा—'मित्र मेरी मैत्रो ऐसी चञ्चल नहीं होती। मैं जिससे मैत्री जोड़ता हूँ, उससे अटल मैत्री रखता हूँ; अतः तुम निश्चिन्त रहो और खूब निश्चिन्तता के साथ भूषण, वसन, अलङ्कार से विभूषित-सुसज्जित-अलंकृत होकर रहो। यहाँ तक कि मैं तुम्हें अपने समान ही पीताम्बर, कटक, मुकुट, कुण्डलादि प्रदान करता हूँ, तुम सर्वथा निश्चिन्त होकर मेरे समान ही रहा करो।"

उसने प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य की और प्रसन्नता के साथ रहने लगा। अधिक साजबाज के साथ रहते देखकर गुरु ने एक दिन कहा—'भाई ! तुम कैसे हो गये ? क्या फिर अपने पूर्वरूप पर ही आ गये ?'

उसने कहा—'गुरुदेव ! आपने जिनका भजन बतलाया है, यह सब उन्हीं के आदेशानुसार कर रहा हूँ।'

गुरुदेव को आश्चर्य हुआ कि मैं तो सहस्रों वर्षों से तप कर रहा हूँ, मुझे भगवान् के दर्शन तक न हुए, इसे इतनी शीघ्रता से भगवान् कैसे मिल गये ?'

दान्त ने कहा—'अच्छा, हमें भी मिलाओ।'

भद्रतनु ने कहा—'बहुत अच्छा !'

भगवान् से मिलते ही उसने कहा—'भगवन् ! अब तो हमारे गुरुदेव से भी आपको मिलना पड़ेगा ?'

भगवान् ने कहा—'मित्र ! तुमने जन्मान्तरों से मेरी प्राप्ति के लिये बड़ी तपस्या की थी। केवल इतना काम प्रतिबन्ध ही अवशिष्ट था। उसके मिटते ही मैं शीघ्र तुम्हें मिल गया। तुम्हारे गुरुदेव को तो अभी बहुत जन्मों तक तपस्या करनी पड़ेगी।'

भद्रतनु ने कहा—'प्रभो ! आपको मेरी प्रसन्नता के लिये यह कार्य तो करना ही पड़ेगा।'

भगवान् ने कहा—'अच्छा, तुम्हारी प्रार्थना के लिए मैं तुम्हारे गुरुदेव से मिलूँगा। तुम उन्हें ले आओ।'

बस, इस तरह भगवान् की अशेष कृपा से दान्त को भी भगवान् का दर्शन हुआ।

कथानक का आशय यही है कि किसी भी स्थिति में प्राणी भगवान् के चरणों में जाकर सदाचारी बनकर भगवान् को प्राप्त कर लेता है, अतः प्राणी को चाहिये कि वह हर तरह से प्रभु की शरण हो।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।

(भगवद्गीता ९. ३०, ३१)

"कोटि विप्रबध लागहिं जाहू। आये शरण तजौं नहिं ताहू।।"

(रामचरित० ५. ४४. १)

'तेउ मुनि शरण सामुहें आये। सकृत प्रणाम किये अपनाये।।'

(राम० मा० २ २२९. ३)

११. शरणागति की विविध विधा

शरण गएँ प्रभु ताहु न त्यागा।
विश्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा।।

(रामचरित मानस ५. ३९. ७)

शरणागति-प्रपत्ति सर्वशास्त्रों का सार है—

'सकृदेव प्रपन्नाय' (वाल्मीकि रामा०६. १८. ३३)
'तमेव शरणं गच्छ' (भगवद्गीता १८. ६२)

'**मामेकं शरणं व्रज**' (भगवद्‌गीता १८. ६६)
,**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**' (भगवद्‌गीता १५. ४)
'**मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये**' (श्वेताश्वतरो० ६. १८)

अपना लौकिक-पारलौकिक सभी भार अपने इष्टदेव के ऊपर छोड़कर, सभी देश में—सभी काल में—सभी परिस्थितियों में इष्टदेवता की प्रतिकूलता छोड़कर सदा अनुकूलता की भावना से 'इष्टदेव मेरी रक्षा करेंगे' ऐसे दृढ़ विश्वास के साथ इष्टदेव के जप-ध्यान और पूजा आदि में तत्परता ही '**शरणागति**' है—

यः पुमानखिलं भारमैहिकामुष्मिकात्मकम् ।
श्रीदेवतायां निक्षिप्य सदा तद्‌गतमानसः ॥७२॥
सर्वानुकूलः सर्वत्र प्रतिकूलविवर्जितः ।
अनन्यशरणो गौरीं दृढं सम्प्रार्थ्य रक्षणे ॥७३॥
रक्षिष्यतीति विश्वासस्तत्सेवैकप्रयोजनः ।
वरिवस्यातत्परः स्यात् सा एव शरणागतिः ॥७४॥
(ब्रह्माण्डपुराण उपसंहारपाद ललितोपाख्यान ४२)

श्रीभगवान् को ही अपना एकमात्र आश्रय, रक्षक समझकर स्वयं को सर्वथा अकिञ्चन समझकर दैन्यभाव की प्रार्थना यह 'शरणागति' का मूल मन्त्र है—

उपाये गृहरक्षित्रोः शब्दः शरणमित्ययम् ॥
वर्तते साम्प्रतं चैष उपायार्थैकवाचकः ।
अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः ॥
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः ।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥
(अहिर्बुध्न्यसंहिता श्रीपाञ्चरात्रे ३७।२९-३१)

शरणागति के छह प्रकार कहे गये हैं। (१) अनुकूलता का दृढ़ निर्णय, (२) प्रतिकूलता का वर्जन, (३) 'हमारे इष्टदेव सदा ही हमारी रक्षा करेंगे' ऐसा दृढ़ विश्वास (४) उसी दृढ़ विश्वास के साथ रक्षकत्वेन अपने इष्टदेव का वरण, (५) आत्मसमर्पण और (६) दैन्य अर्थात् अहंकृति का निराकरण—

(अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम् ।)
आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्‌विधा शरणागतिः ।
(ब्रह्माण्ड पुराण, उपसंहार०, ललितो० ४१. ७६, ७६३; श्रीपाञ्चरात्रे तंत्ररहस्ये अहिर्बुध्न्य० ३७ २८, २८३)

आत्म-समर्पण की दृढ़ता के लिये अन्य पाँच प्रकार कहे गये हैं। शरणागति से बढ़कर भक्ति-मुक्ति का और कोई साधन नहीं है—

अङ्गीकृत्यात्मनिक्षेपं पञ्चाङ्गानि समर्पयेत्।
न ह्यस्य सदृशं किञ्चिद्‌भुक्तिमुक्त्योस्तु साधनम्॥
(ब्रह्माण्ड० उपसं० ललितो० ४२. ७७)

शरणागति अधिकारी भेद से विभिन्न प्रकार की होता है। जीव प्रथम परोक्षरूप से ही प्रभु में विश्वास करके उन्हें रक्षक रूप से वरण करता है। भगवान् के प्रति उनकी श्रुति-स्मृति-रूप आज्ञा के अनुसार अपने आपको उनके अनुकूल बनाने का सङ्कल्प करना, प्रतिकूलता का वर्जन करना अर्थात् शास्त्रविरुद्ध देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के सब व्यापारों को छोड़कर शास्त्रानुसार ही देहादि के व्यापारों को बनाना, 'भगवान् अवश्य रक्षा करेंगे' इस प्रकार का विश्वास करना, प्रभु का रक्षकत्वेन वरण करना, प्रभु में ही आत्मसमर्पण करके तदधीन होकर दैन्यभाव से उनका चिन्तन करना—यह छः प्रकार की शरणागति है।

आत्म समर्पण में भी प्रथम भगवान् में आत्मा एवं आत्मीय देहादि का समर्पण होता है, परन्तु अन्त में जैसे घटाकाश अपने आपको उपाधि भङ्ग करके महाकाश में अर्पण करता है, उसी तरह सर्वोपाधिबाध करके उपहित प्रत्यक्-चैतन्य को अनन्त चैतन्य ब्रह्मस्वरूप में समर्पण करना ही मुख्य आत्म समर्पण है। विना ज्ञान के प्राणी देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि तक का समर्पण कर सकता है; परन्तु आत्मा का तो समर्पण तभी बन सकता है, जब प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म का बोध हो ?

साधन, अभ्यास और परिपाकावस्था के भेद से शरणागति तीन प्रकार की होती है। 'मैं प्रभु का हूँ' इस प्रकार की निष्ठा 'साधन शरणागति' है। 'प्रभु मेरे ही हैं, इस प्रकार की निष्ठा 'अभ्यास शरणागति' है। 'सर्वोपाधि सर्वपरिच्छेद प्रभु से भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं हैं, वही मैं हूँ, वही तुम हो, वही सब कुछ है' इस प्रकार की निष्ठा 'पाक शरणागति' है।

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः॥
(मधुसूदनी, गीता १८ ६६)

पहली शरणागति का उदाहरण है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥
(षट्पदी ३)

'नाथ ! मेरा और आपका वास्तव में भेद न होने पर भी मैं आपका हूँ

आप मेरे नहीं; क्योंकि समुद्र-तरङ्ग का अभेद होने पर भी समुद्र का तरङ्ग कहलाता है, तरङ्गका समुद्र नहीं कहलाता।'

दूसरी शरणागति का उदाहरण है—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ।।
(विल्वमङ्गल)

'प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान् हैं, मुझसे बलात् हाथ छुड़ाकर जा रहे हैं, यह कोई बड़ी बात नहीं, यदि आप मेरे हृदय से चले जाँय तो मैं आपका पौरुष मानूँ ?'

जैसे द्रवीभूत लाक्षा में निविष्ट रङ्ग उससे पृथक् नहीं हो सकता है, वैसे ही द्रवीभूत भक्त के चित्त में प्रविष्ट भगवान् चाहें तो भी निकलने में असमर्थ ही रहते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान् की अनन्त ब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठितप्राय रहती है।

चित्तद्रव्यं हि जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम् ।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते ।।
कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः ।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्ते कठिनन्तु तत् ।।
द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वाकारो यस्तु वस्तुना ।
संस्कारवासनाभावभावनाशब्दभागसौ ।।
शिथिलीभावमात्रन्तु मनो गच्छत्यतापकैः ।
न तत्र वस्तु विशति वासनात्वेन किञ्चन ।।
द्रवतायां प्रविष्टं सद्यत् काठिन्यदशां गतम् ।
चेतः पुनर्द्रुतौ सत्यामपि तन्नैव मुञ्चति ।।
(भक्ति रसायन १ ४-८)

"चित्त नामक द्रव्य स्वभाव से ही लाक्षा (लाह) की भाँति कठोर (ठोस) है; किन्तु तापक विषयों का संयोग होने पर वह द्रव अवस्था को प्राप्त हो जाता है।"

"काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि चित्तरूप-लाक्षा के तापक हैं। इनके शान्त होने पर वह फिर ज्यों-का-त्यों ठोस हो जाता है।"

द्रुत हुए चित में वस्तु द्वारा ढाला गया जो उसका अपना स्वरूप है; वही संस्कार, वासना, भाव अथवा भावना शब्द से कहा जाता है।"

"अतापकों (जिनसे पूर्णरूपेण चित्तद्रुति नहीं होती, ऐसे विषयों से)

तो मन केवल कुछ शिथिल मात्र होता है। उसमें वासना रूप से कोई भी वस्तु प्रवेश नहीं कर सकती।"

"जैसे लाक्षा आदि की द्रवावस्था में मिलाया हुआ रङ्ग पुनः लाक्षा के ठोस हो जाने पर भी ज्यों-का-त्यों मिला हुआ रहता है, उसी प्रकार चित्त के द्रवित होने पर वह जिस वस्तु में आसक्त हो जाता है, उसे फिर नहीं छोड़ता।"

इसी दृष्टि से भक्त कहता है—

हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥

भाव-प्रवण द्रवीभूत अन्तःकरण में भगवान् का आविर्भाव होता है। **'प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः'** (भागवत ११. २. ५५) प्रणयरूप रशना—स्नेह-रूप रज्जु से आबद्ध अपने चरणारविन्दों को छुड़ा लेने में स्वयं भगवान् भी समर्थ नहीं होते।

तीसरी शरणागति के उदाहरण हैं—

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' (भगवद्गीता ७. १९)

'कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्' (भागवत १०. ३०. १९)

'अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्' (भाग० १२. ५. ११)

'मधुरिपुरहमिति भावनशीला' (गीत गोविन्द ६ ४)

तत्त्वसाक्षात्कार के प्रथम तत्त्वसाक्षात्कार आदि की कुछ कामना भी रहती है। तत्त्वसाक्षात्कार होने पर तो अत्यन्त निष्काम भाव से ज्ञानी प्रभु में भक्ति करता है। बोध हो जाने पर तो भक्ति के लिये स्वमनीषाकल्पित द्वैत अद्वैत से भी अति सुन्दर हैं—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥

(बोधसारः, भक्तिरसायनम् ४२)

ज्ञानी परमार्थतः भगवान् को अपना अन्तरात्मा समझकर पुनः काल्पनिक भेद का अवलम्बन करके भगवान् को भजते हैं—

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्ति शताधिका ॥

(बोधसारः, भक्तिरसायनम् ४६)

जैसे चतुरा नायिका प्रियतम के साथ एकमेक होकर भी व्यवहार में अपने प्रियतम को चैलाञ्चल के व्यवधान (घूँघट पट की ओट) से ही देखती है, ठीक वैसे ही ज्ञानी यद्यपि अपने निरतिशय निरुपाधिक प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न भग-

वान् के साथ सर्वथा एकमेक ही रहते हैं, तथापि व्यवहार में भेद-भावना से ही अपने भगवान् की भक्ति करते है—

विश्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः ॥
(बोधसारः, भक्तिरसायनम् ४८)

अपने प्रियतम प्राणेश्वर के साथ किसी तरह का छिपाव या भेदभाव न रहने पर भी प्रेयसी प्रियतम को घूँघटपट के ओट से तिरछे नयनों से देखती है। श्रीजानकी जी ग्राम वधूटियों के पूछने पर अपने देवर लषनलाल का वर्णन करके, अपने प्राणेश्वर का संकेत में कितने मधुर-मनोहर-सुन्दर ढंग से वर्णन करती हैं। बस, वह कवि के अक्षरों से ही व्यक्त होता है—

बहुरि बदन-विधु अञ्चल ढाँकी।
पिय-तनु चितै भौंह करि बाँकी ॥
खञ्जन मञ्जु तिरीछे नयननि।
निज पिय कह्यो तिन्हिं सिय सैननि ॥
(रामचरित मानस २. ११७. ६)

तभी तो कहा है—

तवास्मीति भजत्येकस्त्वमेवास्मीति चापरः।
इति किञ्चिद्विशेषेऽपि परिणामः समो द्वयोः ॥
(बोधसार भक्तिरसायन २३)

"भक्त का तो भगवान् के प्रति 'मैं तेरा हूँ—तेरा सेवक हूँ' ऐसा भाव रहता है। इसके विपरीत ज्ञानी की सदा यह दृष्टि रहती है कि 'मैं तू ही हूँ'। इतना कुछ परस्पर भेद होने पर भी परिणाम दोनों का तुल्य ही है।"

अन्तर्बहिर्यदा देवं देवभक्तः प्रपश्यति।
दासोऽहं भावयन्नेव दाकारं विस्मरत्यसौ ॥
(बोधसारः, भक्तिरसायनम् २४)

"भगवान् के भक्त को 'दासोऽहं' अर्थात् मैं आपका दास हूँ, इस प्रकार भजन करते-करते भजन की परिपक्वावस्था आने के कारण जब अन्दर बाहर देव के ही अखण्ड दर्शन होने लगते हैं, तब वह अपने 'दासोऽहं' इस पूर्वाभ्यास में से 'दाकार' को भूलकर 'सोऽहं' कहने लगता है।"

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम ॥

❊ श्रीहरि: ❊

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

एकादश-पुष्प

१. भक्ति-रस-माधुरी

'त्वम्' पद लक्ष्यार्थ आत्मा है। वह परमानन्दरूप है। वही सन्निहित-सर्वान्तरङ्ग है। अवेद्य होते हुए अपरोक्ष है, अर्थात् घट-पटादि विषयों के समान प्रत्यक्ष नहीं और स्वर्गादि के समान परोक्ष नहीं, अपितु स्वप्रकाश है। सर्वान्तरङ्ग स्वप्रकाश आत्मा की परमानन्दरूपता तो स्वाभाविक है। परमात्मा भी इससे अभिन्न होने के कारण ही अपरोक्ष और परमानन्दरूप है। प्रत्यगात्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन शरीर का साक्षी है। इसलिए वह त्रिपुरा है, सौन्दर्य-सार-सर्वस्व है और शिव-भोग्य[४६] है। यही कारण है कि व्यवहार दशा में जीव को भगवद्भोग्य माना गया है। इधर श्रीकृष्ण परमानन्द रसामृत सिन्धु और राधा-रानी माधुर्य-सार-सर्वस्व की स्वामिनी हैं।

पूर्णानुराग-रस सार-सरोवर है। उससे समुद्भूत सरोज (अभिव्यक्त कमल) श्रीवृन्दावन धाम है। उसमें संलग्न किञ्जल्क व्रजाङ्गनावृन्द हैं। पराग श्रीकृष्ण हैं और मकरन्द हैं, श्रीवृषभानुनन्दिनी। इस तरह, परम अन्तरङ्ग राधा-रानी वृषभानुनन्दिनी का श्रीकृष्ण-भोग्य होना उपयुक्त ही है।

श्रीकृष्ण आत्माराम हैं और श्रीराधिका हैं आत्मा। आत्माराम की आत्मा में रति (रमण) स्वाभाविक है। राधा की रश्मिरूपा हैं उनकी सखियाँ; अत: वे भी राधारूप ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण नित्य, निरतिशय, निरवद्य, दिव्य कल्याण गुणगणनिलय हैं। ऐसे उनमें (श्रीकृष्ण में) प्रेम का अल्पत्व, राहित्य और

---

४६ व्यष्टि विश्व, तैजस और प्राज्ञ भोग्य तथा समष्टि वैश्वानर (विराट्), हिरण्य-गर्भ और ईश्वर भोक्ता मान्य होने से 'त्वं' पदार्थ भोग्य और तत्पदार्थ भोक्ता माना जाता है।

अनन्यता का अभाव कल्पित करना दुःसाहस है। जीवों की असाधारण विशेषता है भगवान् के अधीन गति-प्रवृत्ति युक्त होना। भगवान् की असाधारण विशेषता है, सर्वव्यापक, सर्वाश्रय, सर्वसत्ता-स्फूर्तिप्रद होना।

यह तथ्य प्रसिद्ध है कि रूप और चक्षु दोनों की प्रकृति (उपादान) है तेज। व्यवहार दशा में रूप विषय (ग्राह्य) है और चक्षु विषयी(ग्राहक)। वस्तुतः कारण दशा में रूप और नेत्र का भेद नहीं, दोनों तेजोमात्र हैं। स्वप्रकाश वस्तु विषय-विषयो भाव शून्य होतो है, प्रकाशमात्र होती है।

इसी प्रकार व्यवहारदशा में सौन्दर्य और विषयी-सौन्दर्य-ज्ञान-जनित वृत्ति–विशेषरूप प्रेम इन दोनों में भेद है। मूलदशा में विषय-सौन्दर्य और प्रेम दोनों एक ही हैं। आत्मा ही निरतिशय परमानन्दरूप है। वही परमसुन्दर है। इसलिये परम प्रेमरूप भी वही है। परमानन्दरूप होने के कारण आत्मा को सौन्दर्यमय होना उपयुक्त ही है। प्रकाशस्वरूप (साक्षादपरोक्ष) होने से उसका पर प्रेमास्पद होना, सौन्दर्य ज्ञानरूप से स्फुटित होना और प्रेमरूप होना भी उपयुक्त ही है। वह जड़ता के अत्यन्ताभाव का अधिकरण है।

अभिप्राय यह है कि सर्वोपप्लव विरहित–द्वैत-संसर्ग-विमुक्त आत्मा पर प्रेमास्पद है। इसलिये परमानन्दस्वरूप हैं। सौन्दर्य-सार-सर्वस्व वृषभानुनन्दिनी के रूप में अभिव्यक्त है। सौन्दर्य-ज्ञान अथवा सौन्दर्य प्रेम श्रीकृष्ण के रूप में अभिव्यक्त है। मूलतः दोनों में ऐक्य ही है। यदि जीवों को अनात्मा माना जाय तो भगवान् का उनमें वैसा प्रेम नहीं हो सकता, परन्तु जब वे भगवान् के आत्मा ही हैं, यह सिद्ध हो जाता है तब तो उनका (जीवों का) भगवान् का प्रेमास्पद होना भी सिद्ध हो जाता है। इसी से श्रुतियों में दोनों का दोनों से अभिन्न कहकर वर्णन किया गया है—

'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' (ऐतरेय) मैं तुम हूँ, तुम मैं हूँ।'

रसिकवृन्द भगवान् को द्वारकानाथ, मथुरानाथ, व्रजेन्द्रनन्दन, वृन्दावन-चन्द्र आदि सर्वेश्वर सर्वपालक भक्तेच्छापूरक आदिरूप से मानते हुए भी निकुञ्ज-मन्दिराधीश्वर श्रीकृष्णरूप से उन्हें एकमात्र राधानिष्ठ मानते हैं। भगवान् सर्वज्ञ, सर्वपालक, सर्वेश्वर आदिरूप से अन्यनिष्ठ होते हुए भी स्वेष्ट, पर–प्रेमास्पद आदिरूप से सर्वथा अनन्य एकमात्र राधानिष्ठ हैं। ऐसा उपयुक्त ही है।

'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे'(भागवत ३.९.११)इस वचन के अनुसार भगवान् भक्तेच्छानुविधायी अर्थात् भक्त लोग जैसा चाहते हैं, वैसारूप धारण करनेवाले सिद्ध होते हैं। इस तरह राधानिकुञ्ज-मन्दिराधीश्वर श्रीकृष्ण जैसे राधानिष्ठ हैं, वैसे ही भक्त-हृदय-निकुञ्ज मन्दिराधीश्वर श्रीकृष्ण भी भक्तनिष्ठ हैं। जो भक्त भगवान् के प्रति अनन्य रसिक होते हैं, भगवान् भी उनके

प्रति अनन्य रसिक होते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (भगवद्-गीता ४. ११) अर्जुन के प्रति भगवान् का यह कथन यहाँ चरितार्थ होता है। इसी से दुर्वासा के प्रति भगवान् का यह वचन सङ्गत होता है कि साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओं का हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और किसी को नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता—'

> साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
> मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥ (भागवत ९. ४. ६८)

भक्तों के हृदय में विराजमान प्रभु अपनी सर्वज्ञता को भी संकुचित कर देते हैं। भगवान् प्रेम के विषय ही नहीं, अपितु आश्रय भी हैं, अर्थात् प्रेमपात्र ही नहीं, प्रेमकर्त्ता भी हैं। वस्तु स्थिति तो यह है कि जीवों में ज्ञानैश्वर्यादि सीमित होते हैं, जब कि भगवान् में असीम, उनके समान या उनसे बढ़कर ज्ञानैश्वर्यादि किसी में होते ही नहीं, ठीक वैसे ही प्रेम भी प्रभु में ही असीम होता है, अन्यों में नहीं। एक ही श्रीकृष्ण में सभी व्रज सीमन्तियों (गोपियों) की अनन्य प्रेमनिष्ठा है।

जीव अनेक हैं और ईश्वर एक। ऐसी स्थिति में सभी के प्रति भगवान् का प्रेम भाव उदित ही है। किसी एक के ही अनन्य भक्त होकर ईश्वर अन्यों की उपेक्षा कर दें, स्वयं की सर्वज्ञता की तिलाञ्जलि दे दें, ऐसा हो भी कैसे ? भक्तों में अपने प्रति रसिकता और अनन्यता की पराकाष्ठा देखकर और अपने को केवल रसिक जानकर भगवान् को स्वयं में न्यूनता का दर्शन होता है। **'तांस्तथैव भजाम्यहम्'**अनन्य भक्तोंके प्रति अपनी इस प्रतिज्ञाकी पूर्ति न देखकर भगवान्को इस न्यूनताका वारण कर भक्तोंके अनन्य रसिक बननेके लिये दिव्य बानक बनानी पड़ती है। तभी तो इस न्यूनताको दूर करनेके लिए भगवान् रास-लीलामें अनेक हो जाते हैं। भक्तोंके हृदयमें विद्यमान स्थायि भावरूप और रसरूप होनेके कारण ऐसा होना युक्तियुक्त है। एक-एक गोपीके प्रति एक-एक श्रीकृष्णकी अभिव्यक्ति **अङ्गना-मङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवञ्चान्तरेणाङ्गनाः'** (कृष्णकर्णामृत २. ३५) के अनुसार सर्वथा समीचीन (उपयुक्त) है। 'जितने भक्त जितनी भक्ति, उतने भग-वान्' यह भेद तो हम मानते ही हैं। यही कारण है कि बहुत से लोग भगवान् के विविधरूपों की पूजा करते हैं। प्रत्येक भक्त की यह भावना होती है कि 'मेरे भग-वान् को भूख-प्यास लगी होगी ' भोग-राग निवेदित करने में त्वरा करनी चाहिए नहीं तो भगवान् भूखे-प्यासे रह जायेंगे, इसी भावना से उनमें व्यग्रता देखी जाती है। वे ऐसा नहीं सोचते कि 'इन्द्र यम, वरूण, ब्रह्मादि देवशिरोमणि भगवान् को दिव्यातिदिव्य भोज्य, प्रेमादि समर्पित करते ही हैं। क्या हुआ यदि आज हम भोग न लगावें तो ?

यह प्रसिद्ध ही है कि किसीने कर्मा बाई (करमैती बाई) को स्नान करके ही खिचड़ी बनाकर भगवान् को भोग लगाने का उपदेश कर दिया ! स्नान

के पचड़े में खिचड़ी बनाने में देर हो गयी। भगवान् ने उससे कहा—'आज तो मुझे बहुत भूख लग गयी', यह भी प्रसिद्धि है कि भक्तों के (जैसे सूरदास के) वात्सल्य भाव की रक्षा करने के लिये सर्वशक्तिमान् होने पर भी भगवान् बानर को देखकर डर गये। इसी अभिप्राय से भगवान् की **'मदन्यत्तेन जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि'** मैं अपने भक्तों के अतिरिक्त दूसरे को बिल्कुल नहीं जानता, वे भी मेरे अतिरिक्त दूसरे को बिल्कुल नहीं जानते **'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।'** परमानन्द सिन्धु भगवान् अपनी माधुर्यसार सर्वस्व राधा के प्रति सर्वथा अनन्य हो जाते हैं, यथा —

दूरे सृष्टयादि वार्ता न कलयति मनाङ्नारदादीन् स्वभक्तान्
श्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेहवृद्धि स्वपित्रोः।
किन्तु प्रेमैकसीमां परमरससुधासिन्धुसारैरगाधां।
श्रीराधामेव जानन् मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते ॥

(राधासुधानिधि २३५)

"सृष्टि आदि का व्यापार कहीं छूट गया। नारदादि भक्तों का तनिक स्मरण भी नहीं। श्रीदामादि सुहृदों से कभी मिलते ही नहीं। माता-पिता का स्नेह-वर्द्धन भी करते नहीं। बस ! वे तो श्री राधा को ही जानते हैं। भला क्यों न हो ? वे प्रेम की परा सीमा हैं। उनका परमरस सुधा सिन्धु अगाध है जब देखो तब न दिन देखें न रात, मधुपति श्रीकृष्ण कुञ्जगली की ही उपासना कर रहे हैं।"

वस्तुस्थिति अत्यन्त स्पष्ट है कि साक्षान्मनमथमन्मथ हैं भगवान् श्रीकृष्ण, जब कि उनकी भी मोहिनी हैं श्रीराधा। किसी-किसी का मत यह भी है कि गोपाङ्गनाएँ परम स्वकीया हैं। फिर भी प्रकट लीला में रस विशेष के अनुभव के लिए परकीया-सी परिलक्षित होती हैं। जहाँ निषेध-विशेष और परस्पर-दुर्लभता हो वहाँ आसक्ति विशेष तो प्रसिद्ध ही है। प्राकृत नायक के साथ परकीयासम्बन्ध गर्हित (निन्दित धर्म-विरुद्ध) होने से दूषण (निषिद्ध) है, जब कि भगवान् के साथ भूषण। भरत ने निषेध, गुप्त-अभिलाष और दुर्लभता को मन्मथ का परम निवास स्थान माना है —

बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वञ्च।
या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः॥

(उज्ज्वलनीलमणि नायकभेद १७)

रुद्र ने निषेधविशेष और सुदुर्लभता को पञ्चबाण (कामदेव) का परम आयुधमाना है—

वामता दुर्लभत्वञ्च स्त्रीणां या च निवारणा।
तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम् ॥

(उज्ज्वलनीलमणि, हरिप्रियाणः १६)

विष्णु गुप्त ने इन्हीं को नागर-हृदय का समाकर्षक केन्द्र-विन्दु माना है—

यत्र निषेधविशेषः सुदुर्लभत्वञ्च यन्मृगाक्षीणाम् ।
तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्यते हृदयम् ।।
(उज्ज्वलनीलमणि हरिप्रिया २०)

परकीया—प्रसङ्ग में पर सङ्ग रसायनास्वाद में प्रतिक्षण नूतनताकी अनुभूति होती है । यथा—

कोऽयं कृष्ण इति व्युदस्यति धृतिं यस्तन्वि कर्णं विशन्
रागान्धे किमिदं सदैव भवती तस्योरसि क्रीडति ।
हास्यं माकुरू मोहिते त्वमधुना न्यस्तास्य हस्ते मया
सत्यं सत्यमसौ दृगङ्गनमगादद्यैव विद्युन्निभः ।।
(उज्ज्वल० स्थायि १३६)

श्रीराधा—सखि ! यह कृष्ण कौन है ? जिसका नाम कर्ण कुहर में में प्रविष्ट होते हो (कान में पड़ते ही) घृति का लोप हो जाता है ।

सखी—अरी रागान्धे ! तू यह क्या कह रही है ? सदा उसीके वक्षः-स्थल पर क्रीड़ा करती रहती है ।

श्रीराधा—अरी मुग्धे ! मुझसे हास्य-विनोद क्यों कर रही है ?

सखी—अरी वीर ! अभी-अभी तो मैंने तुझे उसके हाथों में समर्पित किया था ।

श्रीराधा—सच है, सच है सखी ! आज ही पहले-पहल विद्युत-रेखा के समान चमक कर मेरी आँखों के आङ्गन में एक बार झलक गया था ।

२—प्रणय-प्रकर्ष—

जैसे अपक्व आम्र फल पक्व आम्रफल का कारण है, वैसे ही अपक्व भक्ति पक्व भक्ति का कारण है । भगवान् रसात्मक हैं । विश्व के मूल (उपादान) हैं । इसलिये सबमें अनुस्यूत हैं ठीक वैसे ही जैसे कटक,मकुट,कुण्डलादि में सुवर्ण । रसस्वरूप भगवत्तत्त्व ही विविध कार्य-कारण परम्परा लाभ करता हुआ महा-भावादिरूप से अभिव्यक्त होता है । प्रेम-स्नेहादिशब्दों (नामों) के द्वारा भी उसी का व्यवहार होता है । अतिशय चित्तद्रव की उपाधि से 'प्रेम' नामक रस 'स्नेह' कहा जाता है । वही स्नेह अतिशय प्रियत्व के अभिमान से कुछ वक्र-सी भाव-वैचित्री धारण करके प्रणय कहा जाता है । उसी में जब वामता-विशेष का उदय होता है तब 'मान' कहलाता है । कोई-कोई ऐसा भी मानते हैं कि मान ही विचित्र भावापन्न होकर 'प्रणय' होता है । **'प्रकर्षेण सामीप्यं नयतीति प्रणयः'**

प्रणय अर्थात् जो आदर के साथ प्रिय के पास पहुँचाये। इससे प्रेमी स्वयं को प्रियतम का अतिशय सामीप्य अनुभव करता है। **'अतिशय आस्थारूप (विश्रम्भात्मक) प्रेम ही 'प्रणय' है। ऐसा शिष्टों का कथन है।** जितना-जितना आन्तर-सामीप्य व्यक्त होता है उतना-उतना विश्रम्भ विश्वास) बढ़ता जाता है। आन्तर सामीप्य दशा में अभिव्यक्त अभिलाषा विविध विघ्न-बाधा-आघातों से भी आहत नहीं हो सकती। अतिशय अभिलाष को स्नेह कहते हैं। अभिलाषातिशयात्मक स्नेह ही राग हो जाता है। इसी से रागास्पद प्रियतम में क्षण-क्षण अभिनव माधुर्यातिशय का अनुभव होता है। यही नव नवोन्मेषशाली होकर राग से अनुराग हो जाता है। रसिकों ने प्रेम को शुद्ध सत्त्व विशेष माना है। यह सूर्यांशु (सूर्य किरण) तुल्य है। अपनी रुचि-रश्मियों से चित्त को कोमल बनाता है। रस-शास्त्र में इसे 'भाव' कहा गया है। प्रणयोत्कर्ष से जब दुःख भी सुखरूप से व्यक्त होने लगता है, तब यही 'राग' कहा जाता है।[४७]

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेम सूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

(भक्ति रसामृत सिन्धु ३. १)

दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वे नैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥

(उज्ज्वल नीलमणि स्थायि० ११५)

सूर्यकांत पर्वत मध्याह्न सूर्य से अतिशय 'उष्ण' होकर भीषण ज्वाला-माला-कुलित अग्नि का उद्वमन कर रहा हो तो भी श्रीराधारानी उसके शिखर पर चढ़कर श्रीकृष्ण का दर्शन करके परमानन्द का अनुभव करती हैं। यह स्नेह (प्रेम) घृत और मधु भेद से दो प्रकार का माना गया है। (उज्ज्वल नीलमणि स्थायि भाव ७९)। उदाहरणार्थ घृत-स्नेह वह है जो निसर्ग शीतल और गाढ़ गौरव (आदर) मय है। जैसे केवल घृत भी स्वादु होता है, पर शर्करादि मिश्रित होकर स्वादोद्रिक्त हो जाता है, वैसे ही घृतस्नेह भी स्वादु होता है, पर मदरूप औष्ण्य को प्राप्तकर कदाचित् मधु-स्नेहवत् परिलक्षित होता है। **'नायकस्य ललनायामादरः स्वभावशीतलतयैव युक्तं' ननु ललनावन्मानादावुष्णतांशधरो पीति भरतादिमतत्वात्'** नायक का ललना में स्वाभाविक आदर होता है, इसी अभिप्राय से इस स्नेह को घृतवत् निसर्ग-शीतल माना गया है—

४७.　　स्याद्दृढ़ेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यान्स्नेहः क्रमादयम्।
　　स्यान्मानः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि॥

अतः प्रेमविलासाः स्युर्भावाः स्नेहादयस्तुषट्प्रायो व्यवह्रियन्तेऽमी प्रेमशब्देन सूरिभिः (उज्ज्वल नीलमणिः, स्थायिभाव ५३, ५५)। भावो महाभावः।

आत्यन्तिकादरमयः स्नेहो घृतमितीर्यते ।
भावान्तरान्वितो गच्छन् स्वादोद्रेकं न तु स्वयम् ।।
घनीभवेन्निसर्गातिशीतलान्मिथ आदरात् ।
गाढ़ादरमयस्तेन स्नेहः स्याद्घृतवद् घृतम् ।।

(उज्ज्वल नीलमणि स्थायि भा० ७९-८१)

मधु-स्नेह प्रियतम के प्रति अतिशय मदीयता का भाव है। उसका माधुर्य स्वयं प्रकट होता है और वह नाना रसों का समाहाररूप है। उसमें मत्तता की ऊष्मा है। मधु के समान होने से 'मधु स्नेह' नाम है—

मदीयत्वातिशयभाक् प्रिये स्नेहो भवेन्मधु ।।
स्वयं प्रकटमाधुर्यो नानारससमाहृतिः ।
मत्ततोष्मधरः स्नेहो मधुसाम्यान्मधूच्यते ।।

(उज्ज्वल नीलमणिस्या० भा० प्र० ८४, ८५)

जिस भाव से अन्तःकरण अत्यन्त स्निग्ध और कोमल हो जाता है, अतिशय ममता की छाप लग जाती है, वही सान्द्र (घनीभूत-गाढ़) होकर 'प्रेम' संज्ञक हो जाता है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ।।

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व, प्रेमाभक्ति चतुर्थलहरी १)

प्रेयसी—प्रियतम का जो भावबन्धन उसके टूटने का कारण समुपस्थित होने पर भी जो किञ्चित् नहीं टूटता उसे 'प्रेम' कहते हैं।

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे ।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः ।।

(उज्ज्वल नीलमणि स्थायिभाव ५७)

चिद्दीप के समान प्रदीप्त प्रेम अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर हृदय को द्रवित कर देता है, इस द्रव को ही "स्नेह" कहते हैं'—

आरुह्य परमां काष्ठां प्रेमा चिद्दीपदीपनः ।
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते ।।

(उज्ज्वल नीलमणिस्था. भा ७०, ७०½)

जब हृदय में अनुभाव संज्ञक भावांकुर का उदय होता है, तब ये सब लक्षण प्रकट होते हैं-—अपराधी को क्षमा कर देना, समय व्यर्थ न खोना, प्रियतम के अतिरिक्त से वैराग्य होना, मान न होना, भगवान् मिलेंगे, इस आशा का दृढ़ होना, मिलन की उत्कण्ठा होना, नाम गान में सदा रुचि, हृदयेश प्रभु के गुणगान में आसक्ति और उनके धाम में प्रीति होना इत्यादि—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः ।।
आसक्तिस्तद् गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले ।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरे जने ।।
(भक्तिरसामृत सिन्धु पूर्व. ३. २५. २६)

प्रेम उदय होने का यह क्रम है—श्रद्धा, साधु-सङ्ग, भजन-क्रिया, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव, महाभाव-अथवा प्रेम—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ।।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ।।
(भक्ति रसामृत सिन्धु पूर्ण ३. १५, १६)

जैसे गन्ने के पाकभेद से ही गुड़ादि होते हैं, वैसे ही प्रेम के अवस्था भेद से ही स्नेह, रागादि होते हैं । ऐसा ही महानुभावों ने कहा है—

बीजमिक्षुः स च रसः स गुडः खण्ड एव सः ।
स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात्सितोपला ।।[४८]
(उज्ज्वल नीलमणि स्था० भा० ५४)

जैसे–बीज, इक्षु, रस, गुड, खण्ड, शर्करा, सिता (मिश्री) ओला इन सब रूपों में एक ही गन्ना अवस्थाभेद–उत्कर्षतारतम्य से नामभेद को प्राप्त होता है, वैसे ही प्रेम की विविध अवस्थाएँ होती हैं । रस की तरह स्नेह को, गुड़ की तरह मान को, खाँड़ की तरह प्रणय को, शर्करा की तरह राग को, मिश्री की तरह अनुराग को और ओला की तरह महाभाव को समझना चाहिये ।

रति साधारणी- समञ्जसा और समर्था-तीन प्रकार की होती है । साधारणी रति (स्यामन्तक) मणि वत् दुर्लभ (नातिसुलभ), समञ्जसा रति चिन्तामणि के तुल्य अति दुर्लभ (सुदुर्लभ) और समर्थारति-कौस्तुभ मणि के तुल्य अनन्य लभ्य होती है, जैसे कौस्तुभ मणि केवल विष्णु के पास होती है, वैसे ही समर्था रति केवल गोपाङ्गनाओं में होती है, साधारणी रति कुब्जा–देवाङ्गना विदभङ्गिनाओं में मान्य है । समञ्जसा रति द्वारकास्थ पट्टमहिषियों में मान्य है ।

रतिः स्वभावजैव स्यात्प्रायो गोकुलसुभ्रुवाम् ।
साधारणी निगदिता समञ्जसासौसमर्था च ।

---

४८. रस इव स्नेहः गुण्डइव मानः, खण्ड इव प्रणयः शर्करेव रागः । सितासित शर्करेवानुरागः सितोपलेव महाभावः । शर्करा चिनीति ख्याता ! सित शर्करा मिश्रीति ख्याता । सितोपला ओला इत्याख्याता ।

कुब्जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमतः ॥
मणिवच्चिन्तामणिवत्कौस्तुभमणिवत्त्रिधाभिमता ।
नातिसुलभेयमभितः सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या च ॥
(उज्ज्वल नीलमणि स्था० भा० ३७,३८)

सम्भोगेच्छामूलक साधारणी रति है। स्वद्वारा प्रियजन इन्द्रिय-तर्पण-सुखभावना की प्रधानता होते हुए भी प्रियजन द्वारा स्वेन्द्रिय-तर्पण से सुख लाभ की भावना से समुच्चित रति 'समज्जसा' कही जाती है। स्वसुख सुखित्व और तत्सुख-सुखित्व दोनों का इस में मेलन होता है। प्रिय की अनुकूलता के अभिप्राय से चेष्टा 'प्रीति' है।प्रिय के सुख में आत्म सुख की भावना 'प्रीति' है। इससे कैतव (कपट) शून्य प्रेम का माहात्म्य है। इसकी शून्यता से ही स्वसुखोपभोग पर्यवसायी कुब्जा की रति का अपकर्ष है। द्वारका की पट्टरानियों की रति में भी तत्सुख सुखित्व भाव की जितनी न्यूनता है, उतनी ही रति की न्यूनता है। यथा—

पत्नीभावाभिमानात्मागुणादिश्रवणादिजा ।
क्वचिद्भेदितसंभोगतृष्णा सान्द्रा समञ्जसाः ॥
उज्ज्वल नीलमणि स्था० ४२)

श्रीमद्भागवत में यह स्पष्ट आता है कि द्वारका की पट्टरानियाँ श्रीकृष्ण को मोह नहीं पाती थीं —

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः ॥
(भागवत १०. ६१. ४)

ब्रह्मविद्वरिष्ठ श्रीकृष्ण को भी गोपाङ्गनाएँ तत्सुखसुखीभावरूप अतिशय प्रेम से मोह लेने में समर्थ होतीं। श्रीकृष्ण ने स्वयं ही भक्तप्रवर उद्धव से कहा है कि वे प्रीति की अधिकता से सब कुछ भूल जाती थीं और अपना-नामरूप तक खो बैठती थीं। ठीक वैसे ही जैसे समाधिस्थ मुनि अथवा समुद्र प्रविष्ट नदी—

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वामात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नाम रूपे ॥
(भागवत ११. १२. १२)

प्रिय की सन्निधि में रहते समय भी प्रेम के स्वाभाविक उत्कर्ष से जो वियोगस्फूर्ति होकर व्यथा होती है, उसे 'प्रेम-वैचित्य' कहते हैं—

प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तत्प्रेमवैचित्त्यमुच्यते ॥
(उज्ज्वल नीलमणि शृङ्गार भेद १३४)

जब बुद्धि पूर्णानुराग–रसास्वादन में निमग्न हो जाती है, तब अङ्का-लिङ्गन शाली प्रियतम भगवान् की भी स्फूर्ति नहीं होती और आर्तिजन्य विवशता प्रकट हो जाती है, ठीक वैसे ही जैसे नेत्र का सहकारी होता हुआ भी तेज, प्रखर होने पर दर्शनशक्ति को मूर्च्छित कर देता है। महानुभावों ने ऐसा ही कहा है –

अङ्कालिङ्गनशालिनीप्रियतमे हा प्रेष्ठ हा मोहने-
त्याक्रोशन्त्यतिकातरातिमधुरं श्यामानुरागोज्ज्वला।
व्यामोहादतिविह्वलं निजजनं कुर्वन्त्यकस्मादहो
काचित् कुञ्जविहारिणी विजयते श्यामामणिर्मोहिनी ॥
(भक्तिरसार्णव पृ० १८३)

विरह में प्रियतम की स्फूर्ति होने पर उनके आलिङ्गन के लिये प्रवृत्ति हो और वे न मिलें तो विरह-व्यथा का समुद्र प्रेमी को और भी अधिक अपने अन्दर निमग्न कर लेता है। महानुभाव परमाचार्यों ने इस तथ्य का इस प्रकार चित्रण किया है—

स्वेनैव संवेद्य दशामवाप्य यः स्वाश्रयाणां वृणुते प्रभावात्।
दिव्यप्रकाशोह्यनुराग एव प्रोक्तो महाभावतया रसज्ञैः ॥
(भक्तिरसार्णव ६. १८४)

परम श्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र को सुख पहुँचाते समय भी 'उनको कहीं पीड़ा न पहुँच जाय' इस आशंका से पलकों के गिरने में भी जब असहिष्णुता हो तब 'रूढ़ महाभाव' माना जाता है। यह दिव्य प्रकाशात्मक अनुराग की ही परिपक्वा-वस्था मान्य है। इस दशा में प्रियतम को लेश मात्र सुख पहुँचाने से भी ऐसा अनन्य सुख होता है, जिसके लेशमात्र से भी कोटि–कोटि ब्रह्माण्डगत सुखों की तुलना नहीं की जा सकती। साथ ही अपने प्रियतम को तनिक-सी पीड़ा की आशङ्का से वैसे ही अपार दुःख की प्राप्ति होती है, जिसके लेशमात्र से भी कोटि-कोटि ब्रह्मांडगत समस्त वृश्चिकादि के दंश से सम्भावित दुःखों की तुलना नहीं की जा सकती। संयोग और वियोगभेद से रूढ़ महाभाव (अधिरूढ़) भी दो प्रकार का होता है– मोदन और मादन। मोदन को ही मादन कहते हैं। मादन विशेष प्रकार के दिव्य मधु के समान मत्तताकारक है।

एक गोपी कहती है—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद् गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि।

अप्राप्तेऽस्मिन्यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु ।।
(उज्ज्वल नीलमणि स्था० भा० १७०)

"यदि प्रियतम मुकुन्द व्रज में आ जाँय तो हमें महान् आनन्द मिलेगा, पर उद्धव ! उनके यहाँ आने से यदि उनकी तनिक भी क्षति होती हो तो वे कभी न आवें ? यद्यपि मथुरा से उनके यहाँ न आने पर हमें बड़ी वेदना होगी तथापि वहाँ रहने से यदि उनके हृदय में सुख होगा तो वे वहीं निवास करें ?"

इस प्रकार श्रीराधा में तत्सुख-सुखित्व की पराकाष्ठा है। वे प्रियतम के वियोग में मर जाने पर भी अपने देहस्थित पंचभूतों से उनकी सेवा सध सके, उनका संग मिल सके, यह अभिलाषा करती हैं—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ।।
(पद्यावली, उ० नी० म० स्था० भा० १७३)

"यह शरीर मर जाय, इसके पंचभूत अपने-अपने कारण में, मिल जायँ, फिर भी मैं विधाता को सिर से प्रणाम करके यही वर माँगती हूँ कि इस देह का जल उसकी बावली में, ज्योति दर्पण में, आकाश उसके प्राङ्गण के आकाश में, पृथिवी उसके पथ की पृथिवी में और हवा उसके पंखे में जा मिले।"

स्मरण-दशा में श्याम-प्रीति विषम है, वेदनामयी है। विस्मरण-दशा में प्राण फटने लगते हैं। ऐसी दशा में सखियो ! 'प्रीति कोई सुन्दर वस्तु है', ऐसा कौन कहता है ? मनुष्य हँसते-हँसते, मोद मोद में, फूले-फूले प्रीति करता है और रो-रोकर जीवन बिताता है। जो कुल-मर्यादा की रक्षा करती हुई प्रीति करती है, वह तो बिलख-बिलख कर ही भूसी की आग में जलती-मरती रहती है। राधा तो ऐसी भावना करती है—'हे प्यारे ! जीवन में, मरण में, जन्म-जन्मान्तरों में तुम्हीं मेरे प्राणनाथ होना ! मेरे प्राण तुम्हारे चरणों में प्रेम-बन्धन में बँधे हुए हैं। तेरे प्रति ही मेरा सर्वस्व समर्पित है। त्रिभुवन में तुम्हारे सिवा मेरा और कोई नहीं है। तुम्हारे शीतल चरण-कमल-युगल ही मेरा सर्वस्व है। तुम्हीं मेरे कुल, शील, मर्यादा की अधिपति हो। तेरे सम्बन्ध से कलङ्क भी मेरे लिए भूषण ही है। मैं सती हूँ या असती मेरे नाथ ! तुम यह सब जानते ही हो ! मेरा पुण्य-अपुण्य जो कुछ भी है सब तुम्हीं के प्रति अर्पित है।"

राधा प्रतिक्षण रङ्क को प्राप्त चिन्तामणि की तरह मोहन को ही निहारती है। छाया की भाँति उनका अनुगमन करती है। प्रिय भी प्रेमवश होकर

उस प्रिया-प्रेयसी का ही अनुसरण करते हैं। कभी-कभी तो राधा का मन सन्तप्त हो जाता है। "हाय ! हाय ! मैं यमुना तट पर क्यों गयी ? कृष्ण ने छल से मेरा मन छीन लिया। उसके सौन्दर्यसिन्धु में दोनों नेत्र डूब गये। उसके यौवन बन में मेरा मन विलीन हो गया—खो गया। घर जाने का रास्ता लम्बा हो गया। हृदय फट रहा है। ललाट-पटल पर संलग्न चन्दन-चर्चित मृगमद ने मेरे नेत्र की पुतलियों को कैद कर रखा है। पीतवसन, सुशोभित दिव्यवपु की लोकोत्तर चमत्कृति से वनमाली ने जाति, कुल, शील सब लूट लिया है।

श्रीराधारानी की मानमुद्रा का अवलोकन कर उसके माधुर्य पर मोहित कोई भाग्यशालिनी सखी कहती है—'सखि ! सचमुच तुम में ही मान सोहता है। तुम तब तक मानवती ही रहो जब तक मैं माधव को लाती हूँ। दूसरों के स्मित (मुस्कान) और हास (हँसी) आदि मिलित मुख भी उतना नहीं सोहता, जितना मान-मुद्रा से अङ्कित रोषपूर्ण-वक्र-भृकुटि आदि से मिलित तुम्हारा मुख। जी चाहता है, तुम्हारी इस अद्भुत शोभा पर पूर्ण चन्द्रबिम्ब को भी निछावर करके फेंक दूँ।' स्वयं सखी ही मानिनी के मुख-मुद्रा-माधुर्य से मोहित हो जाती है, उसके रसास्वादन में विभोर हो जाती है। न जा पाती है, न रह पाती है। जैसे मन हिंडोला झूल रहा हो, वैसे मन से सोचती है 'ऐसी मानमयी सुन्दर झाँकी कभी मिलेगी या नहीं ? मैं तो इसका स्वाद ले लूँ। अथवा नन्दनन्दन को लाकर दिखाऊँ। क्या करूँ ? जाऊँ या यहीं रहूँ ?'

सखि हे चरतु यथेष्टं वामोवा दक्षिणोवास्तु।
श्वास इव प्रेयान् मे गतागतै र्जीवयत्येव॥
(भक्तिरसार्णव, पृ० १८५)

"हे सखि ! मेरा प्रियतम मेरे श्वास के समान है, चाहे जैसे चले, बाँये (प्रतिकूल) रहे या दाँये (अनुकूल), वह बाहर जाय या भीतर आये, प्रत्येक दशा में जीवन दान ही करता है।"

प्रियतम ने पत्र भेजा है। पर क्या ही आश्चर्य है, प्रेम का यह विचित्र विलास ? बेचारी विरहिणी अपने प्राण प्यारे के द्वारा प्रेषित पत्र भी नहीं पढ़ सकती। उत्सुकता हृदय को मथ रही है, पर पढ़े तो पढ़े कैसे ?

नयनं सजलं नित्यं पत्रञ्चापि सुकोमलम्।
विरहाग्निजसंतापा संतप्ताङ्गुलयस्तथा॥
दर्शने क्लिद्यते पत्रे स्पर्शनेन तु दह्यते।
किं करोमि क्व गच्छामि दुःखञ्चोभयतः स्थितम्॥
(भक्तिरसार्णव पृ० १८५)

"नेत्र नित्य ही सजल हैं। प्यारे का पत्र सुकोमल है, विरह की आग

जल रही है। अंगुलियाँ संतप्त हैं। देखूँ तो गल जाय छूऊँ तो जल जाय ? आखिर क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? दोनों ओर दुःख ही दुःख है।"

प्रेमोन्माद में छकीं उन विविध उद्दीपनों से उद्दीप्त-रस गोपाङ्गनाएँ इस ढंग से वितर्क करती हैं—

हरिर्वसति यद्देशे सख्यः किं तत्र गर्जनम्।
मेघानां न भवत्येव मघोना वा निवारितम्॥
दर्दुरा भक्षिताः सर्पैर्विन्दवो नो विशन्ति किम्।
मयूराश्चातकाश्चापि कोकिला वा तपस्विनः।
बधिकैर्निहता नूनं ह्यतो न व्यथते हरिः॥
सखि त्वदीयभ्रूभङ्गप्रभावान् माधवोननु।
जातस्त्रिभङ्गललितो जगन्मोहनमोहनः॥
अञ्जनाञ्चितदृग्भ्यां ते वीक्षणाच्छ्यामलोऽभवत्।
त्वदीयस्मितदामिन्या कामिन्येव वशीकृतः॥
राधार्धनाममात्रेण हीन दीनो भवत्यथ।
त्वदिच्छया सदा बाले लाल्यो नृत्यत्यहर्निशम्॥
(भक्तिरसार्णव पृ० १८५)

कृष्णनाम सदा रम्यं श्रोत्रयोः सखि सङ्गतम्।
विस्मृतं देहगेहादि विमूढेव भवाम्यहम्।
पुनः पुनश्चाश्रुपूर्णे नेत्रे चित्तञ्च चञ्चलम्॥
(भक्तिरसार्णव पृ० १८६)

मुखे वचश्च नाभ्येति दशा काचिदिवाद्भुता।
सर्वाङ्गैः सर्वभावैश्च श्रोत्रमय्येव सङ्गता॥
(भक्तिरसार्णव पृ० १८६)

"क्योंरी सखि ! जिस देश में प्यारे श्यामसुन्दर मदनमोह बसते हैं, वहाँ मेघ गर्जना नहीं करते ? क्या इन्द्र ने उन पर रोक लगा दी है ? क्या वहाँ सर्पों ने मण्डूकों को खा लिया है ? क्या पानी की फुहारें नहीं गिरती ? क्या वहाँ के मयूर, चातक, कोकिल तपस्वी हैं ? न नाचते हैं न 'पी कहाँ बोलते हैं।' न 'कुहू-कुहू' ही करते हैं। क्या शिकारियों ने उन्हें मार डाला ?

यदि वे सब होते तो उन्हें देख सुनकर क्या हरि के हृदय में व्यथा नहीं होती ?"

"सखि ! तुम्हारे भ्रू-भङ्ग के प्रभाव से जगन्मोहन-मोहन त्रिभङ्ग ललित हो गये ? तुम्हारे नयनों के अंजन से वे साँवरे हो गये ? तुम्हारी स्मित-दामिनी कामिनी ने उन्हें वश में कर लिया ? वे तुम्हारे नाम का आधा 'रा' या

'धा' सुनकर दीन-हीन हो जाते हैं। वे तुम्हारे मनोरथ पर ताल पूर्वक नाचते हैं।"

'अरी बीर ! जब से वह मधुर-मधुर कृष्ण नाम हमारे कानों में पड़ा है, तब से देह-गेह आदि सब कुछ भूल गया। मैं बावरी हो गयी। आँखें भर-भर आती हैं। चित्त को चैन नहीं।

३. स्वामिनी के मानापनोदन में असमर्थ मदनमोहन के प्रति करुणार्द्र सखियाँ और उनकी अद्‌भुत सूक्तियाँ

श्रीकृष्ण-प्राणेश्वरी निकुञ्जेश्वरी श्रीराधामानिनी हैं। मञ्जरी अपनी मधुर वचन रचना को मनाती-मनाती थक गयी है। वह कहती है—"अरी ! प्रिय सहेली ! देख, रात्रि क्षीण हो गयी, तुम्हारा मान क्षीण नहीं हुआ। कोकिल कण्ठि। लता वृक्ष पर पक्षी कलरव करने लग गये, तुम तो बोलती ही नहीं हो। सुस्मिते ! कमल-कलियाँ हँसने लगीं, तुम तो मुस्कराती तक नहीं। मृगशावक नयने ! तुम्हारे प्रियतम तो पल्लव की सेज बना रहे हैं और तुम तो टेढ़ी होती जा रही हो। भला, अनुकूलता क्यों नहीं धारण करती, उदासी क्यों व्यक्त करती हो ?"

रजनी संक्षयं याति त्वन्मानं नास्तमेति हि।
पिकालापप्रिये नूनं त्यज मानं हि भामिनि॥
रुवन्ति मधुरारावं खगास्त्वं तु न भाषसे।
त्वं नो हससि कल्याणि दीन दीनेव राजसे॥
कञ्जकुड्मलजालानि विकसन्ति हसन्ति च।
त्वत्प्रियः परया प्रीत्या पर्णाढ्यं शयनीयकम्
रचयत्यनिशं तन्वि ! त्वयौदास्यं वितन्यते॥

(भक्ति रसार्णवः, रस-स्वरूप-विमर्शः पृ० १८६)

कसौटी पर स्वर्ण रेखा के समान, श्यामल तमाल तरु से लिपटी कनक वल्ली (स्वर्णलता) सरीखी माधव के श्याम अंग से आश्लिष्ट गौराङ्गी वृषभानु-नन्दिनी अत्यन्त सुषुमा बिखेर रही हैं। जैसे विद्युत्-लेखा चपलता छोड़कर नील नीरद का आलिंगन कर रही हों, जैसे कनक-सुमेरु पर सुरसरित धारा हो, वैसे ही साक्षात् मन्मथ-मन्मथ भगवान् कृष्ण के साथ कीर्तिनन्दिनी की शोभा होती है—

तमालश्यामले, कान्ते माधवे कीर्तिनन्दिनी।
निकषे स्वर्णरेखेव भ्राजते विमलाशया॥
स्वर्णवल्ली यथा वा स्यात् समाश्लिष्टा तमालके।
नील नीरद-मध्यस्था यथा चापल्यवर्जिता।
विद्युल्लेखा विराजेत तथा कृष्णे तु राधिका॥

(भक्ति-रसार्णव, पृ० १८६)

स्वामिनी श्रीराधा के मुखचन्द्र पर श्रीमाधव के नेत्र-युगल चकोर हो रहे हैं। हृदयेश्वरी के पादपद्म पर वे मधुप हो रहे हैं। उनकी जंघा रूप पुलिन पर खञ्जन की तरह नाच रहे हैं। महाभाव-रस-सार सर्वस्व श्रीराधा के रस सरोवररूप शरीर पर कृष्ण के लोचन युग्म मीन हो रहे हैं। माधुर्य सर्वस्व की अधिष्ठात्री श्रीराधा की दिव्य देह कान्ति के सुख विपिन में हरिण हो रहे हैं श्रीकृष्ण के अक्षि (नेत्र) युग्म—

चकोरस्ते वक्त्रामृत किरणविम्बे मधुकर-
स्तव श्रीपादाब्जेजघनपुलिने खञ्जनवरः।
स्फुरन्मीनो जातस्त्वयि रससरस्यां मधुपतेः
सुखाटव्यां राधे त्वयि च हरिणास्तस्य नयनम्॥

(राधासुधानिधि २५१)

अपनी श्रीप्राण-प्रेयसी के युगल कुच-कुड्मल पर अपना प्रतिबिम्ब निहार कर महामोहन मोहित हो जाते हैं। अपनी प्राण-प्रेयसी से ससम्भ्रम बोलते हैं—'प्रिये! सुन्दर नील इन्दीवर की कान्ति-लहरी चुराकर अपने में रखने वाले तुम्हारे वक्षःस्थल पर ये दो किशोर चोर कौन है? क्या ये इस रूप में मेरे मन-सम्मोहन हैं? अच्छा, अब तुम मुझे अपनी सखी बना लो, जिससे कि ये दोनों मेरा आलिंगन करें।' प्रियतम मदनमोहन के इस सम्मोहन का अवलोकन और श्रवण कर श्रीराधारानी मुस्कराने लगती हैं। उनकी यह मुस्कान हमारी रक्षा करे—

नीलेन्दीवरवृन्दकान्तिलहरी चौरं किशोर द्वयं
त्वय्येतत्कुचयोश्चकास्ति किमिदं रूपेण सम्मोहनम्।
तन्मामात्मसखीं कुरु द्वितरुणीयं नौ दृढं श्लिष्यति
स्वच्छायामभिवीक्ष्य मुह्यति हरौ राधास्मितं पातु नः॥

(राधासुधानिधि २४५)

ठीक इसी प्रकार श्रीनिकुञ्जेश्वरी राधारानी प्रेष्ठ-संगम महोत्सव से आविष्ट होती हैं। प्रियतम श्रीमदनमोहन के समीप जाती हैं। श्रीश्यामसुन्दर के हृदय पर विराजमान कौस्तुभमणिमें मधुराकार प्रतिबिम्ब देखती हैं। प्रेम माधुरी में समासक्त होने के कारण प्रिय की मणि में 'यह कोई और नहीं मैं ही प्रतिफलित हूँ', ऐसा नहीं जान पाती हैं। शोकग्रस्त हो जाती हैं। तीव्र ईर्ष्या एवं क्रोध के वेग से आक्रान्त हो जाती हैं, 'हटाओ' ऐसा कहकर प्रियतम के पाणि पद्म को दूर करके बाहर चली जाती हैं। आँखों से आँसू टपकने लगते हैं। प्रिय सखी को अपने हृदय की पीड़ा निवेदित करती हैं। हित सखी की भावना है, 'स्वामिनी राधिके! मैं आपके वचन कब सुनूँगी'—

सङ्गत्यापि महोत्सवेन मधुराकारां हृदि प्रेयसः
स्वेच्छायामभिवीक्ष्य कौस्तुभमणौ संभूतशोकाक्रुधा ।
उत्क्षिप्य प्रियपाणिमेव विनयेत्युक्त्वा गताया बहिः
सख्यैः सास्रनिवेदितानि किमहं श्रोष्यामि ते राधिके ।।
(श्रीराध सुधानिधि २४६)

श्रीकृष्ण की प्राणेश्वरी श्रीराधा-माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री हैं। उनमें युगपद अनेक निधियाँ सामञ्जस्यपूर्वक निवास करती हैं। वे लोकोत्तर प्रेम-विलास-वैभव की निधि हैं। कैशोर शोभा की निधि है। वैदग्धपूर्ण मधुर अङ्ग-भङ्गिमा की निधि हैं। लावण्य-सम्पदा की निधि हैं। कन्दर्प-लीला की निधि हैं। सौन्दर्य-सुधा की अनुपम निधि हैं। मधुपति (माधव) परमानन्दकन्द नन्दकिशोर की सर्वस्व निधि हैं। श्रीराधारानी की जय हो, वे सर्वोत्कर्ष को प्राप्त हो रहीं हैं। यथा—

शुद्ध प्रेम विलासवैभवनिधिः कैशोरशोभानिधिः
वैदग्धीमधुराङ्गभङ्गिमनिधिलविण्यसम्पन्निधिः ।
श्रीराधा जयतान् महारासनिधिः कन्दर्पलीलानिधिः
सौन्दर्यैकसुधानिधिर्मधुपतेः सर्वस्वभूतोनिधिः ।।
(राधासुधानिधि २४४)

श्रीकृष्ण परमानन्द सुधासिन्धु हैं। उनकी प्रियतमा श्रीराधा-माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री देवी हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण की आत्मा ही है। फिर भी लीला विशेष के अवसर पर वे श्रीश्यामसुन्दर को भी अत्यन्त दुर्लभ प्रतीत होती है—

यस्याः कदापि वसनाञ्चल खेलनोत्थ
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी ।
योगीन्द्र दुर्गम गतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि ।।
(राधासुधानिधि १)

"योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा परमहंसों के लिए मधुसूदन के चरणों के चिह्न भी दुर्गम हैं। ऐसे मदनमोहन श्यामसुन्दर कभी-कभी श्रीराधारानी के वसनाञ्चल की चञ्चल-लीला से उत्थित धन्यातिधन्य पवन स्पर्श से अपने आपको कृतार्थ मानते हैं। ऐसी श्रीवृषभानुनन्दिनी किशोरी रस भोरी गोरी श्रीनिभृत-निकुञ्जमन्दिराधीश्वरी राधारानी जिस दिशा में रहती हैं, उसे भी नमस्कार है।"

परम पुरुष शिखण्डिमौलि श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दन्सुधासिन्धु मदन-मोहन श्रीराधारानी के निकुञ्ज में प्रवेश प्राप्ति के लिये कीर्ति किशोरी श्री-स्वामिनी की किङ्करियों की अत्यन्त मुग्धभाव से अनुनय-विनय प्रार्थना करते हैं।

ऐसी रसनिधि कीर्ति-सुधा के केलिकुञ्ज भवनाङ्गग में सोहनी की सेवा करने वाली दासी बनूँ ? ऐसी लालसा रसिक महानुभाव व्यक्त करते हैं—

यत्किङ्करीषु बहुशः खलु काकुवाणी
नित्यं परस्य पुरुषस्य शिखण्डमौलेः ।
तस्याः कदा रसनिधेर्वृषभानुजाया-
स्तत्केलिकुञ्जभवनाङ्गणमार्जनीस्याम् ।।
(श्रीराधासुधानिधि ७)

"पिच्छ मौलि नन्द नन्दन पुरुषोत्तम श्रीराधारानी स्वामिनीकी दासियों से निकुञ्ज-मन्दिर में प्रवेश पाने के लिये अनुनय-विनय करते देखे जाते हैं। मेरे जीवन में वह सुख-सौभाग्य का दिवस कब आयेगा, जब मैं रस-निधान मूर्तिमान् परमानुराग श्रीवृषभानुनन्दिनी के केलि निकुञ्ज-मन्दिर के आंगन में सोहनी की सेवा करने वाली दासी बन जाऊँगी।"

वे अपनी भाव भरी वाणी में कहते हैं कि श्रीराधारानी की मूर्ति पूर्णानुराग-रससागर-सार-सर्वस्व नवनीत है। उन्हीं की पाद पद्म नखमणियों की दिव्य छवि छटा की विस्फूर्ति के अमोघ प्रभाव से गोपियो में मदनमोहन को मोहित करने का सामर्थ्य है। ऐसी श्रीस्वामिनी चाहे कभी हो, परन्तु मुझ पर अपनी कृपा का सीकर छिड़क दें—

यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटायाः
विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूष्वदर्शि ।
पूर्णानुरागरससागरसारमूर्तिः
सा राधिका मयि कदापि कृपां करोतु ।।
(श्रीराधासुधानिधि १०)

श्रीकिशोरी जी के नित्य-नवनवायमान अङ्ग-प्रत्यङ्ग दिव्यानन्द रस के सार हैं। उनके स्पर्श की अमृतमय अभङ्ग-तरङ्गों से वे अनङ्ग-मूर्च्छित नन्दनन्दन को संजीवनी पिलाती रहती हैं, वह कोई अनुपम निकुञ्ज देवी सर्वोपरि सर्वातिशायी विजय प्राप्त करती रहती हैं। यथा—

दिव्यप्रमोदरससारनिजाङ्गसङ्ग-
पीयूषवीचिनिचयैरभिषेचयन्ती ।
कन्दर्पकोटिशरमूर्च्छितनन्दसूनु-
सञ्जीवनी जयति कापि निकुञ्जदेवी ।।
(श्रीराधासुधानिधि ५)

प्रणय-लोल-विलोचना श्रीराधा के अङ्ग-प्रत्यङ्ग अनुराग रसनिधि के मानो मूर्त्त तरङ्ग हैं। श्यामसुन्दर शृङ्गार-रससार-निधि से समुद्भूत निर्मल-

निष्कलंक चन्द्रमा सरीखे चन्द्रमा हैं। श्रीस्वामिनी के परिरम्भण से 'आः' 'आः' इस प्रकार आश्चर्यचर्या चमत्कृत होते रहते हैं। श्यामसुन्दर मदनमोहन के अनुपम दर्शन से श्यामा के रोम-रोम चम्पक-लता के समान चमत्कृताङ्गी हो उठती हैं। श्याममुख निर्गत वंशी निनाद के श्रवण से विह्वलाङ्गी हो उठती हैं। दिव्य गुणों से अगाधा, (समस्त बाधाओं को विध्वंस करने वाली) भक्तों की अभीष्ट सिद्धि के लिये मूर्ति मती कल्पलता हैं, श्रीराधा।

श्रीराधा सुख तरङ्गिणी हैं, श्याम रंग रंगिणी हैं, केलि कल्लोलमालिनी हैं, नाभ्यावर्तशालिनी हैं, श्यामामृत महासिन्धु से संगम के लिये तीव्र वेगिनी हैं। सुख तरङ्गिणी-सरीखी श्रीजी भक्तों को सिक्त करतीं हैं। भक्तों के हृदय में सत्प्रेम सिन्धु मधुधारा को पूर्णतः (स्फुरित आप्लावित) करती हैं। इनके चरणारविन्द ही श्रीगोविन्द के जीवन धन-सर्वस्व हैं।

श्रीराधारानी का मुख अनन्त-अनन्त (राशि-राशि) शोभा निधान है। काले-काले घुंघराले, स्निग्ध, घने, चिकने केशपाश रूप भ्रमर से सेवित हैं। वह सत्प्रेम राशि साररूप सरोवर से समुद्भूत सरोज सरीखा है। वह उस दिव्य चन्द्र के समान हैं, जिसके दर्शन से स्वानन्द-सुधा-रससिन्धु में भी ज्वार आने लगता है। रसिक शिरोमणि कहते हैं कि उस सर्व सारों के सार में मेरा मन रम जाय? उसका नाम क्या है? राधा। वह कितना सार है? वह लावण्यसार है, रससार है, सुखसार है करुणासार है, मधुर-छवि-रूप का सार है, वैदग्धी का सार है, रति केलि विलास का सार है। ऐसी अनुपम निधि में मेरा मन रम जाय—

लावण्यसाररससारसुखैकसारे
कारुण्यसारमधुरच्छविरूपसारे ।
वैदग्ध्यसाररतिकेलिविलासारे
राधाभिधे मम मनोऽखिलसारसारे ॥

(श्रीराधासुधानिधि २५)

श्रीराधा का रूप पीत अरुण स्वर्ण वर्ण है। कोटि-कोटि दिव्य दामिनी पुञ्ज सदृश रश्मियाँ स्फुटित होती रहती हैं। वे कोटि-कोटि सूर्य के समान दीप्त हैं। कोटि-कोटि सुधांशु के समान सुशीतल है। अनन्तानन्त चन्द्र-सागर के मन्थन से समुद्भूत निर्मल-निष्कलंक अभिनव चन्द्रमा के तुल्य आह्लादिनी हैं। अभिनव अनुराग की तरंग के मद से विह्वल हैं। ऐसी श्रीराधा सदा ही मदनमोहन से अभिन्न रहती हैं, फिर भी वे उन्हें दुर्लभ मानते हैं। दुर्लभ भाव को द्योतित करने के लिए ही मदनमोहन माधव को 'राधा सुधा निधि' में 'विट' भी कहा गया है; यथा—

श्रीराधिकां निजविटेन सहाल पन्तीं
शोणाधर प्रसृमरच्छवि मञ्ज रीकाम् ।

सिन्दूरसंवलितमौक्तिकपङ्क्तिशोभां
यो भावयेद् दशनकुन्दवतीं स धन्यः ॥
(श्रीराधासुधानिधि २८)

"श्रीराधिका जी स्वयं निज-लम्पट विट' से आलाप कर रही हैं। उस समय अनुराग-रक्त बिम्बाफल सदृश अधरोष्ठ से छवि मञ्जरी छिटक रही है। बीच-बीच में श्वेत दन्तपंक्ति अपनी छटा विखेर देती हैं। ऐसी शोभा फैलती है मानो सिन्दूर के रंग से रंगकर मोतियों की पंक्ति जमा दी गयी हो ? यह शोभा जिसके हृदय में क्षण भर भी आ गयी, वह धन्य हो गया।"

परकीया भाव में अत्यन्त तीव्र एवं गाढ़ अनुराग होता है। उससे भी अत्यधिक अनुराग की गाढ़ता और तीव्रता श्रीराधारानी में है। यही द्योतित करने के लिए उनके अभिसार और गोपनीयता का वर्णन किया जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि श्रीराधारानी मदनमोहन परमानन्दकन्द सुधासिन्धु की अनादि नित्य संगिनी स्वात्मरूपा ही हैं।

संकेतकुञ्जमनुपल्लवधास्तरीतुं
तत्त्वत्प्रसादमभितः खलु संवरीतुम् ।
त्वां श्यामचन्द्रमभिसारयितुं धृताशे
श्रीराधिके मयि विधेहि कृपाकटाक्षम् ॥
(श्रीराधासुधानिधि ३१)

सखी कहती हैं—"हे श्रीराधिके ! मेरे मन में यह आशा, लालसा, प्रबल हो रही है कि मैं संकेत-कुञ्ज में पल्लव की सेज विछाऊँ। विविध रीतियों से तुम्हारी विहार-लीलाओं के गोपन का प्रयत्न करूँ और श्यामचन्द्र के प्रति तुम्हारा अभिसार कराऊँ ! इसके लिये तुम मुझ पर कृपा कटाक्ष करो।"

यहाँ यह हृदयंगम कर लेना आवश्यक है कि स्वकीया नायिका में मुख्य अभिसार और गोपन नहीं हो सकता। इस नूतन रसास्वादन के लिये लालसा करने का यही कारण है।

श्रीवृषभानुनन्दिनी का प्रत्येक अङ्ग छलकते हुए उज्ज्वल रसामृत-सिन्धु का सर्वस्व है। वह सान्द्र (गाढ़) अनुराग-रस के सार-सरोवर में प्रकट सरोज के समान है। मानो वह सानन्द-सुधा-मकरन्द का धन है। नव युवराज चित्त चोरी श्रीवृषभानु किशोरी का मुखचन्द्र अनन्त-अनन्त चन्द्रसिन्धु के मन्थन से समुद्भूत निर्मल, निष्कलंक पूर्णचन्द्र के समान है। उनके चरणारविन्द उस कमल के समान हैं जो अनन्तानन्त सौन्दर्यसार सुधासरोवर में प्रफुल्लित हुआ हो. उसकी अङ्ग-प्रत्यङ्ग की छटा मानो लावण्य-सुधा-निधि का सार सर्वस्व हो ? ये क्रीडासर में उत्फुल स्वर्ण-कमल की अनखिली कली हो ? स्वानन्दपूर्ण रस कल्पतरु के फल है। ये भुवनमोहन के भी मोहन हैं। श्रीराधा सुधा निधि कार कहते हैं—"स्वामिनी !

मैं तुम्हारे इस अभिनव स्तन-मण्डल को नमस्कार करता हूँ।"

क्रीडासरः कनकपङ्कजकुड्मलाय
स्वानन्दपूर्णरसकल्पतरोः फलाय।
तस्मै नमो भुवनमोहनमोहनाय
श्रीराधिके तव नवस्तनमण्डलाय॥

(श्रीराधासुधानिधि ३५)

प्रेमानन्द की एकमात्र अद्वितीय सिन्धु हैं श्रीराधा। उनमें महाकेलि की लहरियाँ लहराती रहती हैं। वे गाढ़ आनन्दघन अनुराग स्वरूपा हैं। उनके श्री-विग्रह से कोटि-कोटि विद्युल्लता के समान ज्योतिर्मयी रश्मियाँ स्फुरित रहती हैं। उनके लीलापूर्ण अपाङ्ग-तरङ्गों से असंख्य कन्दर्पों का उद्भव होता रहता है।

प्रेमानन्द सुधा-सार-सर्वस्वमूर्ति हैं श्रीकृष्ण। उनके हृदय में अवस्थित पूर्णानुराग रस-सार-सुधा जलनिधि है। जिससे निर्मल, निष्कलंक, पूर्णचन्द्रस्वरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी प्रकट होती हैं। ऐसी श्रीकिशोरी जी का हृदय ही वृन्दावन है। उसमें रसोद्रेक से जो जड़िमा है, वही वृन्दावन की जड़िमा है। यथा—

गौराङ्गे म्रदिमा स्मिते मधुरिमा नेत्राञ्चले द्राघिमा
वक्षोजे गरिमा तथैव तनिमा मध्ये गतौ मन्दिमा।
श्रोण्याञ्च प्रथिमा भ्रुवोः कुटिलिमा बिम्बाधरे शोणिमा
श्रीराधे हृदि ते रसेन जड़िमा ध्यानेऽस्तु मे गोचरः॥

(श्रीराधासुधानिधि ७४)

"हे श्रीराधे ! तुम्हारे गौर अङ्गों में मृदुलता, मुसकान में मधुरता, नेत्र प्रान्त में विशालता, उरोजों में गुरुता, कटि प्रदेश में कृशता, चाल में मन्दता, नितम्बों में स्थूलता, भृकुटियों में कुटिलता, अधरों में बिम्बफल के समान लालिमा और हृदय में रसानुभव के कारण स्तब्धता मेरे ध्यान का विषय हो ?"

वह दिव्य ज्योति मधुर उज्ज्वल रसरूप-प्रेम का हृदय है। शृङ्गार केलि-कला का जो प्राण है। कैशोराद्भुत माधुरी-धुरीण है। प्रेमोल्लास ही उसका स्वरूप है। उस तेज के रश्मिकण का भी जो ध्यान करते हैं, वे धन्य ही हैं। उन्हें बाह्य वेष धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं। वे श्रीराधारस निमग्न हृदय होने के कारण कृतार्थ ही हैं। श्रीराधा सुधा निधि में उनकी स्थिति का क्या ही अनुपम चित्रण है—

लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शङ्खचक्रादिकं
विचित्रहरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।

लसत्तुलसिमालिकां दधति कण्ठपीठे न वा
गुरोर्भजनविक्रमात् क इह ते महाबुद्धयः ॥
(श्रीराधासुधानिधि ८१)

"जो लोग भुजाओं में शंख-चक्रादि चिह्न नहीं लिखते, भालस्थली में विचित्र हरिमन्दिर (तिलक) की रचना नहीं करते और कण्ठ में तुलसी की माला धारण नहीं करते, श्रीराधारानी के भजनमात्र से प्रभावशाली ऐसे वे महा प्राज्ञ महापुरुष कौन हैं ?"

श्रीराधारानी की सहचरियाँ प्राणश्रेष्ठ परम प्रियतम, रति-लम्पट श्रीश्यामसुन्दर के प्राप्त होने पर भी श्रीराधा पद रस का ही समास्वादन करती है। जब श्रीस्वामिनी मान कर लेती हैं, श्रीकृष्ण की ओर से मुख फेर लेती हैं, तब उनकी प्रिय सखी परिहास के द्वारा इस प्रकार मनाती हैं—

यदि स्नेहाद्राधे दिशति रतिलाम्पट्य पदवीं
गतं मे स्वप्रेष्ठं तदपि ममनिष्ठं शृणु यथा।
कटाक्षैरालोके स्मितसहचरैर्जातपुलकं,
समाश्लिष्याम्युच्चैरथ च रसये त्वत्पदरसम् ॥
(श्रीराधासुधानिधि ८७)

"हे श्रीराधे ! स्नेहवश यदि आप कभी रति लम्पटादि की स्थिति पर पहुँचे हुए अपने प्रियतम का दान मुझे कर दें तो भी मेरी इस प्रकार की निष्ठा को सुनिये—(मैं) मन्द मुसकान से युक्त कटाक्षों से उनको देखूँगी और उनके पुलकित होने पर अति गाढ़ आलिंगन भी करूँगी; किन्तु इतना सब करने पर भी आस्वादन तो आपके चरणारविन्द के दास्य-रस का (ही) करूँगी।"

अपनी सहेलियों को अपने प्रति समासक्त और श्रीकृष्ण के प्रति विमुख जानकर मानिनी श्रीजी के मुख पर हास्य की स्निग्ध रेखाएँ खिंच जाती हैं। वे प्यारी सखियों को प्रसन्न करती हुई कहने लगती हैं—'हे सखि ! तुम्हें सदा से ही कृष्णपक्ष, कृष्णकमल, कृष्णसार मृग, कृष्ण तमाल, कृष्ण मेघ, यही सब प्यारे लगते हैं; कृष्ण यमुना भी तुम्हें प्यारी लगती है। ऐसा क्यों ? इसलिए न कि इनके नाम-रूप कृष्ण से मिलते हैं; फिर आज तुम साक्षात् कृष्ण से ही विमुख क्यों हो रही हो ? उनकी श्यामता तो मोहनमाधुरी की पराकाष्ठा है।' प्रहसित-मुखी श्रीराधा को देखकर हित सखी कामना व्यक्त करती है—

कृष्णः पक्षो नवकुवलयं कृष्णसारस्तमालो
नीलाम्भोदस्तवरुचिपदं नामरूपैश्च कृष्णा।
कृष्णे कस्मात्तव विमुखता मोहनश्याममूर्त्ता-
वित्युक्त्वा त्वां प्रहसितमुखीं किन्नु पश्यामि राधे ॥
(राधासुधानिधि ८८)

"हे श्रीराधे ! वह दिन कब होगा ? जब मैं तुम्हें हँसते देखूँगी।"

४. राधा-रस-माधुरी और रसिक शेखर की चातुरी

श्रीकिशोरी जी का श्रीविग्रह उद्वेलित प्रणयरस-महा-समुद्र-सार-सर्वस्व है। उनके लोचन हैं—रसाम्भोधि में मीन, स्तन हैं—सुधा सरोवर के चन्द्रवाक, मुख है—सुरतरङ्गिणी में विकसित हेमाम्बुज। इन सबको देख-देखकर श्रीकृष्ण परमानन्द निमग्न होते रहते हैं। सान्द्रानन्द-अनुराग घन लहरी उनके पादारविन्द से प्रवाहित होती रहती है। ऐसी श्रीकिशोरी जी का 'राधा' यह नाम ही श्रीकृष्ण को वश में करने का मन्त्र है। सर्व प्राणि परम प्रेमास्पद श्याम-सुन्दर इसी नाम का प्रेमाश्रुपरिप्लुत नेत्रों से सम्पन्न होकर जप करते रहते हैं। वे धन्य-धन्य हैं, जो इस नामामृत का जप करते रहते हैं। कोटि-कोटि दामिनी द्युति विनिन्दक गात्रों वाली परिपूर्ण आनन्दच्छवि मुखाम्बुजों वाली, नव विद्रुम-च्छवि बिम्बाधरों वाली, सत् पल्लवच्छवि कराम्बुजों वाली श्रीवृषभानुनन्दिनी नित्य निकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानी के कृपापात्रों को हो उन श्रीस्वामिनी जी के चरणाम्बुज पराग रस की उपलब्धि हो सकती है। श्रीकिशोरी जी में आठ गुणों की सीमा एक साथ निवास करती है; यथा—

प्रेमोल्लासैकसीमा परमरसचमत्कारवैचित्र्यसीमा
सौन्दर्यस्यैकसीमा किमपि नववयोरूपलावण्यसीमा।
लीलामाधुर्यसीमा निजजनपरमौदार्यवात्सल्यसीमा
श्रीराधासौख्यसीमा जयति रतिकलाकेलिमाधुर्यसीमा॥

(श्रीराधासुधानिधि १३०)

"(१) प्रेम के विलासोत्कर्ष की एकमात्र अवधि, (२) चमत्कारपूर्ण परमरस शृङ्गार की अनुपमेय-पराकाष्ठा, (३) स्निग्धकुञ्चित नील केशोंवाली-खञ्जनाक्षी अखिल सौन्दर्य की परावधि, (४) अनिर्वचनीय (अद्भुत) नवीनवय सम्पन्न रूप-लावण्य की अवधि, (५) मधुरातिमधुर लीला स्रोत की अवधि, (६) अपने आश्रितों पर परम उदारता पूर्ण वात्सल्यभाव की सीमा, (७) सुख की परम अवधि और सुरतक्रीडा जनित माधुरी की सीमा, वैसी वह श्रीराधारानी सर्वो-त्कृष्ट रूप से विराजमान हैं।"

श्रीजी कौन हैं ? जिनकी पदनखमणि ज्योति की एक छटा से कोटि-कोटि सान्द्रप्रेमामृत रस महासिन्धु की तुलना असम्भव है। उन श्रीराधा जी की अनुकम्पा से मुक्ति-मुक्ति भी सुलभ है। यद्यपि उनकी सेवा सुख की अपेक्षा वह तुच्छ है; फिर लौकिक श्री की उपलब्धि सुलभ और सुतच्छ हो इसमें कहना ही क्या ? यथा—

यस्याः स्फूर्जत्पदनखमणिज्योतिरेकच्छटायाः
सान्द्रप्रेमामृतरसमहासिन्धुकोटिर्विलासः ।
सा चेद्राधा रचयति कृपादृष्टिपातं कदाचिन्,
मुक्तिस्तुच्छी भवति बहुशः प्राकृताप्राकृत श्रीः ।।
(श्रीराधासुधानिधि १३६)

"सघन प्रेमामृत रस के कोटि-कोटि महासागर जिनकी चमकती हुई चरण-नख-मणि-प्रभा की केवल एक चमक का विलास या खेल है यदि वह श्री-राधा (एक बार) कभी (अपनी) कृपा-दृष्टि का निक्षेप (मुझ पर) करें, (तब) मुक्ति तथा बहुत प्रकार की लौकिक अथवा अलौकिक श्री (मेरे लिए) फीकी हो जायेगी ।"

श्रीराधारानी के कटाक्ष-शरपात से मूर्च्छित हो जाते हैं। शिखण्ड स्खलित हो जाता है। दामिनी-द्युति-विनिन्दक पीताम्बर गिर जाता है। श्रीजी अपार रस-सार-विलास मूर्ति हैं, आनन्दकन्द-परमाद्भुत सोम्यलक्ष्मी हैं, ब्रह्मादि देव दुर्गमगति हैं। उनके रहस्य को जानने वाले रसिकवृन्द उनके कैंकर्य की ही कामना करते हैं। उन प्रेमानुराग रससारमूर्तिरूप प्रेम से उल्लसित रस विलास विकास के कन्दरूप पान करते रहते हैं। श्रीश्यामा अपनी अद्भुत रसामृत चन्द्रिका से भक्तों को संतृप्त करती रहती हैं। उनके पादारविन्द-मकरन्द रसामृत का पान ही सम्पूर्ण कल्याण का मूल है।

कभी-कभी 'प्रेम वैचित्य' दशा का उदय होता है। तब श्रीजी अङ्क में ही स्थित प्रियतम को ही दूर समझकर विप्रलम्भ का अनुभव करने लगती हैं और 'हा' मोहन ! हा, मोहन !' ऐसा प्रलाप करने लगती हैं। संयोग में वियोग और वियोग में संयोग—यह भी प्रेम रस की एक उत्कृष्ट अवस्था है—

अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं
हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात् ।
श्यामानुरागमदविह्वलमोहनाङ्गी
श्यामामणिर्जयति कापि निकुञ्ज सीम्नि ।।
(श्रीराधासुधानिधि ४६)

श्यामानुराग से रोमराजि पुलकित श्रीराधारानी प्रेमामृत स्वरूपा ज्योतिर्मयी हैं। ऐसी प्रेममयी श्रीजी के नामामृत का पान करनेवालों के सारे ही अपराध भगवान् क्षमा कर देते हैं। इतना ही नहीं, प्रेमाविष्ट होकर सोचने लगते हैं कि इस भक्त को क्या दान करें ? जिनके एक नाम की यह महिमा है उनको अपनी महिमा कितनी होगी ? यह कौन जान सकता है ?

अनुल्लिख्यानन्तानपि तदपराधान् मधुपति
र्महाप्रेमाविष्टस्तव परमदेयं विमृशति ।

तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं
महिम्नः कः सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम् ।।
(राधासुधानिधि १५४)

जल-तरङ्ग के समान दोनों एक-दूसरे के संसक्त (सटे) रहते हैं, इतना ही क्यों ? परमानन्द और उसकी माधुरी के समान दोनों एक-दूसरे से मिले रहते हैं। ऐसी स्थिति में राधा-माधव में विप्रलम्भ की कोई कल्पना नहीं, तथापि कभी पलकों के गिरने से, कभी मन के अनवधान से, कभी भ्रम से वियोग की प्रतीति होने लगती है। उस समय बाह्य आभ्यन्तर मानो कोटि-कोटि प्रलयाग्नि से जल रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है। स्नेहानुबन्ध की ऐसी स्थिति ग्रन्थि पड़ गयी है कि गौरज्योति श्याम तेज से सम्वलित रहती है और श्यामज्योति गौरतेज से सम्पुटित—

विच्छेदाभासमानादहहनिमिषतो गात्रविस्रंसनादौ
चञ्चत्कल्पाग्निकोटिज्वलितमिव भवेद् बाह्यमभ्यन्तरं च ।
गाढ़स्नेहानुबन्धग्रथितमिवतयोरद्भुतप्रेममूर्त्योः
श्रीराधामाधवाख्यं परमिह मधुरं तद्वयं धाम जाने ।।
(श्रीराधासुधानिधि १७३)

"अहो ! आश्चर्य है जिन्हें अङ्गों की शिथिलता में निमेषमात्र के वियोगाभास (वियोग की आशंका) के भासित होने पर तन और मन दोनों सुदीप्त कोटि-कोटि प्रलयाग्नि के समान प्रज्ज्वलित हो जाते हैं। इस लोक में उन अद्भुत प्रेममूर्ति का नाम है श्रीराधा-माधव जो परम मधुर हैं और मानो गाढ़ स्नेह रज्जु में गुथे हुए हैं, उस प्रकाशरूप युगल को मैं जानता हूँ।'

वस्तुतः राधा के माधुर्य को माधव जानते हैं और माधव क माधुर्य को राधा जानती हैं। श्रीवृन्दावन धाम की महिमा से सहचरियाँ युगल के माधुर्य को पहचानती हैं। श्रीश्यामसुन्दर हैं—परमानन्द सुधा-सार-सर्वस्व-स्वरूप सिन्धु और श्रीराधा हैं—अनङ्ग नवतरङ्गिणी, रस-रतङ्गिणी, उनसे निरन्तर सङ्गत।

'वन' शब्द का अर्थ है—यौवन। वृन्दावन का अर्थ है—श्रीवृन्दा का यौवन। यह सकल सद्गुण वृन्द का 'अवन' अर्थात् रक्षण भी है। श्रीश्यामा भी वृन्दाटवी की तरह ही मधुरति की मनोहारिणी हैं। उनकी रोमराजि यमुना-सी है। अधरछवि वन्धूक पुष्प-सी, सर्वाङ्ग चम्पक पुष्प-सा, नाभि सरोवर सदृश, वक्षोज पुष्पस्तवक तुल्य, भुज युग्म लतावत्, भूषण ध्वनि भृङ्ग गुञ्जनवत् है।

श्रीराधा क्या हैं ? मूर्तिमती हरि प्रीति हैं, रस-सिन्धु की सार-सम्पदा हैं, वैदग्धी के हृदय हैं। स्वयं ही ये वही श्री हैं जो प्रेमघनाकृति श्रीकृष्ण के प्रेमोल्लास से कभी सीत्कार करती हैं, कभी थर-थर काँप उठती हैं, कभी 'श्याम-श्याम' कहकर रोमाञ्चित हो जाती हैं। जो सदानन्द स्वरूपा हैं, निर्मयाद रस की

वृष्टि करनेवाली हैं। जो रसिक उनकी चरण-नख-ज्योत्स्ना से अपने अन्तरङ्ग को धो लेते हैं, उनके हृदय में सरस भक्ति का उदय होता है। गोपेन्द्रनन्दन मन की चोरी, भोरी-भोरी गोरी-गोरी किशोरी अपनी वह कमनीय वरणीय दास्य प्रदान करें जो श्रुति-शिखर (उपनिषद्) सार सर्वस्व हैं—

यस्याः प्रेमघनाकृतेः पद नखज्योत्स्नाभरस्नापित-
स्वान्तानां समुदेति कापि सरसा भक्तिश्चमत्कारिणी।
सा मे गोकुलभूपनन्दनमनश्चोरी किशोरी कदा
दास्यं दास्यति सर्ववेदशिरसां यत्तद्रहस्यं परम्॥
(राधासुधानिधि २०४)

"घनीभूत प्रेम की मूर्ति जिन राधारानी के चरण-नख चन्द्रिका के प्रवाह द्वारा स्नापित (भीजे) चित्तवाले (व्यक्ति के) हृदय में कोई अनिर्वचनीय चमत्कार पूर्ण परम रसीली भक्ति भलीभाँत प्रकाशित हो जाती है। गोकुल राज-कुमार (श्रीलालजी) के चित्त को (बरबस) हरण करने वाली वह किशोरी जो समस्त उपनिषदों के लिए भी रहस्यभूत है उस (अपने) कैंकर्य को मुझे कब प्रदान करेंगे।"

भावयोग परिष्कृत हृत्सरोज में भगवान् विराजते हैं। पहले-पहल भक्तों के हृदय से प्रकट रसोद्रिक्त रस परिणाम रूप शब्द 'ब्रह्म' के रूप में अभिव्यक्त वाणी के द्वारा उनका श्रवण होता है। तदनन्तर दर्शनोत्कण्ठित नेत्रों से उनके शुभागमन की प्रतीक्षा होती है। भगवान् नेत्रों से जाने जाते हैं, केवल इतना ही नहीं, अपितु भावुक भक्त भावभीनी रसीली चित्तवृत्ति से भगवान् के जिस-जिस रूप की भावना करते हैं, सन्तों पर अनुग्रह करने के लिए भगवान् वैसा-ही-वैसा रूप प्रकट करते हैं—

त्वं भावयोगपरिभावित हृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥
(भागवत ३. ९. ११)

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भाव सरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥
(भागवत २. ८. ५)

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
(भागवत १. २. १७)

अधिक कहाँ तक कहें, भक्तजनों के हृदय में भावित होकर रसामृत विन्दु ही सिन्धु हो जाता है। वह निर्मर्यादरूप से बढ़ता है। वह उद्वेलित होकर भक्तों के आत्मा-मन-प्राण-इन्द्रिय और देहों को आप्लावित कर देता है। वहाँ से छलक कर वह मुख में आता है। और कण्ठादि अष्ट-स्थान से अनुषक्त होकर आग्नेय (तैजस) वाक्-इन्द्रिय से संसृष्ट होकर दिव्य शब्द-ब्रह्मरूप से मुख में आकर **'शोक: श्लोकत्वमागत:'** वाल्मीकिजी के हृदय में उद्बुद्ध शाक ही जैसे **'मा निषाद'** इस श्लोक के रूप में स्फुट हुआ, इस तरह) अभिव्यक्त (स्फुट) होता है। वही निरावरण कर्ण-कुहरों के द्वारा हृदय-गुहा में प्रविष्ट होकर निखिल रसामृतसिन्धु श्रीराधा-माधव के रूप में प्रकाशमान होता है। अभिप्राय यह है कि भगवद्रसमय शब्द ही हृदय में रसमय भगवान् को प्रकट करते हैं। वेदान्त की रीति से भी महावाक्यों के द्वारा ही हृदय में निरावरण ब्रह्म व्यञ्जित होता है।

इस तरह शब्दमय नयनों से ही प्रभु-स्वरूप का दर्शन होता है। अतएव रसिक महानुभाव कहते हैं—श्रोत्र से सौन्दर्य देखा जाता है और नेत्र से सुना जाता है। कानों में प्रियतम प्रभु की चर्चा के पड़ने पर वही प्राण रूप से प्रतिष्ठित होती है। जब कर्ण में प्रविष्ठ कृष्ण-चर्चा का दर्शन हो, तब कान ही लोचन बन गये। तभी से कान रूप देखते हैं। और वाणी सुनती है। चर्चा के प्रसंग में रूप का अवगम होने पर नेत्र और श्रोत्र का सम्बन्ध हो गया। श्रोत्र ने मन को रूप समर्पण किया। मन रूपयुक्त होकर नेत्रों में प्रविष्ट हुआ। रूप में प्रविष्ट नयन रूप-मय हो गया। नयन आनन्द मग्न होकर रूप का तीनों में लीन हो गया।

मन ने पूछा—'जिसकी तुम चर्चा करते हो, वह कहाँ है?'

नयनों ने कहा—'हम नहीं जानते विना प्रत्यभिज्ञान (पहिचान) के क्या बोलें? प्रेम के पास जाते हैं और उससे पता लगाते हैं।' जब मन और नयन प्रेम के पास गये, तब प्रेम ने मन को रूप के पास भेज दिया। नेत्र निराश होकर रोने लगे—'हाय! मेरा वह मित्र कहाँ गया जिसने रूप चर्चा की थी। वह कहीं नहीं मिलता।' तब से नेत्र दिन रात रोते हैं, नींद नहीं आती, बेचैन रहते हैं! प्रेम-मेघ के गर्जन से विद्युत् होकर भक्त वाणी जन कल्याण के लिए प्रवृत्त होती है—

भक्तवाणी क्या है? प्रियतम भगवान् की लम्बी पत्रिका। उसे पढ़ने से प्रियतम के पास जाने की प्रेरणा प्राप्त होती है। अन्य लोग भगवान् का भजन करते हैं। सखियाँ दिव्य युग्म की प्रीति का ही भजन करती हैं। भजनीय प्रेम की पहिचान के लिए प्रीति रीति की अवगति आवश्यक है।

प्रीति-रीति के श्रवण से हृदय सरस हो जाता है। अभिप्राय यह है कि आनन्द कोलाहल पूर्ण, कौतुक निपुण सुखनिधि स्नेह भक्त वाक्यों से ही विदित

होता है। भगवद्वाक्य रूप वेद और तच्चरणाश्रित-आर्ष सद्ग्रन्थ क्या है ? रसिक भक्तों को भगवान् के पास ले जाने की शिविका।

श्यामल तरुण तमाल तरु संश्लिष्ट रूपवल्ली-सी माधव-संश्लिष्ट श्री-राधा रसाविष्ट हो रही हैं। उन दोनों की यह अद्भुत दशा देखकर रति और रतिपति विस्मय को प्राप्त होते हैं। दोनों की नव नवायमाना प्रीति भी प्रतिक्षण प्रवृद्ध होती है। समासक्ति भी आत्मविस्मृति लाभ कर रसमग्ना होती है। प्रिय श्रीकृष्ण तो उन प्यारी के सौकुमार्यातिशय को देखकर मानस करों से भी स्पर्श करने में डरते हैं—

"मनहू के करन सों छुअत डरत हैं"

प्रेयसी के चरण-चिह्न पर धूप पड़ते देखकर अपने शरीर और प्राणों को छाता बना देते हैं। इनके स्वल्पसान्निध्य से भी विपिनराज के लता-वीरुध तप्त कनक (कुन्दन) सदृश जगमगाने लगते हैं। प्रेयसी की सहज तिरछी चितवन एवं मन्द-मन्द मुसकान देखकर प्रियतम की कुछ अद्भुत गति हो जाती है। श्री-राधारानी के सौन्दर्य माधुर्यमय श्रीअङ्ग-उपाङ्गों को देखकर प्यारे का मन छवि-महार्णव में डूबने लगता है। उनके विशाल, उज्ज्वल, कजरारे, रतनारे नयन-युगल छवि निहार कर प्रियतम का अन्तस्तल सुशीतल हो जाता है। उन अद्भुत नयनों को देखकर खञ्जन की चपलता, कञ्ज की अरुणिमा और मुक्ता की झिल-मिल ज्योति भी लज्जित हो जाती है।

श्रीश्यामा के सरस, सलज्ज, प्रीति पूर्ण चञ्चल एवं अञ्चल से आवृत नयन जहाँ-जहाँ देखते हैं, वहीं-वहीं सौन्दर्य की वर्षा होने लगती है। इनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रोम-रोम में रूपकान्ति और लावण्य की पराकाष्ठा चमकती रहती है। उनकी महामोहन रूप-छवि छलकती छटा निहार कर साक्षात् मन्मथ-मन्मथ भुवन मोहन की मोहिनी शक्ति भी मोहित हो जाती है। उनकी मोदमयी माधुरी मदन-मादक है।

दन्त पंक्ति की शोभा दामिनी द्युति को भी लज्जित कर देती है। नख-मणि चन्द्रिका सम्पूर्ण सौन्दर्य को पराजित कर देती हैं। गौराङ्गी श्रीकिशोरी जी के छवि-सुधा-कण से संतृप्त होकर अन्य छवि-छवि बनती है।

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम॥

*

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीराधा-सुधा

श्रीराधासुधानिधि-प्रवचन-माला

द्वादश-पुष्प

१. युगल चन्द्र की प्यासी चकोरी सखियाँ

कभी-कभी प्रियतम की विलक्षण प्रेमगति देखकर प्रेयसी वृषभानुनन्दिनी वाम्यगति (वामता) का परित्याग करके दाक्षिण्यभाव को अङ्गीकार करती हैं, देहगति को भूल जाती हैं—देहस्थिति और पादविन्यास का भी उन्हें पता नहीं चलता। प्रेमाश्रुपरिप्लुत नेत्रों वाली आनन्दमग्न इनकी वह दशा देखते ही बनती है। आँखों में आँसू, मुख में 'प्रियतम, प्राणनाथ' अहा, कितनी अद्‌भुत दशा है, श्रीराधा-स्वामिनी की? ऐसी श्यामा-श्याम के हृदय से लग जाती हैं। उनके मुखचन्द्र पर परम मुग्ध हो जाती हैं। ऐसी दशा में चुम्बन, पान, दंशन करके विवश हो जाती हैं। इनका यह मधुर वैवश्य इनका यह अद्‌भुत प्रेमप्रवाह सभी सखियों को आप्लावित और आप्यायित कर देता है। कोई सखी चित्र लिखी-सी रह जाती है, कोई बेसुध हो जाती है। किसी-किसी के नयनों से अविरल-विमल प्रेमाश्रुधारा बहने लगती है। श्रीराधा-माधव उनकी यह दशा निहारकर करुणार्द्र होते हैं। उनके हृदय में विलक्षण प्रेमधारा को संचरित-प्रवाहित करके अगाध-प्रेमसिन्धु से अभिषिक्त करते हैं। रस-रङ्ग-अनङ्ग पूर्ण प्यासी-प्यासी प्यारी-प्यारी सखियाँ चकोरी के समान चारों ओर से युगलचन्द्र को घेर लेती हैं। इस प्रकार प्रतिक्षण नव-नव प्रेमतरङ्ग राजित रहती है।

प्रेयसः प्रेमपूरेण विह्वला विस्मृतक्रमा।
विस्मृतात्मगतिर्व्याप्त मोहाविलभ्रमुखी प्रिया॥
प्रेष्ठ प्रेष्ठेति संभाष्य स्तनाभ्यामालिलिङ्गतम्।
परिचुम्ब्य मुखं तस्य दशनैरधरं तथा॥
मधुरं संददंशाऽऽशु प्रेमपूरितमानसा।
तां तथा भावनापन्नां दृष्ट्वा विह्वलितास्तदा॥
सुहृदो रसकल्लोल समासक्ता भृशं मुदा।
काश्चिच्चित्रार्पिताः प्रलेपुरार्तवद्वचः॥

२. युगल छवि-मुक्ता की रसिक हंसी सखियाँ

सखियाँ मानो हंसी हैं। वे युगलतत्त्व की कामकला रूप मुक्ता चुगती रहती हैं। सखियाँ क्या हैं ? श्रीराधामाधव की इच्छा शक्ति रूपा ही हैं। इसी से प्रिया-प्रिय सखियों की इच्छा के पराधीन ही हैं। सभी लीलाओं की साधिका वे हैं, उस-उस लीला के अनुरूप सर्व भावों का सर्जन करती हैं।

३. श्यामाश्याम के हित में अवहित सखियाँ

श्रीधाम वृन्दावन में शिशिर और ग्रीष्म की सन्धि वसन्त ऋतु सर्वदा विराजती है। यहाँ के जल-स्थल-नभ सब वासन्तिक उल्लासों से उल्लसित रहते हैं। स्वयं काम निज कर-कमलों से कुंज-मन्दिरों का मार्जन करता है। श्रीराधा-माधव अनुराग-रंजित रजनी में सुखमय-विलास का अनुभव करते हैं। उनके नेत्रों में नींद का खुमारी रहती है। जब उनके नेत्र खुलते हैं, तब नित्य सहचरियाँ दिव्यानुराग रंजित प्रिया-प्रियतम को चारों ओर से घेर लेती हैं और संगीत, वाद्य, नृत्य के द्वारा उनकी आराधना करती हैं। वंशी की मधुर-मधुर ध्वनि गौरीराग के आलाप के लिये प्रेरित करता हैं। सहेलियाँ वसन्त-गान गा-गाकर उन्हें वासन्त क्रीडा के लिये प्रेरित करता हैं। सखियाँ सदा ही श्यामा-श्याम के हित में निरत रहती हैं। 'हित' ही उन्हें अवहित सावधान) करता रहता है। वे सदा सेवा-संलग्न रहती हैं। अन्यथा जिनमें यौवन-मद, स्नेह-मद, रस-मद, उन्मद नृत्य कर रहे हैं, जिनके मन-बुद्धि आदि का अस्तित्व भी लुप्त हो चुका है, उन्हें सेवा का ध्यान भी कहाँ से आता ? प्रियतम प्राणधन जब प्रेम-विभोर, स्मृति-स्फूर्ति-शून्य होते हैं, तब भी वे जागरूक रहकर उनमें शृङ्गार रस की धारा प्रवाहित करती रहती हैं। प्रेयसी के अधर प्रियतम के अधर के साथ जोड़ देती हैं, प्रियतम के कर-कमल प्रियतम के उरोजों (हृत्पद्म) पर स्थापित कर देती हैं। श्रीमाधवालिंगित वृषभानुकिशोरी वैसा ही शोभा पाती हैं; जैसे श्यामल-तरुण तमाल से आलिङ्गित स्वर्ण-लता। उनके स्वर्णोपम श्रीअङ्ग और नव यौवन श्याम-संस्पर्श से सफल हो जाते हैं।

४. रतिरूप श्यामाश्याम की रतिमती नवेली सहेली 'सखियाँ'

सखियाँ कौन हैं ? मानो श्रीराधा-माधव की छाया हैं। दोनों नेत्रों में जैसे एक ही दृष्टि हो; वैसी हैं। दिन और रात की सन्निधि में मानो सन्ध्या-सी भोक्ता-भोग्य-प्रेयसी-प्रियतम की सन्धि में सखियाँ हैं। वे प्रेरक प्रेम की प्रतिकृति हैं। रति रूप श्यामा-श्याम की रतिमती नवेली-सहेली हैं। युगल का प्रेम-बन्धन ही उनका प्रेमालम्बन है। किसी रसिक ने ठीक ही कहा है—

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तदं ब्रह्म क्रीडामृगी कृतम्॥

"अहो, आश्चर्य है ? आश्चर्य है ? मैं तो उस प्रेम-बन्धन की ही वन्दना करता हूँ, जिससे बँधकर मुक्तिदाता नित्यमुक्त ब्रह्म क्रीडामृग (खिलौना) बना दिया गया।"

राधा-माधव के उपभोग्य प्रेम में अप्राकृत काम रूप नियम भी होते हैं, परन्तु सखियों की प्रीति केवल प्रेम-संसर्गिणी होती है। उसमें लेशमात्र भी नियम का संस्पर्श नहीं है। काम-संस्पर्श शून्य शुद्धप्रेममयी सखियाँ श्रीराधा-माधव की प्रीति की अपेक्षा भी विशिष्ट हैं।

जैसे स्वल्प भी (थोड़ी-सी) स्वर्ण-कणिका अवलोकन कर स्वर्णमय सुमेरु का अनुमान करना शक्य हो जाता है, वैसे ही रसिक महानुभावों के द्वारा वर्णित सौन्दर्य का अध्ययन (अनुशीलन) करके श्रीराधारानी के सहज-सौन्दर्य का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव हो जाता है। जितनी भी अनवद्य-अनिन्द्य द्युतियाँ हैं और कमनीय कान्तियाँ हैं, वे सब श्रीकीर्तिकुमारी के अङ्ग-प्रत्यङ्गों से समुच्छलित दिव्य कान्ति का दर्शन कर विलज्जित हो जाती हैं। सौन्दर्य-माधुर्यादि साकार-रूप धारण करके हाथ जोड़े हुए श्रीजी की सेवा में समुपस्थित रहती हैं। दिव्यातिदिव्य गुण और कलाएँ अपने हाथों में व्यञ्जन चमरादि लेकर उनकी सेवा करते हैं। उन्हें निरखकर चातुर्य भी आश्चर्य चकित हो जाता है। चापल्य (चपलता) पंगु हो जाता है। मृदुता उनके पादारविन्द का स्पर्श तक करने में संकोच करती है। उनके पद-नख-मणिप्रकाश के सम्मुख भानुमण्डली भी फीकी पड़ जाती है।

श्रीराधा-माधव अभिन्न हैं। दोनों ही प्रेम के विषय और विषयी (आश्रय) हैं। दोनों ही भोग्य और भोक्ता हैं। दोनों ही शुद्ध प्रेम और शुद्ध सौन्दर्य हैं। दोनों भेदगन्ध से सर्वथा शून्य हैं। इतना होने पर भी रसिक महानुभाव भेद की कल्पना करके 'मेरी सेव्या स्वामिनी श्रीराधा ही हैं' ऐसा कहते हैं—

प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयं शृंगारलीलाकला-
वैचित्री परमावधिर्भगवतः पूज्यैव कापीशता।
ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा
श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी राधैव सेव्या मम॥

(श्रीराधासुधानिधि ७८)

"शुद्ध मधुर और उज्ज्वल प्रेम की हृदयरूपा, शृङ्गार-रस की लीला-कलाओं की विचित्रता की चरम सीमा, भगवान् की कोई अनिर्वचनीय पूज्य ऐश्वर्यशक्ति, पार्वती, इन्द्राणी और महासुख स्वरूपा स्वतन्त्र पराशक्ति और श्री-वृन्दावननाथ की पट्टरानी श्रीराधारानी ही मेरी सेव्या हैं।"

अभेद में भी प्रधान भाव होता है, जैसा कि कहा है—

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वास्तु भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥
श्रीनाथे जानकीनाथेविभेदो नास्ति कश्चन।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः ॥

'जगदीश्वर जर्नादन और तरुणेन्दुशेखर शिव में भेद न होने पर भी भक्ति शिव में ही है', 'श्रीनाथ और जानकीनाथ में भेद न होने पर भी राम ही मेरे सर्वस्व हैं।'

गोपी कह रही है—'सखि ! मैं अपना मन लगाकर मोतियों की माला गूँथ रही थी। नन्दनन्दन ने मुझ पर एक कंकड़ी फेंकी और जब मैंने उधर देखा तब वे अपनी मन्द-मन्द मुसकान से मेरा मन हरके चले गये।'

अब तो उस गोपो को भोजन-पान की सुध भूल गयी। मन ही न रहा तो गोपी क्या करे ?

५. नित्य-निकुञ्ज में प्रवाहित विरह-संयोग तट-स्पर्शिनी प्रेममन्दाकिनी

सूक्ष्मतम, सर्वोत्कृष्ट प्रेम में विरह एवं संयोग भी सूक्ष्मतम ही होते हैं। यहाँ काल का व्यवधान असह्य होता है, इसलिये संयोग और विरह साथ-साथ होते हैं। यही कारण है कि दिव्य दम्पती प्रेमलीला में युगपत् ही विरह और संयोग का अनुभव करते हैं। विरह की व्याकुलता एवं अतृप्ति, संयोग की तृप्ति एवं उत्फुल्लता (उल्लास) की अनुभूति भी युगपत् ही होती है। प्रकट-लीला में क्रम से विरह और संयोग अनुभूत होते हैं; अतः उनके अविच्छेद का निर्वाह नहीं हो पाता; परन्तु नित्य निकुञ्जलीला में प्रेम-मन्दाकिनी विरह-संयोग रूप दोनों तटों को सर्वदा स्पर्श करती हुई प्रवाहित होती है। प्रेममहार्णव की तरङ्गमाला के समान अविच्छिन्न भाव से दोनों प्रकार की लीलायें प्रकाशित होती हैं। यथा—

गौरश्यामशरीरौ तौ चिदानन्दौ परात्परौ।
विजह्रतुर्निकुञ्जे हि सुखपुञ्जे सुखावहे ॥
मन्मथाहवसंरब्धौ विपुलानन्दवर्षिणौ।
भूषणारावसंघृष्टौ युयुधाते परस्परम् ॥
परस्पराङ्ग-सस्पर्श-कोटिभाव-समन्वितौ।
प्रेमाहव-परिश्रान्त-शिथिलायत-लोचना ॥
प्रेयसोऽङ्कसमाविष्टा सालसा-ऽऽतङ्कवर्जिता।
प्रियश्च लालनव्याजमुपाश्रित्य मुदा तदा ॥
नीविनाभिकुचान् स्प्रष्टुमातुरः प्रेमविह्वलः।
समालोक्याद्भुतं रूपं शिथिलो जातवेपथुः ॥
तं तथाभावमापन्नं सीदन्तं प्रेमसम्पदा।

धैर्यमुत्सृज्य मानिन्या प्रत्तं दिव्याधरामृतम् ।।
दिव्यं तन्मादकं स्वादु मधुरञ्चाऽमृतातिगम् ।
प्रियोऽप्यापीय सहसा भावाविष्टो बभूव ह ।।
प्रेयसीं परमां प्रीत्या दैन्यभावमुपागतः ।
उवाच माधवः स्निग्धां प्रिये शृणु परं वचः ।।
अद्भुतं भुजयोर्मध्यं रसालमधुरं मधु ।
मयाऽद्यैव हि संदृष्टं कृपया वितरामृतम् ।।

(भक्तिरसार्णव पृ० १९८, १९९)

"प्रिया-प्रियतम परात्पर चिदानन्दस्वरूप हैं। परम कमनीय गौर-श्याम उनका श्रीविग्रह है। सुखप्रदसुखपुञ्ज निकुञ्ज में सुखमय विहार कर रहे हैं। दिव्य काम कला का अभिव्यञ्जन है। विपुल आनन्द की वर्षा है। दिव्य भूषण ध्वनि है। परस्पर-अङ्ग संस्पर्श-प्रमोद-प्रवाह में परिश्रान्त हैं श्रीजी। अलसाये भाव से निर्भय प्रियतम के अङ्ग में समाविष्ट हो रही हैं। प्रियतम के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के लालन और संस्पर्श से प्रमुदित हो रहे हैं। प्रेम विह्वल अनुपम-छविपुञ्ज को स्फुरित कर रहे हैं। रूप-सौन्दर्य निरखकर अवगाहन लाभ कर शिथिल हो रहे हैं, कम्पयुक्त हो रहे हैं। प्रेम सम्पदा की वृद्धि से अवसाद लाभ कर रहे हैं। मानिनी द्वारा धैर्य छोड़कर दिव्य अधरामृत रूप औषध के पान से सहसा भावाविष्ट हो रहे हैं। प्रियतम ऐश्वर्य को भुलाकर परम प्रीति से प्रेयसी के प्रति दैन्य भाव को प्राप्त होते हैं। परम वचनामृत से उन्हें द्रवित करते हुए कहते हैं—'मैंने अभी-अभी इस रसाल-मधु का दर्शन किया है। प्यारीजी ? अमृतदान करो।'

ठीक ही तो है। मधुरातिमधुर वस्तु की उपलब्धि होने पर भी यदि तृप्त पिपासा और अतृप्त बुभुत्सा न हो तो माधुर्य-रस की अनुभूति नहीं होती। परम विप्रयोग की दशा में उत्कट बुभुक्षा और अतृप्त तृष्णा होने पर भी यदि वह वस्तु दूर-व्यवहित हो तब भी उसके माधुर्य की यथावत् अनुभूति नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार, प्रेयसी-प्रियतम की नित्य मिलन-दशा और नित्य वियोग दशा में भी आनन्द की पूर्ण यथावत् अनुभूति नहीं होती। इसका तात्पर्य यह है कि नित्य मिलन-दशा में भी जब उत्कट-पिपासा और अतृप्त-तृष्णा रहती है, तभी इस शुद्ध रस की अनुभूति होती है।

जो वियोग-दशा में (विप्रलम्भ में) प्राण-परित्याग कर देता है, वह प्रेम-व्यथा अनुभव नहीं कर पाता है। जो प्रिय वियोग की स्थिति में भी शरीर की रक्षा करके विरह-वेदना को सहन करता है, वह मानो अपने सिर (शिर) पर विषम अग्नि-ज्वाला का स्थापन करके भी जीवित है। वस्तुतः उसी दशा में विरह-प्रेम-पीड़ा का अनुभव होना संभव है। प्राण-परित्याग कर देने पर तो प्रियतम के सम्मुख प्रेम को मर्म पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। जो प्रेम-पीड़ा को

जानता है, वही वज्रतनु होकर वियोग-दुःख को सहन करने में समर्थ है। जो विप्रलम्भ होने पर मर जाता है, यह निश्चय है कि वह मर्म भेदिनी पीड़ा से अनभिज्ञ है।

किन्हीं-किन्हीं महानुभाव का तो यह कहना है—

कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहः सति विरहे को जीवति ॥

"निष्कपट प्रेम एक तो मनुष्य लोक में सम्भव ही नहीं है, कदाचित् हो जाय तो विरह ही सम्भव नहीं। कदाचित् विरह हो जाय तो जीवन की ही सम्भावना नहीं।"

परन्तु इस दिव्य-दम्पती के नित्य-मिलन में भी विप्रलम्भ के समान मर्म भेदिनी अतिशय उत्कण्ठा है। वही इनके प्रेम का प्राण है। अभिप्राय यह कि मिलन दशा में भी अतृप्त-तृष्णा और उत्कट-बुभुक्षा क्षीण नहीं होती। महाप्रेमार्णव में नितान्त अवगाहन करने पर भी क्षण-क्षण नित्य-नूतनता तथा अतृप्त तृष्णा बढ़ती ही रहती है। यही कारण है कि संयोग-दशा में भी 'यह प्रियतम ही हैं' ऐसा विश्वास नहीं होता। यद्यपि प्रियतम के मुखचन्द्र-मधु का पान अतृप्त और निर्निमेष नयनों से करती रहती हैं, हृदय के निभृततम प्रदेश में लाकर दुर्लभ-निधि की तरह सुरक्षित रखती हैं; तथापि विरह-विकलमति विश्वास नहीं करती है। निर्निमेष निहारती हुई भी विरह की कल्पना से भीत, चकित-सी हो जाती हैं। वे स्वप्न या जागरण में भी विश्वास नहीं कर पातीं कि मैं वस्तुतः अपने प्राण-प्रेष्ठ को निहार रही हूँ। कहा भी है—

आभीरेन्द्रसुते स्फुरत्यपि पुरस्तीव्रानुरागोत्थया
विश्लेषज्वरसम्पदा विवशधीरत्यन्तमुद्घूर्णिता।
कान्तं मे सखि दर्शयेति दशनैरुद्गूर्ण-शस्याङ्कुरा
राधा हन्त तथा व्यचेष्टत यतः कृष्णोऽप्यभूद्विस्मृतः ॥

(भक्तिरसार्णवः पृ० १९९)

'मिलन दशा में भी तीव्रानुरागजन्य विरह-व्यथा की विवशता है। 'हे सखि! मुझे कान्त (प्राण प्यारे) का दर्शन करादो' दाँतों में तिनका दबाकर ऐसी याचना करती हैं। सच है श्रीराधा की इस प्रकार की चेष्टा का अवलोकन कर श्रीकृष्ण भी चकित-विस्मित हो जाते हैं। यह क्या है? प्रेम का एक अद्भुत उत्कृष्ट विलास।"

सखियाँ तत्सुखसुखित्व की अभिलाषा से पूर्ण हैं, स्वसुख वासनाशून्य हैं। युगल के सुख में ही सुखी रहकर सदा ही सेवा में संलग्न रहती हैं। वे अगाध भाव पूर्ण रहती हैं। युगल के चारों ओर घूमती हैं, चारों ओर दृष्टि रखती हैं।

नित्य-नूतन शृङ्गार रचना करती हैं। उसमें उपयोगी उपकरणों को चुनती हैं, सजाती हैं। बिना विश्राम के नित्य परिश्रम में संलग्न रहने पर भी श्रान्त नहीं होतीं। वे त्रैलोक्य सुखसार को भी तृण समझकर अतृप्त दृष्टि से दिव्य दम्पती को ही देखती हैं। उन्हें और कहीं किसी वस्तु में स्वाद नहीं आता। वे माधुर्यभाव से लाड़लीलाल को लाड़ लड़ा-लड़ाकर मित्रवत्, पुत्रवत्, पतिवत् और आत्मवत् सेवा करती हैं।

उन्मद प्रेम विलास में सारी रात बीत गयी। अभी-अभी श्रीराधा-माधव शयन कुञ्ज में कोमल-कोमल नूतन पल्लव शय्या पर सोये हैं। सखियाँ कहती हैं—ललिताजी ! जगा दो; परन्तु ललिता आदि अन्तरङ्ग सखियाँ वात्सल्य-भाव से परिपूर्ण हैं और जगाने के समय भी जगाने में देर कर देती हैं। कोई-कोई सखी अरुणोदय देखकर युगल छवि की शृङ्गार-लीला, प्रभु से आविष्ट सौन्दर्य-सार-सर्वस्व तथा स्मित-सुधा-समुद्र में डुबकी लगाने के लिये उन्हें जगाने की इच्छा करती हैं; परन्तु अन्तरङ्ग सखियाँ वारण करती हैं—'अरी सखियो ! सुकुमारतम प्रेष्ठ (प्रेयसी-प्रियतम) अभी-अभी तो शयन-कुञ्ज में प्रविष्ट हुए हैं। अभी इन्हें जगाना उचित नहीं। ठहरो, अभी जगाने की आवश्यकता नहीं। शीतल मन्द सुगन्ध वायु चले। यमुना शान्त प्रवाह से बहे। सुनो'—

कमलान्यविकाशीनि तारकाश्च सुभास्वराः।
यावदुन्निद्रितौ स्यातां तावद्भातु विभावरी ।।

'अरे, ओ, कमलो ! तुम मुकुलित रहो, खिलोमत। जब तक रसिक शिरोमणि दम्पती जग न जाँय, तब तक तारे चमकते रहें, रात बनी रहे। अरे, ओ, प्रभात ! तेरे पाँव की आहट उनकी नींद न तोड़ दे।'

वृन्दाविपिन छविसार-सरोवर है। हंस-शावक तुल्य गौर श्याम दिव्य दम्पती उसमें क्रीडा कर-करके दिव्य परमानन्द का आस्वादन करते हैं। सखियाँ नेत्राञ्जलि में भर-भर कर लीलामृत का पान करती हैं। वे कभी वात्सल्यभाव से और कभी वात्सल्य मिश्रित उज्ज्वल रस से सेवा करती हैं। अपना मन युगल-किशोर को देखकर और उनका मन ग्रहण करके वे सौन्दर्यामृत के रसास्वादन में निमग्न रहती हैं। वे सम्भ्रमशून्य (निःसङ्कोच) सख्य के द्वारा मान छोड़ने के लिये प्रेरणा देती हैं। जब श्रीराधारानी मानकर बैठती हैं तब सखियाँ अपने प्रेम-चातुर्य से भरे वचनों के द्वारा माधव के रूप में सौन्दर्य और परम प्रेम का वर्णन करती हैं तथा 'अब शीघ्र ही प्रातःकाल होने वाला है' ऐसा समझाती हैं। सुमुखी राधा मान का परित्याग करके प्रियतम का आलिंगन करती हैं और सुखसिन्धु में क्रीडा करती हैं।

श्रीराधा-माधव युगलप्रेम-माधुर्य ही सखियों के प्रेम का आलम्बन है।

उनका प्रेमभाव उज्ज्वलरस (शृङ्गाररस) से परिप्लुत (भरपूर) है; क्योंकि युगल की परस्पर-रति ही उसका स्वरूप है; यही कारण है कि सखी भाव से ही उसका आस्वादन होता है। श्यामा-श्याम के सुख-सौभाग्य से ही सखियाँ सौभाग्यवती हैं। दोनों (प्रिया-प्रियतम) का सुरङ्ग-अनुराग ही सखियों का सौभाग्य सिन्दूर है। उनके प्राणधन हैं। उनकी कृपा ही सखियों का सुखसाधन है। श्यामाश्याम भी उनकी रुचि का अनुसरण करके उनके अनुकूल विहार करते हैं। वृन्दावनचन्द्र ही उनके जीवन हैं।

६. रसामृतमूर्ति माधव के सर्वस्व ह्लादिनीसार सर्वस्व श्यामा

माधव का चञ्चल मन-मिलिन्द प्रेयसी के कुच-कमल-कुड्मल (कली) पर आसक्त हो गया है। प्रेयसी के अतिशय सौकुमार्य को देखकर म्रदिमा (मृदुलता) की अधिष्ठात्री (स्वामिनी) महालक्ष्मी भी अपने परम कोमल कर-कमलों से स्पर्श करने में संकोच करती हैं। दृष्टि द्वारा स्पर्श करने में भी भार की आशङ्का करके देखने में भी संकुचित होती हैं। सिर पर सिन्दूर-संस्कृत मांग के सुहाग को दिव्य पुष्प सानुराग छत्र बनकर शोभान्वित करता है। कभी न मुरझाने वाली कमलमाला और दिव्य हीरों की लड़ियाँ अपनी भाँति-भाँति की मणियों की चमक से रूप सरोवर में अनङ्ग तरङ्ग के समान झलकती हैं। गम्भीर नाभि के चारों ओर रोमावलि ऐसी शोभा बिखेरती है मानो, सरोज में शृङ्गार-रेखा। भौंहों के मध्य में कुंकुम-बिन्दु क्या है मानो शृङ्गार-भवन में अनुराग। सुरंग सौभाग्य-चूनरी प्राण-प्रिय के अनुराग के समान जगमगाती है। समीप ही पूर्णानुरागमयी कालिन्दी-धारा प्रवाहित हो रही है। यह मानो, रसराज शृङ्गार का प्रवाह हो अथवा द्रवीभूत आनन्द हो। तरुलताओं पर रंग बिरंगे पक्षी मधुरातिमधुर कलरव कर रहे हैं मानो, राग-रागिनियाँ साकार होकर गति, ताल, स्वर, मूर्च्छना एवं तान-तरंगों से दिव्य संगीत गा रही हों।

स्वयं सुषमा जिनकी सेवा करती रहती है उसके माधुर्यातिशय का कौन वर्णन कर सकेगा? वे अवश्य ही शृङ्गार रस की सार सर्वस्व हैं। गुण और कलाओं की अधिष्ठातृ,शक्तियाँ चामर-व्यञ्जन धारण करके परिचर्या करती हैं। उनकी गौर कान्ति की सेवा द्युतियाँ करती हैं। रतियाँ निछावर करती रहती हैं। उज्ज्वलता निकुञ्ज का परिमार्जन करती है। स्वच्छता शय्या रचती है। उन्हें देखकर चतुरता लजा जाती है। उनकी राग-रागिनी सुनकर रागिनी अनुरागिनी हो जाती हैं। पादारविन्द की मृदुता स्पर्शक्षम नहीं है। वह नयनों की पूतरी से भी अधिक सुकुमारी और अपने हृदयसर्वस्व की प्राण प्यारी हैं। निखिल रसामृत-मूर्ति माधव भी उनके दर्शन से परमानन्द मग्न हो जाते हैं।

माधुरी-कुञ्ज में अत्यन्त गाढ़ एवं गूढ़ प्रेम-मोह की शय्या पर सौन्दर्य

और आनन्द के निधान शृङ्गार-कला में प्रवीण लोकोत्तर दिव्य-दम्पती विराज मान होते हैं। आभूषण का इतना ही उपयोग है कि वे दोनों के अंग-उपांग की विशिष्ट शोभा को ढककर रस-विशेष को अभिव्यक्त करें, उदाहरणार्थ, नासिका के दर्शनमात्र से ही प्रियतम विह्वल हो जाते हैं। अतएव नासिका को गुप्त रखने के लिये बुलांक पहनी जाती है। प्रत्यंग में छलकती हुई उज्ज्वलामृतमयी लावण्यछटा एवं मुसकान से युक्त चितवन को निहार-निहार कर क्षण-क्षण में मोहित होते रहते हैं माधव। यही कारण है कि छवि-छटा को ढकने के लिये विविध भूषण धारण किये जाते हैं।

श्रमजल-बिन्दु मानो छवि के मोती हैं। सुख-महाम्भोधि के लोल कल्लोल के समान हैं—रतिरंग। परमानन्द के मानस-सरोवर में छविमय हंस के समान रसवर्षी हैं—प्रियतम के कपोल और नयन। प्रियाजी चुम्बनालिंगन अधरामृतदान आदि केद्वारा मदन-तमाल-श्याम को रस-सिक्त कर देती हैं। इसी से सुरत-रस का अगाध सुधा-सिन्धु उद्वेलित होकर निर्मर्याद वृद्धिगत होता है। दिव्यदम्पती द्वीपट का परित्याग करके उसी में निमग्न हो जाते हैं। इस दशा में भी प्रेम-महा-मेघ अविश्रान्त रस विनोद को वर्षा करता रहता है। स्नेहधारा सभी सेतुओं को विदीर्ण कर देती है उदीर्ण होकर। यह आप्लावन दोनों को और-और सुख देता है। मृदुल कनक-लता और तरुतमाल के समान दोनों के अंगोपांग परस्पर संसक्त हैं। प्रेम के घृत से नयन दीप को भरकर हित के हाथों से प्रिय का नीराजन होता है।

ध्यान करने की ऐसी ही विधि है—परम सुन्दर वृन्दावन। लता-द्रुम-संकुल। चित्र-विचित्र झुण्ड के झुण्ड पक्षी। उनके द्वारा दिशायें मुखरित। राधा-लिंगित माधव। माधवालिंगित राधा। सखियों के व्यूह, जिनकी जीवन-धन, सुख-सर्वस्व हैं युगल की संगम-लीलाएँ। दिव्य-दम्पती परस्पर दर्शन, स्पर्श, आघ्राण और रसास्वादन में तत्पर। अन्य व्यवहार से विनिर्मुक्त। मन से ऐसी ही नित्य स्वारसिक लीला का स्मरण करना चाहिए। साथ ही, शय्यारोहण से पूर्व की और अवरोहण से पश्चात् की भी।

७. भावरस की परिपक्वता से रसात्मकता

ध्यानपरायण रसलोभी भावनामयी सेवा में वन-विहार, जलकेलि, कन्दुकक्रीडा, दानलीला रासलीला आदि का स्मरण करें। युग्म तत्त्व के सौन्दर्यामृत का एक बिन्दु पीने को मिल जाय तो जगत का तृण के समान त्याग हो जाता है। जो लाड़ली-लाड़ले के लावण्यपीयूष से मतवाला हो जाता है, उसको देह की सुध नहीं रहती। भावना रस की सिद्धि से भाव्यमान निखिल पदार्थ का साक्षात्कार हो जाता है। वस्तुतः भावसिद्ध इन्द्रियों और अन्तःकरण से ही श्यामा-

श्याम के सौन्दर्य का दर्शन होता है। वचनामृत सुनता है। सौरभ सूँघता है। रसमयी सेवा करता है। वह संसार की ओर न देखकर प्रेमोल्लासमयी लीला-परम्परा का ही अनुभव करता है; परन्तु प्रेम पथ में प्रवेश पाना अत्यन्त दुर्लभ है। जो अपने देह, इन्द्रिय एवं मन को स्नेह आदि के ताप से क्वाथ बनाकर शम से संशमन करके विवेक की चलनी से छान लेता है, वही उसमें प्रवेश के योग्य होता है।

नित्य विहार की भावना से परमानन्दोल्लास में प्रवेश होता है। तब हृदय की ग्रन्थियाँ और संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। सभी क्रिया लोक बाध्य हो जाती है। शरीर पुलकित, नयनों में आनन्द के आँसू। कभी कहीं जाता है, रोता है, हंसता है। अपने नेत्रों से रसात्मक श्यामाश्याम को ऐसे देखता है मानो, पी जायगा। अभय यश का मान करता है। नेत्राञ्जलियों में भर-भरकर रहस्य-लीलारस का पान करता है। नामामृत के पान से पूर्णतम पुरुषोत्तम की अभि-व्यक्ति और अभिव्यक्त की स्थिरता सम्पन्न होती है। नाम-रूप रहित भगवान् के साथ नाम-रूप के द्वारा ही प्रगाढ़ स्नेहानुबन्ध सिद्ध होता है। प्रेम की प्रखरता के साथ ही साथ नाम-रूप का गौरव बढ़ता है। नित्य प्रेममय होने के कारण भग-वान् के नाम-रूप ही उनके प्रेम के आधार हैं। अविरत नामजप, कीर्तन के प्रभाव से इन्द्रियाँ और मन नाममय ही हो जाते हैं। समस्त विषयों की स्फुरणा शान्त हो जाती है। बाहर-भीतर नाम ही स्फुरित होता है। इस दशा में पहुँचकर हृदय नाम की एकता हो जाती है। उसी समय नामका माहात्म्य व्यक्त होता है। वस्तुतः तभी धाम, धामी आदि भी प्रगट होते हैं।

जब नाम श्वास के साथ एक हो जाता है तब देह, इन्द्रिय और मन में भी नाम का तादात्म्य हो जाता है। वैखरी वाणी में नाम का अभ्यास करने से मध्यमा, पश्यन्ती और परा—सभी वाणियों में नाम की व्याप्ति हो जाती है। अब अपने शरीर में ही धाम-धामी आदि का प्रादुर्भाव होता है। नामका प्रेमी नाम के ही प्रभाव से स्वयं प्रेमरूप होकर प्रेम-सौन्दर्यमय दिव्य-दम्पती की सेवा करता है। वह स्वयं ही वृन्दावन की मृदुलभूमि बनकर श्यामाश्याम के पादार-विन्द द्वन्द्व का चुम्बन करता है। कालिन्दी होकर दोनों के ललित-ललित अङ्गों का स्पर्श करता है। स्नान कराता है, शीतल करता है और सुख देता है। वह जल-स्थल के मनोरम कुसुम बनकर सौन्दर्य को परिपुष्ट करता है। स्वयं शीतल सुरभि गन्ध होकर आमोदित करता है। वस्त्र बनकर प्रत्यङ्ग का संश्लेष करता है। वायु के रूप में उन्हें लहराता है। प्रेम की प्रबलता उसे प्रफुल्लित लता-वल्लरी बना देती है और वह कुञ्जों को पुष्प-पुञ्ज से आवेष्टित करता है।

वह प्रेमी रसिक पुष्पों की ललित शय्या बनकर दम्पती के लिए रस क्रीडा का विस्तृत आधार बन जाता है। उसीपर रसोद्रिक्त प्रियतम क्रीडा करते हैं। वह

स्वयं प्रेमरसात्मक होकर उनका तन, मन, प्राण एवं आत्मा हो जाता है। काम-कला, लावण्य, रस और रसोद्रेक भी वही है। प्रणय-कोप, टेढ़ी भौंहें, माधुर्य, मुस्कान—सब उसी के स्वरूप हैं। नीवीमोचन, कलह, उन्मुक्त-क्रीडा, क्षण-क्षण की विवशता, क्षण क्षण की चेतनता वही है। प्यास भी वही और पानीय भी। परस्पर की प्रेम-मन्त्रणा, श्रम-जलकण, पोंछना और पंखा झलना, वायुस्पर्श, नख-क्षत, अधर दंशन, चुम्बन, आलिंगन, भुजपाश-बन्धन, कुसुमावलिस्खलन, केशों के द्वारा कपोल-संवरण—यह सब रसिक का ही आत्म-स्वरूप है, जो अपने आपको तत्तत् लीलोपयोगी रूप में ढाल-ढालकर रस की वृद्धि-समृद्धि करता रहता है।

सखियाँ आत्मभाव से ही उनकी सेवा करती हैं, क्योंकि आत्मा ही सर्वातिशायी प्रेम का आस्पद है। श्यामाश्याम ही सखियों के आत्मा हैं। यह प्रेम का प्रखर प्रताप ही है कि प्रियतम में किंचित् भी भेद नहीं है। जहाँ आत्मा का सम्पूर्ण सुख है, वहीं राधामाधव का आनन्द है। जहाँ उनका आनन्द है, वहीं सखियों का आनन्द है। युगल का अनुराग ही सखियों के सीमन्त का सिन्दूर है। वहाँ अपने पराये का भेद नहीं है। इस अभेद में तत्सुख स्वसुख हो जाता है।

प्रेम-विह्वल आनन्द में निमग्न। शिथिल पाद-विन्यास। वृन्दावन-बिहारी की यह रूप-माधुरी ही सखियों के हृदय का आभूषण है। श्यामाश्याम का सुख ही उनका सुख है। सखियों का युगल के साथ स्वाभाविक ऐक्य है। वे श्याम-सुन्दर के मन के साथ अपने मन को एक करके श्रीराधारानी की चरण माधुरी का अनुभव करती हैं। साथ ही, स्वामिनी के मन के साथ अपना मन एक करके प्रीति-परवश प्रेयान् का लाड़ लड़ाती हैं। दोनों के मन से अपना अपना मन मिला-कर उनकी परस्पर प्रीति का का अनुभव करती हैं। दोनों की आसक्ति ही सखियों के रूप में है। अतः सखियों के द्वारा उनकी परस्पर प्रीति का उपभोग स्वात्मोप-भोग ही है। यह सम्प्रदायविद् आचार्यों का मत है।

सच पूछो तो, सखियों का अनुपम प्रेम ही राधा-माधव युग्मतत्त्व के रूप से उनके मन और नयनको संतृप्त करता है। जहाँ तृष्णा (प्यास) ही तृप्ति और तृप्तिही तृष्णा हो, विरहही संयोग हो और संयोग ही विरह हो, जहाँ विरह संयोग की एकता हो' जहाँ प्रेयसी प्रियतम हो और प्रियतम प्रेयसी हो, जहाँ श्यामाश्याम के हृदय-निकुञ्ज में श्यामाश्याम की केलिकल्लोल हो, उसी वृन्दावन में ऐसा अद्भुत 'प्रेम-वैचित्र्य' है। वहाँ श्यामचन्द्र की छिटकती हुई चाँदनी की छटा के प्रभाव से सारे व्रज का हृदय ही श्याम रूप हो जाता है, वहीं गौरज्योति श्री-स्वामिनी की अनोखी झाँकी की झलक से सबका हृदय ज्यो तर्मय राधारूप हो जाता है। जैसे कसौटी पर खींची रेखा से स्वर्ण के श्रेष्ठ वर्ण का विज्ञान होता है, वैसे ही रूपवान् के हृदय में खिची रूपरेखा से रूपसौन्दर्य की अतिशय श्रेष्ठता सिद्ध होती है। जिस उद्यान के समीप क्षण भर ठिठक जाती हैं श्रीवृषभानुनन्दिनी, उस उद्यान की वृक्षावलि, पत्र, पुष्प, फल सब पीत वर्ण के हो जाते हैं। समग्र

विश्व को स्वर्ण-वर्ण बनाने वाली यह देवी कौन है ? जो तरु-लताओं को भी नेत्र और अनुभूति दे देती है। सच है, लोकोत्तर रमणीय रूप को देखकर देखने वाले भी रूपवान् और रमणीय हो जाते हैं।

"अद्भुतानंदलोभश्चेन्नाम्ना रससुधानिधिः।
स्तवोयं कर्णकलशैर्गृहीत्वा पीयतां बुधाः।"
(राधासुधानिधि २७०)

"हे बुधजन ! यदि आपके चित्त में विचित्र अनुपम आनन्द का लोभ है तो इस (राधा) रससुधानिधि नामक स्तव को कर्ण कलशों द्वारा ग्रहण (श्रवण) करके पान कीजिये।"

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम ।।

धर्म की जय हो ! अधर्म का नाश हो ! प्राणियों में सद्भावना हो !
विश्व का कल्याण हो ! गोहत्या बन्द हो ! गोमाता की जय हो !
हर–महादेव

पूज्यपाद
स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज
के अन्य ग्रन्थ

पुस्तक का नाम	कीमत
१. वेदार्थ पारिजात (दो खण्डों में)	९०० रु०
२. शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय—संहिता (प्रथम से चालीस अध्याय)	७४५ रु०
३. रामायण मीमांसा	३२० रु०
४. भक्ति सुधा	२२० रु०
५. भागवत सुधा	९० रु०
६. श्रीराधा सुधा	९० रु०

प्राप्ति स्थान :

राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान

धर्मसंघ संस्कृत विद्यालय, रमणरेती, वृन्दावन-२८११२१

दूरभाष : ०५६५-२५४००२८

०५६५-२५४०२७८